मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल

बम्बई विश्वविद्यालय की पी०-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

डॉ० पारसनाथ मिश्र

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१
●
प्रथम संस्करण
१९७२
●
मुद्रक
लेखनी प्रेस
मोहिलेनगर; इलाहाबाद-६

मूल्य : रु० २०.००

आमुख

यशपाल हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकारों में से हैं। युग के सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत करने वालों में उनका स्थान अप्रतिम है। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि वे मार्क्सवादी कलाकार हैं और उनकी कृतियों में मार्क्स-वादी सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिफलन हुआ है। पर हिन्दी के कुछ मान्य प्रगतिशील समीक्षकों (डॉ० रामविलास शर्मा आदि) के अनुसार यशपाल के मार्क्सवादी होते हुए भी उनके उपन्यास, मार्क्सवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से इतिहास की व्याख्या में सफल नही हैं। प्रायः उनकी 'बायोलाजी' उनके दर्शन पर हावी हो जाती है, और वे मार्क्स की अपेक्षा फ्रायड के अधिक निकट पहुँच जाते हैं। हिन्दी का अध्येता अभी तक यशपाल के साहित्य की 'पूर्ण' मार्क्सवादी व्याख्या करता रहा है, जो वस्तुतः उसके अन्वेषण का नही, स्वीकृतियों का परिणाम है। अतएव, यह एक विचारणीय समस्या है कि मार्क्सवादी जीवन-सिद्धान्त और काव्य-मूल्यों का निर्वाह यशपाल की कृतियों मे कहाँ तक हो सका है।

विचारधारा की दृष्टि से यशपाल एक प्रतिबद्ध कलाकार हैं। दर्शन के प्रति इस समर्पण ने उनके साहित्यिक सर्जन को जहाँ एक सुनिश्चित दिशा और वैचारिक भूमिका दी है, वही कुछ मजबूरियाँ भी। वह उनकी शक्ति और सीमा दोनो हैं। इस प्रतिबद्धता ने साहित्यिक सृजन की प्रक्रिया और कला के युगीन और शाश्वत मूल्यों से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठा दिये हैं जिनका विवेचन यशपाल जैसे कलाकार के संदर्भ में ही किया जा सकता है।

यशपाल के उपन्यासों का विवेचन प्रायः उपन्यास-कला के परम्परागत शास्त्र के आधार पर किया गया है, या श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मार्क्सवादी मूल्यो के अनुरूप उसमें से उदाहरण खोजकर यांत्रिक निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिये गये हैं। वस्तुतः पूर्व-निर्धारित निष्कर्षों के आधार पर उनके उपन्यासों की व्याख्या की गई है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके कथा-साहित्य का वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विश्लेषण हो और उसके आधार पर उनकी वैचारिक मान्यताओं और कलात्मक उपलब्धियों का मूल्यांकन हो।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध में यशपाल के उपन्यासों का इसी (उक्त) दृष्टि से अध्ययन किया गया है और यह अन्वेषण जिन निष्कर्षों पर सहज में पहुँचा देता है, उन्हे बिना पूर्वाग्रह के अविकल रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

'मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल' शीर्षक शोध-प्रवन्ध कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय मार्क्सवादी चिन्तन से सम्बद्ध है। मार्क्सवादी दर्शन की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए मार्क्सीय चिन्तन के लिए व्यवहृत विभिन्न अभिधानो मे से 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को स्वीकारा गया है, क्योंकि यही नाम सर्वाधिक व्यंजक और उपयुक्त प्रतीत हुआ। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नाम स्वीकार कर लेने के बाद उसका विशद् सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में इतिहास की आर्थिक और भौतिक व्याख्या की गई है।

दूसरे अध्याय का विषय मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्य है। भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से साहित्य के परम्परागत मूल्यों का विवेचन करते हुए मार्क्सवाद के कलागतमूल्यो पर यथोचित प्रकाश डाला गया है। इसी संदर्भ में मार्क्सवादी कला-मूल्यों के निकष पर कतिपय साहित्य-सम्वन्धी प्रश्नों को लेकर हमने उन्हें सम्यक् रूप से परखने का प्रयास किया है। अध्याय के अन्त में मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्यों की उपलब्धि और सीमाएँ अंकित की गई है।

शोध-प्रवन्ध के तीसरे अध्याय के अन्तर्गत कलाकार यशपाल के निर्माण मे योग देने वाली पृष्ठभूमि पर सर्वाङ्गीण दृष्टि से विचार किया गया है। सम्पूर्ण अध्याय चार उपखण्डो मे विभक्त है। यशपाल की जीवन-यात्रा और उनका व्यक्तित्व, कलाकार यशपाल को विरासत में प्राप्त उपन्यास-साहित्य की पूर्व-परम्परा, सम-सामयिक परिस्थितियाँ और परिवेश तथा यशपाल पर पडे अनेकविध प्रभाव क्रमशः एक-एक उपखण्ड में विस्तार से विवेचित और विश्लेपित हैं।

अध्याय चार में मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्यों के आधार पर यशपाल की औपन्यासिक कृतियों को कथा का मूल्यांकन किया गया है। कथा-सम्वन्धी यह विवेचन दो उपविभागों में विभक्त है। प्रथम उपविभाग में मार्क्सवादी दृष्टि से कथा के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। उपविभाग दो में यशपाल के प्रत्येक उपन्यास की कथा का मार्क्सीय दृष्टि से विश्लेपण करके निष्कर्ष दिया गया है।

पाँचवें अध्याय में यशपाल के औपन्यासिक पात्रों का चरित्रगत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण अध्याय छोटे-छोटे ग्यारह उपशीर्षकों में विभक्त है। 'व्यक्ति और व्यक्तित्व', 'व्यक्तित्व के आयाम', 'साहित्य में व्यक्तित्व की व्यंजना', 'व्यक्तित्व और मार्क्सवादी दृष्टिकोण', 'उपन्यास और व्यक्तित्व' तथा 'उपन्यास में चरित्र-चित्रण की आवश्यकता'—ये प्रथम छह उपशीर्षक हैं। सातवें उपशीर्षक में यशपाल के समस्त औपन्यासिक पात्रों को तीन वर्गों—प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी और सामान्य जन-जीवन के पात्र—में विभक्त कर प्रत्येक वर्ग से दो-दो प्रतिनिधि पात्रों को लेकर उनका चरित्र-चित्रण किया गया है। अन्त के चार उपशीर्षकों के अंतर्गत 'यशपाल की चरित्र-रचना की प्रेरणा और प्रयोजन', 'चरित्र के आयाम—अर्थ, सेक्स और सामाजिक रूढ़ियाँ', 'यशपाल के चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ' और 'निष्कर्ष—यशपाल का चरित्र-चित्रण मार्क्सीय या अमार्क्सीय'—इन विषयो को विवेचन का आधार बनाया गया है। चरित्र-चित्रण का आधार वैज्ञानिक दृष्टि है। पात्रों के आचरण और गतिविधियो का परीक्षण लेखक के ही शब्दो में बदले हुए जीवन-संदर्भों में किया गया है।

अध्याय छह में यशपाल के उपन्यासों का कथ्य (उद्देश्य) निरूपित किया गया है। आरम्भ में कालक्रमानुसार उनके एक-एक उपन्यास के कथ्य पर समीक्षात्मक ढंग से विस्तारपूर्वक विचार करते हुए यशपाल के जीवन-दर्शन सम्बन्धी मूलभूत प्रश्न और लेखक द्वारा दिये गये उनके समाधानो के औचित्य पर प्रकाश डाला गया है। अध्याय के अन्त मे हमने यशपाल के कलागत और साहित्य-मूल्यों का विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

सातवे अध्याय में यशपाल की भाषा की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आरम्भ में लेखक की औपन्यासिक भाषा के स्वरूप, शक्ति और सौदर्य पर प्रकाश डालते हुए उनकी भाषागत दुर्बलताओ की ओर पूर्ण तटस्थता के साथ इंगित किया गया है। इसके पश्चात् 'अभिव्यक्ति के माध्यम' के अन्तर्गत प्रमुख रूप से कथन, वर्णन-चित्रण, व्यंजना (व्यंग्य) आदि पर विचार किया गया है। अन्त में, भाषा के सम्बन्ध मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यशपाल की भाषागत उपलब्धियों, शक्ति और सीमाओं का अंकन किया गया है।

अंतिम अध्याय आठ में तुलनात्मक संदर्भ में यशपाल का मूल्यांकन किया गया है। सम्पूर्ण अध्याय तीन उपखण्डों मे विभाजित है। प्रथम उपखण्ड के

अन्तर्गत विश्व की तीन प्रमुख भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच और रूसी—के तीन-तीन प्रतिनिधि यथार्थवादी (प्रगतिशील) लेखकों की औपन्यासिक कला का विश्लेषण करते हुए उनके साथ यशपाल की तुलना की गई है। उपखण्ड दो में भारत के प्रगतिशील आन्दोलन का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करते हुए, उसके द्वारा यशपाल को प्राप्त वैचारिक दिशा पर दृक्पात किया गया है। प्रस्तुत अध्याय, साथ ही शोध-प्रबन्ध के अन्त में, हिन्दी उपन्यास की यथार्थवादी धारा का अद्यतन विकास-क्रम प्रस्तुत करते हुए यशपाल के समकालीन कतिपय प्रमुख प्रगतिशील लेखकों की औपन्यासिक कृतियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध श्रद्धेय गुरुवर डॉ० प्रभात के विद्वत्तापूर्ण मार्ग-दर्शन का परिणाम है। प्रबन्ध लिखते हुए जब-जब मैं डॉ० साहब के पास दिशा-निर्देश के लिए गया तो उनके अत्यन्त मौलिक और सुलझे हुए विचारों से विषय तो अपनी पूरी स्पष्टता के साथ हमारे सामने उभरा ही, कार्य करने की अदम्य प्रेरणा और बल का अनुभव भी होता रहा। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि शोध-कार्य मैं अब तक हाथ में न ले सका था, इसके मूल में दो प्रमुख कारण थे। एक तो, मैं पर्याप्त 'लेट' हो चुका था; दूसरे, कालेज का ऐसा दायित्वपूर्ण पद, जिस पर काम करते हुए जीवन सुविधा के साथ व्यतीत होता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में शोध-कार्य करने के लिए मेरे सामने कोई बड़ा आकर्षण नहीं था। आदरणीय डॉ० साहब ने सबसे पहले मेरे भीतर से आलस्यभाव दूर कर, मुझे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कार्य करने के लिए तैयार किया। कार्य प्रारम्भ हो गया तो बीच-बीच में अनेक अड़चनें और बाधाएँ आती रहीं, जिनके कारण अन्तर्मन कभी-कभी हार मान लेने की स्थिति तक पहुँच जाता। ऐसे अवसरों पर डॉ० साहब की उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से पुनः साहस बटोर कर कार्यरत हो जाता। इन सब उपकारों के प्रतिदान में उन्हें मात्र शाब्दिक धन्यवाद देकर मैं भार-मुक्त हो जाने की धृष्टता नहीं कर सकता।

शोध-प्रबन्ध लेखन के दौरान अपने विभागीय सहयोगी बन्धुवर प्रो० दयाराम पाण्डेय द्वारा प्राप्त सहयोग के मूल्य को मात्र शब्दों में धन्यवाद प्रकट कर आँक सकने में असमर्थ हूँ। अनेक अवसरों पर वैचारिक चर्चाओं में भाग लेकर उन्होंने मेरी मानसिक उलझनों को सुलझाने का यथा-शक्य प्रयास किया है। मैं भाई पाण्डेय का हृदय से आभारी हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने कुछ अन्य घनिष्ठ मित्रों एवं शुभेच्छुओं को स्मरण कर कृतज्ञता का अनुभव कर रहा हूँ। प्रो० रविनाथ सिंह, प्रो० त्रिभुवननाथ राय, प्रियवर श्री उपेन्द्रनाथ मिश्र और श्री शिवशंकर पाण्डेय वास्तव में मेरे लिए अपार प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। उनकी सतत उत्साह-भरी ललकार के विना कदाचित् यह दुस्तर कार्य कभी न पूरा हो पाता।

पारसनाथ मिश्र

१०, 'तपोवन',
मोगल गली,
शीतलादेवी टेम्पल रोड,
माहिम, बम्बई-१६

अध्याय चार :: कथा

अध्याय पाँच :: पात्र

विषयानुक्रमणिका

अध्याय चार :: कथा

अध्याय पांच :: पात्र

अध्याय छह :: उपन्यासों का कथ्य (उद्देश्य)

अध्याय एक : मार्क्सवादी चिन्तन

(१) मार्क्सवादी दर्शन : पृष्ठभूमि

अध्यात्मवाद पर भौतिकवाद की विजय-घोषणा करते हुए कल्पित ईश्वर के स्थान पर प्रत्यक्ष मानव को अध्ययन-मनन का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार करनेवाले उन्नीसवी शताब्दी के क्रान्तिकारी विचारक कार्ल मार्क्स ने जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, कालान्तर मे वे ही सिद्धान्त मार्क्सवाद की सज्ञा से अभिहित हुए। मार्क्स ने व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं—रोटी, कपडा, मकान—पर विचार करना अत्यावश्यक और उचित समझा। उस महान् यहूदी युवक ने कानून के अध्ययन से अलग होकर सामाजिक एव आर्थिक समस्याओ पर इतनी गहराई से विचार किया कि अन्ततः उसे वैज्ञानिक भौतिकवाद का प्रवर्तक बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

वैज्ञानिक भौतिकवाद

मार्क्स ने यदि एक ओर विज्ञान (कार्य-कारण शृखला) को अपने सिद्धातो का मूलाधार बनाया तो दूसरी ओर फेवरबाख की भौतिकवादी धारणा को मान्यता प्रदान की। मार्क्स की दृष्टि मे भाववादियो (हीगेलियन) का परम तत्व (Absolute) सत्य से बहुत दूर है। हीगल द्वारा प्रतिपादित विचार-तत्व प्रत्यक्ष अनुभवगम्य नही है। वह वैज्ञानिक नियमो पर भी खरा नही उतरता। मार्क्स ने भाववादी दर्शन का विरोध करते हुए उसे कल्पनामूलक सिद्ध किया तथा उसके स्थान पर वस्तुवादी दर्शन की स्थापना की। हीगल के अनुसार वस्तुजगत् का निर्माण विचार-तत्व की प्रेरणा से होता है। वह वस्तु-जगत् को विचार-तत्त्व का बाह्य घटनात्मक स्वरूप मानता है। परन्तु मार्क्स की दृष्टि मे परमतत्व नाम की कोई भी चीज नही है। भूत ही वस्तुतः हमारी चेतना, आत्मा एव विचारो का जनक है। जो कुछ भी इन्द्रियगोचर है, संसार मे जिसकी सत्ता प्रत्यक्ष है, भौतिक जगत् मे जो हमारे अध्ययन का विषय बन सकता है, वही भूत है, वही पदार्थ है।

'कैपिटल' के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना मे मार्क्स ने हीगल के भाव (idea) को भौतिक सृष्टि के अतिरिक्त और कुछ नही माना है—"वह भौतिक सृष्टि जो मनुष्य के मन के द्वारा प्रतिबिंबित होकर विचार-रूपो मे परिवर्तित हो जाती है।"[१] तात्पर्य यह कि भौतिक सृष्टि की छाया ही हमारे मानस-दर्पण मे विचारो के रूप मे अवतरित

---

१. लेनिन : कार्ल मार्क्स, पृ० २३

होती है। एंगल्स ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए बताया है कि विचार और चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज है। मानव स्वयं प्रकृति की सृष्टि है—उस प्रकृति की जो अपने-आप विकासमान है।[१] अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्क मे पैदा हुआ विचार अन्ततः प्रकृति से उत्पन्न हुआ पदार्थ होने के कारण प्रकृति के अनुकूल होगा।

मार्क्स ने भौतिक जगत् में हीगल की ही तरह एक गति (motion) का अनुभव किया था। भूत तत्व सदैव विकास की ओर बढ रहे हैं। इस विकासोन्मुख गति के मूल मे सदैव कार्य-कारण नियम कार्य करता रहता है। किन्तु मार्क्स का भौतिकवादी दृष्टिकोण यांत्रिक भौतिकवादियो के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। यांत्रिक भौतिकवादी कार्य-कारण के अतिरिक्त भूत जगत् मे और किसी भी प्रकार की प्रक्रिया की कल्पना ही नही कर सकते थे। ठीक इसके विपरीत मार्क्स हीगल का अनुकरण करता हुआ समग्र जगत् मे द्वन्द्वात्मक स्थिति को स्वीकार करता है। भौतिक जगत् ही नही, प्रकृति के कण-कण मे जो परिवर्तन दिखाई पडता है, समाज मे जिसे हम अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते है, उसके अभ्यन्तर मे यही द्वन्द्वात्मकता क्रियाशील रहती है। वैज्ञानिक नियमो मे क्रमवद्धता का सिद्धान्त सुनिश्चित रूप से दिखाई पड़ता है। मार्क्स के दर्शन मे भी पूर्ण क्रमवद्धता है। उसमे यह क्रमवद्धता इसलिए है क्योकि क्रातिकारी कार्यक्रम की आधार-पीठिका वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त है। वर्ग-सघर्ष की आधारशिला अतिरिक्त मूल्य का आर्थिक सिद्धान्त है। आर्थिक सिद्धान्त की आधार-भित्ति इतिहास की आर्थिक व्याख्या है जिसका आधार-स्तम्भ द्वन्द्वात्मक पद्धति है और यह द्वन्द्वात्मक वाद आधारित है भौतिकवादी अध्यात्म पर।[२] अतएव मार्क्सवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद की संज्ञा प्रदान की गयी है।

वैज्ञानिक भौतिकवादी होने के नाते मार्क्स संसार को छोडकर निभृत के किसी कोने

---

१. एंगल्स : ऐण्टी ड्यूरिंग, पृ० ११७

२. "The Marxian Philosophy is a coherent whole. It is massive because revolutionary action is built upon class-war theory; the class-war upon the economic theory of surplus value, this economic theory upon the economic interpretation of history, this interpretation upon the Marx-Hegelian logic or dialectics and this upon a materialistic metaphysics."

—George Catlin.

मे बैठकर निष्क्रिय मनन के पक्ष मे नही था। उसने अपने दर्शन के माध्यम से तथा अपने तर्कों के बल पर ही इस ससार को बदलने के लिए अपने समाजवादी दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। मानव-विश्वासों की भूमिका पर मार्क्सवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महापडित राहुल साकृत्यायन ने लिखा है—"वैज्ञानिक भौतिकवाद एक प्रकाश है जिसके पा जाने पर मूढ़ विश्वासो का परखना मुश्किल नही है।"[1] राहुल वैज्ञानिक भौतिकवाद को अति भौतिकवाद अर्थात् आध्यात्मिक और विज्ञानवादी उन धारणाओ से मुक्त मानते है जिनके बल पर लोगो ने उसे महा 'साइस' सिद्ध करने का प्रयास किया है और जो "प्राकृतिक जगत् को विकसित होते हुए स्वीकार करता है।"[2] चूंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त भौतिक तत्वो पर आधारित है, इसलिए उसे भौतिकवाद भी कहा गया है। "मारिस कार्नफोर्थ के शब्दो मे भौतिकवाद का अर्थ है ऐसा दृष्टिकोण जो भौतिक जगत् की हर वस्तु की, जिसमे मानव-जीवन की सभी घटनाएँ शामिल है, व्याख्या स्वय भौतिक तत्वो के आधार पर करता है।"[3]

साम्यवाद (कम्यूनिज़्म)

मार्क्सवाद को हिन्दी में साम्यवाद भी कहते हैं। साम्यवाद अग्रेजी के 'कम्यूनिज़्म' शब्द का अनुवाद है। 'कम्यूनिज़्म' शब्द लैटिन के 'कम्यूनिज' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। 'कम्यूनिज' शब्द सभवतः इस प्रकार विकसित हुआ होगा—कम्यूनिज़ (लैटिन)-कम्यून (फ्रेंच)-कामन कम्यूनिज्म (इग्लिश)। कोशकार अननडेल के अनुसार लैटिन कम्यूनिज शब्द की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। संभवतः इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ होगा—'कम्' (एक साथ) और 'म्यूनिज' (सेवा करने के लिए तत्पर) के मेल से। इस प्रकार कम्यूनिज़ का अर्थ होगा परस्पर सेवा करने के लिए तत्पर रहना।[4] यही कारण है कि फ्रास के तत्कालीन उन्नत नगर स्वशासन और राजनीतिक अधिकारो को प्राप्त करके अपने को कम्यून कहते थे। कदाचित् इसी कम्यून मे 'इज़्म' प्रत्यय को जोडकर कम्यूनिज्म शब्द का निर्माण किया गया और इस कम्यूनिज्म शब्द का प्रयोग मार्क्स और एगल्स ने 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो' मे अपने को कम्यूनिस्ट कहकर किया। कम्यूनिज्म की

---

१ राहुल : वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० १५१
२. वही, पृ० १४३
३. रामप्रसाद त्रिवेदी : प्रगतिवादी समीक्षा, पृ० १८
४. "............Common origin doubtful, perhaps com-together and munis-ready to be of service, obliging."

—English Dictionary; by Annandale.

परस्पर सेवा वाली ध्वनि ही कम्यूनिज्म के मूल मे काम करती रही। मार्क्सवादी सिद्धांतो और उनके अनुयायियों मे आज भी यह ध्वनि ज्यों-की-त्यों पाई जाती है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्सवाद को ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहा जाता है। वस्तुतः मार्क्स ने अपने वैज्ञानिक भौतिकवादी निष्कर्षो के माध्यम से इतिहास की एक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐतिहासिक विकास-क्रम में भी उसने उन्ही नियमों को क्रियाशील देखा, जो प्राकृतिक जगत् में विद्यमान रहकर प्रकृति को निरन्तर विकास की ओर उन्मुख रखते है। इतिहास अद्यतन समाज-विकास का लेखा प्रस्तुत करता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इतिहास के काल-विशेष मे जहाँ भी दो विरोधी तत्वो का समागम हुआ है, उनमे परस्पर संघर्ष हुआ है और वही पर नये समाज की परिकल्पना भी साकार हुई है। सामाजिक विकास-क्रम इस प्रकार इतिहास मे काम करनेवाले वैज्ञानिक (भौतिकवादी) नियमो के कारण निरन्तर प्रवहमान रहा है। मार्क्सवादी दर्शन की विशेषताओं से सम्पन्न होकर ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवाद का पर्यायवाची हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्सवाद हीगल के द्वद्ववाद और फेवरवारव के भौतिकवाद से प्रेरित होने के कारण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद भी कहा जाता है। मार्क्सवादी दर्शन की गहराई मे प्रवेश करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह द्वद्वात्मकता ही उसके सिद्धान्तो को ठोस वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने मे समर्थ हुई है। इस द्वद्ववाद को मार्क्स ने पदार्थ-जगत् से लेकर मानव-जगत् तक परिव्याप्त देखा। इसी के माध्यम से उसने अपने चरम-लक्ष्य—वर्ग-हीन समाज—की कल्पना प्रस्तुत की। वास्तव मे यदि मार्क्सवादी दर्शन से द्वद्वात्मक पद्धति को निकाल दिया जाय तो वह निष्प्राण, अचेतन शव की भाँति निष्प्रभ हो उठेगा। साराश यह कि मार्क्सवाद के विभिन्न नामो मे यदि द्वद्वात्मक भौतिकवाद को ही सर्वाधिक व्यजक कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। मार्क्सवाद को समझने के लिए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के स्वरूप एव उसके मूलभूत तत्वो को स्पष्ट कर लेना आवश्यक होगा।

(२) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद : सैद्धान्तिक विवेचन

सृष्टि के मूल स्वरूप का विश्लेषण दर्शन का लक्ष्य है। मानव क्या है? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है? यह जगत् क्या है? इसके मूल मे कौन-सी शक्ति काम कर रही है? मानव का जगत् से किस प्रकार का सम्बन्ध है? आदि आदि प्रश्नो के सुलझाने मे दार्शनिक दत्तचित्त रहे हैं। चरम सत्ता की खोज मे विचारको ने विविध मार्गों का अनुसरण किया है। उनके मार्ग-विशेष ही कालान्तर मे दर्शन के रूप मे स्वीकृत हुए है। भारतीय

दर्शन के चारों सम्प्रदाय—वैशेषिक, न्याय, सांख्य और मीमांसा—अपनी-अपनी पद्धति से सृष्टि के मूलभूत रहस्यो के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत करते है। वैशेषिक और न्याय दोनो मूलतः यथार्थवादी दर्शन है। वे सृष्टि के मूल मे परमाणु की सत्ता को स्वीकार करते हैं। साख्य द्वैतवादी दर्शन है, जिसमे पुरुष और प्रकृति की सत्ता चरम रूप मे स्वीकार की गयी है। पूर्व मीमांसा अद्वैतवादी दर्शन की पीठिका उपस्थित करता है, जिस पर उत्तर मीमांसा का अद्वैतवादी दर्शन खडा है। अद्वैतवाद ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को प्रतिपादित करता है तथा विश्व के मूल मे एकमात्र ब्रह्म की सत्ता मानता है। निश्चित रूप से सांख्य और मीमांसा भारतीय दर्शन की आदर्शवादी धाराएँ हैं। पश्चिम में सबसे पहले यूनानी विचारकों ने सृष्टि के उपादानो के सम्बन्ध मे चिन्तन आरभ किया। ईसा-पूर्व छठी-सातवी शताब्दी के आसपास आयोनियन दार्शनिक 'थेल' ने चरम सत्ता के विषय मे यथार्थ भौतिक दृष्टिकोण अपनाते हुए पानी को ही मूलभूत तत्व के रूप मे मान्यता दी। किन्तु प्लेटो और अरस्तू के वाद जो दार्शनिक विचारधारा पश्चिम मे प्रवाहित हुई और जिसकी चरम परिणति हीगल मे दिखाई देती है, वह भाववादी या आदर्शवादी है। दूसरी ओर वस्तुवादी दर्शन की जो परम्परा 'थेल' के समय से आरम्भ हुई थी, कार्ल मार्क्स मे आकर उसका प्रौढतम रूप दृष्टिगोचर होता है। जिस समय यूनान में 'थेल' और उसके अनुयायी विश्व के मूलभूत रहस्यो का अध्ययन भौतिक उपादानो को लक्ष्य में रखकर कर रहे थे, ठीक उसी समय हमारे यहाँ चार्वाक का घोर भौतिकवादी दर्शन भी अस्तित्व मे आ चुका था। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक भी स्थूल जगत् को लक्ष्य मे रखकर उसके रहस्यो की खोज कर रहे थे।

भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना रहा है, चार्वाक एव उसके अनुयायी भले ही जीवन और जगत् के भोग पर बल देते रहे। पश्चिम का भौतिकवादी दर्शन, जो मार्क्स के समय मे आकर समाजवादी दर्शन वन गया, उसका लक्ष्य भारतीय दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। वह जगत् के आन्तरिक रहस्यो का पता इसलिए लगाना चाहता है ताकि उसे समझकर वह ससार को परिवर्तित कर सके। वह जगत् की वर्तमान अवस्था का सुधार ईश्वर, प्रारब्ध या नियति पर नही छोडना चाहता। दार्शनिको ने जगत् को अनेक प्रकार से समझने की चेष्टा की है। प्रश्न यह है कि उसे परिवर्तित कैसे किया जाय ? मार्क्स ने इसी परिवर्तन को क्रियात्मक रूप देने के लिए द्वद्वात्मक भौतिकवाद को जन्म दिया।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक प्रणाली (Methodology) है, जो हमे उन आन्तरिक नियमो का ज्ञान कराती है, जिनके अनुसार इस भौतिक जगत् का विकास

होता है, इस भौतिक जगत् के रहनेवाले प्राणियो का विकास होता है और उनके विचारो में रूपान्तर होता है। द्वद्वात्मक भौतिकवाद दृश्य-जगत् की गति (मोशन) के नियमो की व्याख्या करता है।"[1] "यह द्वद्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है कि प्राकृतिक घटनाओ को देखने, परखने और पहचानने का इसका ढंग द्वन्द्वात्मक है तथा इन प्राकृतिक घटनाओ की इसकी व्याख्या, कल्पना और सिद्धान्त-विवेचन भौतिकवादी है।"[2] मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर हीगल का प्रभाव स्पष्ट है। मार्क्स ने स्वय इस तथ्य को स्वीकार किया है। किन्तु जैसा कि स्टालिन ने लिखा है, इसका यह अर्थ नही कि "मार्क्स और एगल्स के द्वन्द्ववाद का वही रूप है, जो हीगल के द्वन्द्ववाद का था। वास्तव मे मार्क्स और एगल्स ने हीगल के द्वन्द्व से वह सारतत्व ले लिया, जो बुद्धिसङ्गत था और फिर उसका इस तरह विकास किया कि उसे एक आधुनिक वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ।"[3]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे दो शब्द हैं—द्वन्द्वात्मक और भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक शब्द मार्क्सवाद की उस पद्धति-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसके सहारे, स्टालिन के शब्दो मे, प्राकृतिक घटनाओ को परखा जाता है। द्वन्द्वात्मक अग्रेजी के 'डायलेक्टिक्स' का अनुवाद है। यह डायलेक्टिक्स ग्रीक डायलीगो (dialigo) शब्द से उद्भूत है, जिसका अर्थ होता है विचार-विनियम अथवा वाद-विवाद। प्राचीन काल मे यूनान मे विरोधियो के तर्कों की असंगतियो की ओर सकेत कर तथा उन्हे दूर कर सत्य तक पहुँचने की कला को द्वन्द्वात्मक पद्धति कहते थे। दार्शनिको की यह धारणा थी कि विचारगत असगतियों का प्रकटीकरण और विरोधी मतों का संघर्ष सत्य तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। बाद मे इसी पद्धति का प्रयोग प्रकृति को समझने के लिए किया गया। हीगल और

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव . राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ० ८७

२. "It is called Dialectical Materialism because its approach to the phenomenon of nature, its method of studying and apprehending them is dialectical, while its interpretation of the phenomenon of nature, its conception of these phenomenon, its theory is materialistic."

—Dialectical & Historical Materialism; by J. Stalin : pp. 212.

३. J. Stalin : Dialectical & Historical Materialism; pp. 256;

मार्क्स दोनो का मत था कि विरोधी तत्वो के संघर्ष के द्वारा ही सत्य की प्रतिष्ठा होती है।"[१]

(क) चरम सत्ता : पदार्थ (भूततत्व)

मार्क्स के अनुसार जगत् के मूल मे भौतिक तत्व (मैटर) है। यही इस विश्व की चरम सत्ता है। मार्क्स का भूततत्व ही सबका जनक है। चेतना भी उसी से आविर्भूत हुई है। प्रतिदिन के अनुभव का संसार ही सच्चा ससार है। आत्मा या ब्रह्म का हमारे लिए कोई महत्त्व नही है। इसके विपरीत भौतिक पदार्थ, जैसे मिट्टी, पत्थर, रक्त, मांस, मज्जा आदि को हम प्रत्यक्षतः देखते और अनुभव करते है। अतः वे हमारे लिए सत्य एव अंतिम है। हीगल के मतानुसार भौतिक वस्तुएँ या प्रकृति आत्मा की उपज हैं, किन्तु मार्क्स की दृष्टि मे आत्मा, मन या मस्तिष्क अथवा विचार की उत्पत्ति भौतिक पदार्थ से हुई है। इस पदार्थ (मैटर) से ही क्रमशः सारे जगत् का विकास हुआ है। सारा जगत्–चराचर विश्व–एक साथ ही नही, वरन् क्रमिक रूप मे विकसित हुआ है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परमाणु तत्वो से लेकर आकाश मे चमकनेवाला महासूर्य, रासायनिक तत्वो से लेकर बुद्धि और चेतना तक का विकास इसी भूत-तत्व से हुआ है। एगल्स के मतानुसार "संसार की एकता उसके अस्तित्व मे नही है। ससार की वास्तविक एकता उसकी भौतिकता मे है।"

(ख) गति : सत्ता का अनिवार्य धर्म

जगत्-प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका जो रूप आज दिखाई दे रहा है, वह न पहले था और न आगे ही रहेगा। मार्क्सवाद प्रत्येक वस्तु को निरन्तर गतिशील परिवर्तनशील एवं विकासशील मानता है। गति वस्तु अथवा पदार्थ का अनिवार्य गुण, है। पदार्थ और गति एक-दूसरे से इस प्रकार बँधे है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती। एगल्स के अनुसार गति ही पदार्थ के अस्तित्व का आधार है (मोशन इज द मोड ऑफ इक्सिस्टेंस)। पदार्थ न तो कभी गतिहीन रहा है और न कभी गतिहीन हो सकता है। गतिहीन पदार्थ की कल्पना उसी प्रकार नही की जा सकती, जैसे पदार्थरहित गति की।[२] चूँकि पदार्थ निरन्तर गतिशील है, अतएव प्रतिक्षण इसमे

---

१. "Contradiction is the root of all motions and of all life. Hegel wrote, it is only because a thing contains a contradiction within itself, that it moves and acquires impulse and activity. That is the purpose of all motion and all development........"

२. एगल्स : ऐंटी ड्यूरिंग, पृ० ८७

परिवर्तन अवश्यभावी है। परिवर्तन सदैव विकासपरक होता है। पदार्थ का ह्रास नही होता, उत्थान-पतन अवश्य होता है; किन्तु यह पदार्थ का वाह्य धर्म है। पदार्थ निरन्तर प्रगतिशील है, यह दूसरी बात है कि वाधाओं के कारण उसमें अपेक्षित प्रगति न दिखाई दे। गति के मूल मे दो तत्व दृष्टिगोचर होते है—एक ह्रासशील, और दूसरा विकासशील। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति और समाज के वास्तविक विश्लेषण के लिए निरन्तर जन्म लेनेवाले तथा विकसित होनेवाले तत्वो के साथ ही विघटित होनेवाले और मिटने वाले तत्वो का ज्ञान भी आवश्यक मानता है। मार्क्स के अनुसार विश्व के समस्त भौतिक पदार्थो की अवस्थाओ मे परिवर्तन अथवा उनका विकास द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर होता है।

(ग) विरोधी समागम

विकास के मूल मे विरोधी समागम कार्य करता रहता है। वस्तु-जगत् के प्रत्येक व्यापार मे उसकी आन्तरिक असगतियाँ सदैव क्रियाशील रहती हैं। यही कारण है कि लेनिन विकास को विरोधी-तत्वों की एकता कहता है। एगल्स स्वयं गति को असगति से अभिन्न मानता है। पदार्थ के मूल मे विद्यमान रहनेवाले विरोधी तत्वो को स्पष्ट करते हुए मारिस कार्नफोर्थ ने भी वास्तविक असंगति को विरोधी तत्वो की एकता की सज्ञा दी है। जव किसी भी वस्तु, प्रक्रिया या सवंध के अन्तर्गत विरोधी वृत्तियो का समाहार इस प्रकार होता है कि एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व सभव न हो, तव उक्त वस्तु अथवा प्रक्रिया या सम्वन्ध के अन्तर्गत वास्तविक विरोध देखा जाता है। विरोधी तत्वो की एकता के अन्तर्गत विरोधी तत्व परस्पर-निर्भरता के सवंध से युक्त होते है, जहाँ प्रत्येक का अस्तित्व दूसरे के लिए अनिवार्य है।[1] विरोधी समागम के कारण विरोधी तत्वो में परस्पर सघर्ष अनिवार्य हो जाता है। इसी संघर्ष के फलस्वरूप वस्तु गतिशील एवं परिवर्तनशील है। पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत पूंजीपति और मजदूर, शोपक और शोपित जो एक-दूसरे के विरोधी है, वे भी परस्पर सम्वद्ध है। दोनो का जीवन एक-दूसरे पर निर्भर करता है। पूंजीपति सर्वहारा के शोपण के विना और श्रमिक अपने श्रम को वेचे विना नही जी सकता। अतः समाज का विकास वर्ग-सघर्प के रूप मे निश्चित है। लेनिन इसे द्वद्ववाद का सार (Salt of dialecticalism) कहता है। मार्क्सवाद के आधुनिक व्याख्याता माओ के मत मे भी विरोध सभी वस्तुओ के विकास की प्रक्रिया में वर्तमान रहता है और वस्तु के विकास की प्रक्रिया मे आद्योपांत यह विरोध वना रहता है। इसी को विरोधी समागम की सार्वभौमता कहा जाता है।

हीगल के अनुसार वस्तु अपने भीतर अनुकूल ही नहीं, प्रतिकूल-विरोधी गुण भी

---

१. मारिस कार्नफोर्थ . डायलेक्टिकल मटेरियलिज्म, पृ० १०५

रखती है। यही विरोध उस वस्तु मे गति का स्रोत है, जिससे वह विकास के दौरान एक दूसरी वस्तु के रूप मे अपने को परिणत कर लेती है। हीगल की यह घोषणा है कि विश्व के गर्भ मे सर्वत्र विरोधी समागम है। यही उसकी शक्ति है और इसी के बल पर विश्व कुछ-से-कुछ हो जाता है। वस्तुतः प्रकृति पारस्परिक विरोधों का भडार है। यही विरोध उसका जीवन है, यही उसका स्वभाव है। विरोधी तत्व परस्पर सर्वथा भिन्न रूप मे न रहकर, वस्तु मे एक ही समय और एक ही स्थान पर अभिन्न रूप मे दिखाई पडते है। उदाहरण के लिए जो कर्जदार के लिए ऋण है, वही महाजन के लिए धन है। जो हमारे लिए आगे का रास्ता है, वही दूसरे के लिए पीछे का रास्ता हो सकता है। विरोधी समागम अन्ततः विरोधियो के सघर्ष मे परिणत हो उठता है, जिसका परिणाम होता है समागम अर्थात् एकता का भग होना और यही से नवीन तत्वो का प्रकटीकरण होता है। ससार के हरेक क्षेत्र मे परिवर्तन हो रहा है, क्योंकि समाज के भीतर तथा उसके वातावरण मे सर्वत्र विरोधी समागम वर्तमान है। विरोध ही वस्तुतः हलचल है। राहुल के शब्दो मे वह साम्यावस्था का ध्वस है। "प्रकृति मे चिर साम्यावस्था चाहना, उससे आत्महत्या की माँग करना है। साम्यावस्था स्वयं प्रवाहमय चचल है। वह स्थापित होती है, नष्ट होती है, फिर स्थापित होती है, फिर नष्ट होती है......। किन्तु उन्ही धागो की उधेडबुन नही है, सब चीज नई। इसी साम्यावस्था को चढ़ा-वढाकर हम स्थिति नाम देते है।"[1] इस प्रकार विरोधी समागम प्रकृति को चिर नवयौवन प्रदान करने का कार्य निरन्तर करता रहता है।

(घ) निषेध का निषेध

द्वन्द्वात्मक विकास को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने यह घोषणा की थी कि विकास के लिए पूर्व-रूप का निषेध आवश्यक है।[2] किन्तु कोई भी निषेध अपने आपमे अंतिम नही कहा जा सकता। सभवतः यही कारण है कि वस्तु-जगत् मे निरन्तर विकास होता रहता है; क्योंकि निषेध को स्वय एक ऐसी स्थिति का सामना करना पडता है, जहाँ पर वह स्वय निषेधित हो उठता है।[3] अतएव स्पष्ट है कि उन्नति का मार्ग अनन्त है, असीम

---

१. राहुल : वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृष्ठ १६४-६५

२. "No development that does not negate its previous forms of existence can occur in any sphere." —Fundamentals of Marxism-Leninism. pp. 101;

३. "No negation is the last development continues and every successive negation is itself in turn negated." —Ibid. pp. 102;

है। गणित-शास्त्र मे जैसे दो ऋण एक धन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार वस्तु-जगत् मे जब किसी पद्धति के विरुद्ध दूसरी प्रतिक्रियात्मक पद्धति उसको समाप्त करने के हेतु उठती दिखाई पडती है, तब आगे चलकर इस प्रतिक्रियात्मक शक्ति के विरोध मे भी एक दूसरी शक्ति उठ खडी होती है, जिससे स्थिति स्तब्धता की ओर न मुडकर निरन्तर गतिशील बनी रहती है। इसी को निषेध का निषेध (निगेशन आफ निगेशन) कहते है।

संक्षेप मे विनष्ट अथवा विलीन वस्तु का उत्तराधिकारी या स्थानापन्न (तत्व) ही निषेध है। परिवर्तन की दृष्टि से निषेध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। संसार की प्रत्येक प्रगति के मूल मे इसका वर्तमान रहना अनिवार्य है। दूसरी पीढ़ी पहली पीढी का निषेध करती है, तीसरी पीढी निषेध करनेवाली दूसरी पीढी का निषेध करती है। पुराने भौतिकवाद का निषेध यान्त्रिक भौतिकवाद मे हुआ। यांत्रिक भौतिकवाद का निषेध वैज्ञानिक भौतिकवाद ने किया। इस प्रकार वैज्ञानिक भौतिकवाद निषेध का निषेध हुआ। समाज के विकास-क्रम के सदर्भ मे कहा जा सकता है कि सामन्तवादी युग का निषेध पूँजीवादी युग मे हुआ। पूँजीवादी युग समाजवादी युग मे निषेधित हुआ। इस प्रकार समाजवादी युग को निषेध का निषेध कहा जायगा।

विरोधी तत्वो का समागम और उनका सघर्ष 'निषेध का निषेध' सिद्धान्त के मूल मे काम करता है। इस प्रकार एगल्स के अनुसार द्वन्द्ववाद के द्वारा वस्तु के विकास, आन्दोलन, जन्म और मृत्यु का अध्ययन किया जाता है। स्टालिन के मतानुसार निषेध का निषेध, जिसके परिणामस्वरूप नई स्थिति की अवतारणा होती है, एक उच्चतर स्थिति है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता है कि निषेध का निषेध के द्वारा पूर्व स्थिति का विनाश नही होता। वह अप्रचलित, अनावश्यक एव प्रगति-विरोधी अश का निषेध करते हुए स्वस्थ एव विकासगामी पक्ष को संरक्षण प्रदान करता है। इस प्रकार विकास की प्रकृति सदैव प्रगतिशील होती है। इसी को मार्क्सवादी विचारक उच्चस्तरीय उन्नयन की सज्ञा देते है।

(ड) विकास की प्रक्रिया : वाद, प्रतिवाद और संवाद

हीगल और मार्क्स दोनो के अनुसार विरोधी तत्वो के सघर्ष द्वारा ही सत्य की प्रतिष्ठा होती है। विकास की अन्तर्वर्तिनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया तीन भागो मे विभक्त है—(१) वाद, (२) प्रतिवाद, और (३) सवाद। इतिहास में एक प्रवृत्ति-विशेष की प्रतिष्ठा है। यही वाद है। धीरे-धीरे उसी के भीतर से उसके विरोध मे एक नयी प्रवृत्ति जन्म लेने लगती है। यही विरोधी स्थिति ही प्रतिवाद है। अब इन दोनो मे सघर्ष होता है। इससे जो नयी समन्वयात्मक स्थिति आती है, उसे सवाद कहेगे। द्वन्द्ववाद की यह प्रक्रिया जीवन के हरेक क्षेत्र मे दिखाई पड़ती है। वस्तु की प्रस्तुत

स्थिति ही वाद है और वही अपने विरोधी तत्वो के स्वाभाविक और आन्तरिक संघर्ष के कारण प्रतिवाद मे परिणत हो जाती है। पर उसमे संघर्ष बराबर चलता रहता है। अत मे एक ऐसी अवस्था आती है, जब वस्तु के दोनो परस्परविरोधी तत्वो का सन्तुलन हो जाता है। इसी अवस्था को संवाद (सिंथेसिस) कहते है। किन्तु धीरे-धीरे उसमे पुनः पहले की ही तरह संघर्ष आरम्भ होता है और इस प्रकार नये वाद, प्रतिवाद और सवाद का क्रम चलता रहता है। वस्तु-जगत् के द्वन्द्व का यह एक निश्चित क्रम है। मार्क्स इस द्वन्द्व को विकास का क्रमिक सोपान मानता है।

(च) परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन

समस्त चराचर मे परिवर्तन के कारण नित्य नवीनता दिखाई पडती है। जिस दृश्य को हमने कल देखा था, वह दृश्य हमे आज उसी रूप मे नही दिखाई पडता। कोयले का काला टुकडा भट्ठी मे पडने पर जलता अगारा और पुनः बिखरा हुआ राख का ढेर हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक परिवर्तन एक नयी स्थिति को जन्म देता है। परिवर्तन हमे परिमाणात्मक और गुणात्मक दो रूपों मे दिखाई पडता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार परिवर्तन की चरम परिणति वहाँ पर होती है, जहाँ परिमाणात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन का द्वार खोल देता है। मार्क्स का कथन है कि परिमाणात्मक परिवर्तन एक निश्चित सीमा पर पहुँचने पर गुणात्मक भेदो मे बदल जाता है। उदाहरण के लिए पानी से बर्फ की स्थिति और पानी से भाप की स्थिति को लिया जा सकता है। हीगल ने पानी जमने का दृष्टान्त दिया है। बर्फ के रूप मे परिणत होने के लिए पानी धीरे-धीरे गाढा नही होता, बल्कि तापमान ज्यो ही गिरते-गिरते हिम-बिन्दु पर पहुँचता है, वह सहसा बर्फ बन जाता है। इस प्रकार पानी की तरलता बर्फ के ठोस गुण के रूप में बदल जाती है। अब यदि हम पानी को खौलाने लगे, तो धीरे-धीरे पानी की गर्मी के परिमाण मे परिवर्तन होता जायगा। थोडी देर पहले जिस गर्म पानी मे उगली डाल सकते थे, अब हम वैसा नही कर सकते। पानी के खौलने का क्रम जारी है। तापमान ज्यो ही २१२ डिग्री फारेनहाइट पर पहुँचता है, सारा-का-सारा पानी भाप के रूप मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक सीमा विशेष पर पहुँचकर परिमाणात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन को जन्म देता है। इसी बात को एक दूसरे दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है। मान लीजिए कि आपने 'स्टोव' मे इतनी हवा भर दी है कि वह अच्छी तरह से आँच दे रहा है। अब एक दूसरा व्यक्ति आकर हवा भरने लगता है। 'स्टोव' की सुई खतरे के लाल बिन्दु तक पहुँच चुकी है। स्पष्ट है, 'स्टोव' मे अब और अधिक हवा नही भरी जा सकती। अब यदि एक भी पिचकारी हवा भर दी गयी तो तुरन्त जोर का धडाका होगा। चारो ओर आग फैल जायगी। घर जलने लगेगा। इस प्रकार जो 'स्टोव' हमारे लिए उपयोगी था, वह हमारे विनाश का कारण बन जाता है।

(छ) ऊर्ध्वोन्मुख विकास

गुणात्मक परिवर्तन परिमाणात्मक परिवर्तन का सहज परिणाम है। इस प्रकार परिवर्तन विकास के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। गुणात्मक परिवर्तन मे एक बात और दिखाई देती है—विकास क्रमिक रूप मे न होकर सहसा मूर्त्त हो उठता है। विकास की इस गति की तुलना मेढकी की छलाग से की जाती है। समाज मे भी गुणात्मक परिवर्तन कभी-कभी दिखाई देता है। मार्क्सवादियों के अनुसार समाज मे ऐसे विशद् परिवर्तन क्रमिक रूप मे न होकर आकस्मिक छलागे मारकर होते हैं। ये छलागे उनकी दृष्टि में क्रान्तियाँ हैं। गुणात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप ही मनुष्य आदिम बर्बर अवस्था से साम्यावस्था को पहुँचा है।

विकास की यह प्रक्रिया वृत्ताकार रूप मे नही चलती। अतएव परिवर्तन द्वारा हम पुनः उसी बिन्दु पर नही पहुँचते, जहाँ से विकास-क्रम आरम्भ हुआ था। यह विकास-क्रम सीधे-सीधे न होकर पेचकश की गरारियों की भाँति टेढा-मेढ़ा, चक्करदार और सतत ऊर्ध्वोन्मुख होता है। लेनिन के शब्दों मे प्रगति अपनी पूर्व स्थिति को दोहराती है, एक उच्च स्तर पर। यह उत्थान की रीति सीधी न होकर चक्कर देते हुए ऊपर की ओर उठती है।[१] उत्थान में द्रुतता और धीमापन दोनो होता है। कभी सकट की स्थिति आती है, तो कभी क्रान्ति होती है। इतिहास इस प्रकार उत्थान का साक्षी है। गुणात्मक परिवर्तन द्वारा वस्तु जिस नई अवस्था को प्राप्त होती है, वह उसकी पूर्व-अवस्था की अपेक्षा ज्यादा ऊँचे स्तर की होती है। परिवर्तन प्रगतिपूर्ण होता है, न कि प्रतिक्रियावादी। अतः विकास की प्रक्रिया साधारण न होकर विशिष्ट होती है।

(३) ऐतिहासिक भौतिकवाद :
इतिहास की आर्थिक एवं भौतिक व्याख्या

भूततत्व : विकासमानता

मार्क्सवाद के विश्लेषण और विवेचन का आधार इतिहास है। मानव-समाज के क्रमिक विकास को लेकर यह वाद अपने सिद्धान्त निश्चित करता है और मनुष्य-समुदाय के इतिहास को आर्थिक और भौतिक दृष्टिकोण से देखता है। समाज व्यक्ति-

---

१. "A development that seemingly repeats them otherwise; on a higher basis (negation of negation), a development so to speak, in spirals, not in a straight line."

—Lenin's Karl Marx; pp. 22-23

समूह का नाम है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अंग के रूप मे ही सभव है। उसकी स्वतन्त्र एवं समाज-निरपेक्ष स्थिति नही है। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हुए मार्क्सवादी यह मानता है कि भूततत्व से ही व्यक्ति का विकास हुआ है। यह ठीक उसी तरह घटित होता है, जैसे गोवर से कीडा। चेतन प्राणी के रूप मे जव व्यक्ति का धीरे-धीरे विकास होने लगा था, तभी से उसने सृष्टि के रहस्यो को समझने का प्रयास किया। किसी भी वस्तु को समझने के लिए निकट सम्पर्क आवश्यक होता है। सृष्टि के उपःकाल मे हमारे देश का वैदिक व्यक्ति प्रकृति के कण-कण मे एक सम्बन्ध-विशेष की अनुभूति कर रहा था। मानव आरम्भ मे परस्पर अपरिचित था। सभवतः नारी पुरुष के लिए और पुरुष नारी के लिए आश्चर्य की वस्तु होगे। धीरे-धीरे परस्पर सम्पर्क मे आकर उन्होने समाज की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया, समाज के अभाव मे आज व्यक्ति का जीवन असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो गया है।

व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध तीन रूपों मे दृष्टिगोचर होते है—(१) व्यक्ति-व्यक्ति का, (२) व्यक्ति-वर्ग का, और (३) वर्ग-वर्ग का। वस्तुतः वर्ग-वर्ग का सम्बन्ध ही मार्क्सवाद की अध्ययन-सीमा के अन्तर्गत आता है। सामान्य रूप से समाज से हटकर स्थापित वैयक्तिक सम्बन्धो को व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध कहते है। जब व्यक्ति किसी वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करता है तो व्यक्ति-वर्ग का सम्बन्ध लक्षित होता है। मार्क्सवादी का यह दावा है कि प्रथम दो प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन एव विवेचन समाज की भूमिका के अभाव मे कठिन ही नही, असंभव है। इन सम्बन्धो के मूल मे भी समाज कही-न-कहीं निश्चित रूप से विद्यमान रहता है। अतः मार्क्सवाद के अन्तर्गत वर्ग-वर्ग के सम्बन्ध को ही एकमात्र महत्व प्रदान किया गया है।

परिवर्तन का सिद्धान्त : सनातनत्व की समाप्ति

सामाजिक सम्बन्ध निरन्तर परिवर्तित होते रहते है, क्योकि सृष्टि के अन्तर्गत एकमात्र सत्य परिवर्तन ही है। सदैव सनातनत्व की दुहाई देते हुए परिवर्तन को उपेक्षा की दृष्टि से देखना न्याय-सगत नही कहा जा सकता। सनातन मूल्य, सनातन सत्य स्वयं मे भ्रमात्मक है। वे बदलते रहे है और विकसित हो रहे हैं। यह कहना कि ससार निरन्तर पतन की ओर बढ़ रहा है, सतयुग से कलियुग तक आने मे सृष्टि उत्तरोत्तर पतनोन्मुख रही है, सचाई से बहुत दूर है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सृष्टि के ऊर्ध्वोन्मुख विकास की प्रक्रिया को ही सत्य मानता है। अतएव उसका विश्वास है कि सृष्टि अपनी आदिम अवस्था से लेकर आज तक आगे की ओर बढ़ती रही है। प्रगतिशीलता का यही नियम समाज के सम्बन्ध मे भी लागू होता है। समाज मे किसी भी प्रकार के परिवर्तन

को देखकर सनातनवादी नाक-भौ सिकोड़ने लगते है। किन्तु सामाजिक व्यवस्था, मामाजिक आन्दोलन एव सामाजिक परिवर्तन जो अपने आपमे सत्य है तथा जिन्हे परखने के लिए तटस्थ दृष्टि अपनानी पड़ती है—उनका मूल्याकन सनातन न्याय की तुला पर नही किया जा सकता। सनातनत्व मे विश्वास रखनेवाले लोग समाज को एक ही राह पर चलने के लिए बाध्य करते है। सनातनधर्मी हिन्दू के लिए वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त समाज की अन्य व्यवस्थाएँ अनुचित एवं अग्राह्य है। उनके लिए तो वर्ण-व्यवस्था शाश्वत समाज-व्यवस्था तथा रामराज्य शाश्वत शासन-व्यवस्था है। किन्तु वर्तमान भारत मे देश की समाज-व्यवस्था और शामन-व्यवस्था मे जो परिवर्तन आये है, उन्हे कैमे भुलाया जा सकता है। संक्षेप मे, सनातनवादी परम्परागत समाज-व्यवस्था को शाश्वत मानते हैं, इसीलिए वे परिवर्तन का विरोध भी करते है। परन्तु मार्क्सवादी के लिए परिवर्तन अनिवार्य है। वह बदलती हुई समाज-व्यवस्था अथवा सामाजिक सबधो का मूल्याकन परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे करता है। पूर्वाग्रह के कारण उसकी दृष्टि मे न तो कोई वस्तु अच्छी है और न बुरी, क्योकि किसी भी वस्तु की अच्छाई या बुराई उस पर न निर्भर होकर परिस्थिति, काल और स्थान-विशेष पर निर्भर करती है। जो वस्तु एक के लिए अच्छी है, वही दूसरे के लिए बुरी भी हो सकती है। जीवन के मूल्य जो एक समय प्रशसित थे, दूसरे युग मे आकर निंद्य बन गये। वर्ग के स्वार्थ से आबद्ध होने के कारण न्याय, धर्म, राजनीति, साहित्य सभी परिवर्तित होते रहे है। उदाहरण के लिए, न्याय को लिया जा सकता है। इसके लिए हमे देखना होगा कि भिन्न-भिन्न समाजो एव कालो मे न्याय-भावना का क्या रूप रहा है? प्राचीन भारत मे शूद्रो का विद्योपार्जन न्याय्य नही समझा जाता था। पर आज के जनतान्त्रिक युग मे तथाकथित शूद्र अध्ययन ही नही, अध्यापन के लिए भी अधिकारी माने जाते है। इस्लामी समाज मे आज भी एक साथ तीन पत्नियाँ रखना न्यायपूर्ण है। परन्तु हिन्दू या ईसाई समाज मे वही अन्यायपूर्ण है। दास-युग मे किसी आदमी को खरीदकर उम्र-भर पशु की तरह उससे काम लेना न्याय्य था, परन्तु आज यह घोर अन्याय है। प्राचीन भारत मे विधवा का सती होना न्याय ही नही, पुण्य भी समझा जाता था, परन्तु आज इसे अपराध करार दे दिया गया है। वस्तुतः न्याय का निर्णय सत्ताधारी-श्रेणी अपने हितो की रक्षा की दृष्टि से करती रही है। अतः सनातनत्व से चिपके रहना बचपना के अतिरिक्त और कुछ नही है। सामन्तवादी व्यवस्था किसी युग मे अच्छी थी, पर बाद मे बदली हुई परिस्थितियो में उसे कुत्सित एव अग्राह्य घोषित किया गया। मार्क्स-वाद के अनुसार सनातनत्व का समर्थन करनेवाला व्यक्ति पुराण-पंथी, अतएव प्रतिक्रियावादी है, और नवीनता का समर्थक गति मे विश्वास करनेवाला, अतएव प्रगतिशील है।

विरोध अनिवार्य

वस्तु अथवा व्यवस्था-विशेष का अन्तर्विरोध परिवर्तन एवं विकास को जन्म देता है। समाज मे विभिन्न वर्ग परस्परविरोधी प्रवृत्तियों के कारण टकराते रहते है। समाज के विकास-क्रम पर यदि दृष्टिपात किया जाय, तो उसमे दो वर्गों का विरोध सदैव लक्षित होता है। मार्क्सवादी इसी विरोध अथवा विरोधी तत्त्वो के समागम के फल-स्वरूप आये हुए परिवर्तनो का अध्ययन करता है (सामाजिक सम्वन्धो मे)। दास व्यवस्था के अन्तर्विरोधो ने सामन्ती व्यवस्था को जन्म दिया। तदनन्तर सामन्तवादी व्यवस्था मे पुन. विरोधी तत्त्वों का सघर्ष आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप औद्योगिक क्राति एव पूंजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया। इस प्रकार एक के वाद दूसरी सामाजिक व्यवस्था का आगमन स्वाभाविक था। अतएव हम किसी व्यवस्था को न तो सही कह सकते है और न ही गलत।

मार्क्सवाद विकास-प्रक्रिया के त्रिस्तरीय सिद्धान्त के आधार पर समाज के इतिहास का अध्ययन करता है। दास-युग मे गुलामो के परिश्रम के कारण समाज की सम्पत्ति का विकास हुआ। वाद मे कला-कौशल के विकसित होने से घरेलू उद्योग-धधे खुले और छोटे-छोटे यंत्रो का जन्म हुआ। अव गुलामी की प्रथा मालिको के लिए केवल वोझ ही नही, वरन् पैदावार की वृद्धि और सभ्यता की राह मे अड़चन बनती दिखाई दी। अतः गुलामी की प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला। गुलामी को मानव-समाज का कलंक वताकर मिटा दिया गया। सवको स्वतन्त्र करके एक समान वना दिया गया और इन्हे परिश्रम से अपनी जीविकोपार्जन करने की छूट दे दी गयी। इस प्रकार जिस नई व्यवस्था का जन्म हुआ, वही सवाद (सिंथेसिस) की स्थिति थी। आरम्भिक गुलामी की अवस्था ही वाद (थीसिस) है। धीरे-धीरे समाज के विकास मे जो अडचने आई, उन्ही से प्रतिवाद (एंटी-थीसिस) का जन्म हुआ। वाद और प्रतिवाद के संघर्ष के फलस्वरूप सवाद अर्थात् नई व्यवस्था का जन्म होता है। गांधीवादी विचारको का मत है कि विकास के लिए हमे सवसे पहले विरोधो को समाप्त करना होगा, परन्तु मार्क्सवादी विरोधो का स्वागत करता है; क्योकि वह जानता है कि प्रगति का वीज विरोध मे ही निहित है। वह एक तरफ ह्रासशील और परम्परागत प्रवृत्तियो का विरोध करता है, तो दूसरी तरफ विकासशील तथा नवागत प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने मे सारी शक्ति लगा देता है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का 'निषेध का निषेध' सिद्धान्त मे विश्वास है। ऐतिहासिक विवेचना करते हुए मार्क्स को अद्यतन समाज-विकास मे प्रस्तुत सिद्धान्त की चरितार्थता दिखाई दी। पूंजीवाद ने सामन्तवाद का निषेध किया था। आज पूंजीवादी व्यवस्था में भी दो परस्परविरोधी शक्तियाँ एक-दूसरे के सामने खडी है। एक ओर सर्वहारा वर्ग

की सेना है तो दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग का वैभव। पूँजीपति वर्ग ह्रासोन्मुख और मजदूर वर्ग विकासोन्मुख शक्ति है। इनके पारस्परिक सघर्ष से एक नयी सामाजिक व्यवस्था उत्पन्न होगी जो बहुत ही सहज है। इस प्रकार दो विरोधी प्रवृत्तियो के संघर्ष को जिनके कारण विकास की रेखाएँ झलकने लगती हैं, मार्क्स वर्ग-संघर्ष कहता है। मार्क्स के अनुसार मानव-समाज के अस्तित्व का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।[1] समाज-विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे दो वर्गो का—मालिक और नौकर का—शोषक और शोषित का सघर्ष सदैव चलता रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल मे यदि एक वर्ग प्रभुओ का था तो दूसरा दासो का; मध्यकाल मे एक वर्ग सामन्तो का था तो दूसरा किसानो का; आधुनिक काल मे पूँजीवाद के दो वर्ग—पूँजीपति और सर्वहारा—साक्षात् दिखाई दे रहे है। इस प्रकार इतिहास मे सर्वदा एक वर्ग धनी, साधन-सम्पन्न रहा है तो दूसरा वर्ग निर्धन, साधनहीन। इन्ही दोनो के बीच सतत सघर्ष चलता रहा, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक विकास और तत् तत् परिवर्तन लक्षित हुए।

मूल प्रवृत्ति : भूख और काम

भूख और काम प्राणि-जगत् की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन्ही प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर जीव अपने अस्तित्व की रक्षा में सतत प्रयत्नशील रहता है। मानवेतर जीव अपनी स्थिति को कायम रखने के लिए इन प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि करता है, परन्तु चेतना-सम्पन्न मानव, जीवन-रक्षा के साथ-साथ जातीय विकास के हेतु भी भूख और काम की तृप्ति चाहता है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति के जीवन के मूल मे सर्वत्र अर्थ कार्य करता हुआ दिखाई देता है। यशपाल के शब्दो में 'अर्थ से अभिप्राय केवल रुपया-पैसा नही, वल्कि जीवन-रक्षा के साधन, परिस्थितियाँ और जीवन के लक्ष्य है।'[2]

भूख से छुटकारा पाने के लिए अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिए समाज मे व्यक्ति को कुछ-न-कुछ करना पडता है। एक ही ढग से जीविकोपार्जन करनेवाले लोगो की स्थिति लगभग समान हो जाती है, क्योकि उनके हित, व्यक्त-अव्यक्त संगठन किसी-न-किसी रूप मे अवश्य लक्षित होते है। अतः इन लोगों के द्वारा एक वर्ग-विशेष की निर्मिति होती है। उत्पादन मे दूसरे ढग से भाग लेनेवाले लोग दूसरे वर्ग का निर्माण करते है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन-व्यवस्था के कारण ही समाज मे निश्चित सम्बन्धो की स्थापना होती है।

---

१. "The history of all hitherto existing society is the history of class-struggles."

२. यशपाल : मार्क्सवाद, पृ० ५०

नारी-पुरुष का सम्बन्ध

काम-भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति समाज मे लोगो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सम्बन्धो मे नारी और पुरुष का सम्बन्ध प्रमुखतः काम की परितृप्ति तथा परम्परा और जातीय विकास की सभावनाओ को मूर्त रूप देने के लिए ग्राह्य रहा है। मार्क्सवादी अध्येता नारी और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धो में भी अर्थ की प्रधानता पाता है। पुरुषसत्ताक समाज मे जहाँ उत्पादन के साधन-स्रोतों और उत्पादित सम्पत्ति पर पुरुष का अधिकार रहा है, नारी की स्वतन्त्र सत्ता कभी भी सभव नही रही है। वास्तव मे वहाँ नारी पुरुष के सकेतो पर नाचनेवाली, वासना-तृप्ति और सतानोत्पत्ति का साधन-मात्र समझी जाती है। ऐसे ही समाज मे नारी पुरुष की भोग्या और उसकी अधिकृत सम्पत्ति होती है। आर्थिक दृष्टि से वह इतनी दुर्बल रहती है कि पुरुष की सहायता के अभाव मे उसके लिए जीवन मे एक डग भी भरना असभव हो जाता है। पुरुष-स्त्री के परस्पर-सम्बन्धो की दृष्टि से पूजीवादी समाज मे तीन प्रकार के कुटुम्ब दिखाई पडते है–समाज = (१) पूँजीपतियो का कुटुम्ब + (२) मजदूरो का कुटुम्ब + (३) वेश्याओ का समूह। पूँजीवादी पद्धति मे वैवाहिक सम्बन्ध प्रेम पर आधारित न होकर सम्पत्ति पर आधारित होता है। परिणामस्वरूप विवाह के कुछेक दिन बाद ही यदि एक पक्ष से प्राप्त होनेवाले वैभव-विलास मे लेशमात्र भी कमी आती दिखाई दी तो तथाकथित प्रेम अपनी अंतिम साँसे लेने लगता है। इतना ही नही, पूँजीपति निर्धन मजदूरो की माँ-बहनो पर, वेश्याओ पर और यहाँ तक कि दूसरे धनपति की पत्नी पर भी आँख गडाने से नही चूकता। सक्षेप मे पूँजीवादी व्यवस्था मे नारी स्वतंत्र न होकर गुलाम के रूप में अपने तन को बेचने के लिए बाध्य होती है। प्रस्तुत विचार को मार्क्स ने 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' मे व्यक्त किया है। उसका यह भी मत है कि पूँजीपति अपनी पत्नी को उत्पादन (सतानोत्पत्ति) का साधन-मात्र समझता है। उत्पादन के साधनो का शोषण करना बूर्जुआ समाज का सहज धर्म है। मार्क्सवादी, शोषण का—वह चाहे जिस किसी क्षेत्र का हो—डटकर विरोध करता है।

इस प्रकार न केवल नारी और पुरुष के सम्बन्धो के मूल मे, वरन् सामाजिक धरातल पर लक्षित होनेवाले धर्म, नीति, कानून, साहित्य आदि के मूल मे भी अर्थ तत्व कार्य करता हुआ पाया जाता है। मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास का आधार आर्थिक है। इससे मार्क्सवादी का तात्पर्य है—"इतिहास का आधार जीवन के उपायो के लिए सघर्ष है। जीवन के उपायो या साधनो को ही 'अर्थ' कहते हैं। जीवन मे सघर्ष होता है। जीवन के उपायो मे वे सब वस्तुएँ आ जाती है जिनसे मनुष्य-समाज को सतोष और तृप्ति होती है, तृप्ति चाहे शारीरिक हो या मानसिक। इसलिए मनुष्य या समाज अपने

जीवन मे जो कुछ भी करता है, वह सब 'अर्थ' के अन्तर्गत जीवन की रक्षा और विकास के लिए होता है।"[१]

अर्थ और उपरिसंरचना

इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मार्क्स ने उत्पादन-प्रणाली को इतिहास की गतिविधियो का नियमन करनेवाला तत्व माना है। "ए क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकानामी" मे मार्क्स न कहा है—"समाज मे व्याप्त उत्पादन-व्यवस्था मे लगे हुए मनुष्य निश्चयात्मक सम्बन्धो मे प्रवेश करते है जो अपरिहार्य होते है, तथा जिनको स्वीकार या अस्वीकार करना उनकी इच्छा पर निर्भर नही करता।" ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियो के विकास के समानान्तर चलते है। उत्पादन के इन सम्बन्धो के योग से समाज का आर्थिक ढाँचा तैयार होता है। यह वह नीव है जिस पर धर्म, कानून, राजनीति आदि का महल खडा किया जाता है। इसी के अनुकूल सामाजिक चेतना निश्चित रूप धारण करती है। भौतिक जीवन मे उत्पादन-प्रणाली जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रणालियो के सामान्य रूप को निश्चित करती है। मनुष्यो के व्यवहार का निर्माण उनकी चेतना नही करती, अपितु उनका व्यावहारिक जीवन ही उनकी चेतना का निर्माण करता है। बौद्धिक विकास के एक विशिष्ट स्तर पर पहुँचने के बाद समाज की उत्पादक शक्तियो और उत्पादन-सम्बन्धो मे सघर्ष हो उठता है। बस, यही से सामाजिक क्रान्ति का काल प्रारभ हो जाता है। आर्थिक ढाँचे मे परिवर्तन आने पर उस पर खडा धर्म, राजनीति आदि का महल भी ढह (बदल) जाता है। उदाहरण के लिए सामन्तकालीन उत्पादन-व्यवस्था पूर्वकाल की उत्पादन-व्यवस्था से और पूजीवादी उत्पादन-पद्धति सामन्तकालीन उत्पादन-पद्धति से अधिक विकसित एव श्रेष्ठतर सिद्ध हुई है। इस प्रकार समाज के आर्थिक ढाँचे मे निरन्तर विकास होता रहा है। सक्षेप मे, मार्क्स के अनुसार—(१) अर्थ तत्व (उत्पादन-व्यवस्था) ही समाज की मूलभूत आधार-भित्ति है। राजनीति, धर्म, साहित्य, सस्कृति, कानून आदि इसी पर आधारित हैं। अर्थात् राजनीति, धर्म, सस्कृति और साहित्य उपरिसरचना (सुपर स्ट्रक्चर) है। अतः युग-विशेष की राजनीतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक व्यवस्थाओ से परिचित होने के पूर्व तत्कालीन आर्थिक ढाँचे का अध्ययन आवश्यक होगा।

(२) आर्थिक ढाँचा उत्पादन-सम्बन्धो का परिणाम होता है। जिस युग मे जिस प्रकार के उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन-व्यवस्था मे लक्षित होते है, उस युग मे उसी प्रकार का आर्थिक ढांचा भी बनता है। उत्पादन-सम्बन्धो मे क्रमिक परिवर्तन होने के कारण

---

१. यशपाल : मार्क्सवाद, पृ० ५१

ही सामन्त-युग, पूंजीवादी-युग और समाजवादी-युग के आर्थिक ढाँचे भिन्न-भिन्न रूपो में देखे जाते है।

(३) उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियो के विकास पर निर्भर करते है। उत्पादन-शक्तियो का विकास आर्थिक ढाँचे का मूल स्तम्भ है, ठीक उसी प्रकार जैसे आर्थिक ढाँचा जीवन के अन्य क्षेत्रो की आधारशिला है। अतएव उत्पादन-शक्तियो के विकास का अध्ययन आर्थिक ढाँचे को समझने के लिए अनिवार्य है।

(४) उत्पादन-शक्तियाँ बौद्धिक विकास की एक ऐसी अवस्था को पहुँचती हैं, जहाँ पर वे उत्पादन के उन सम्बन्धो से टकरा उठती है जिनके भीतर रहकर यह शक्तियाँ अब तक कार्यरत थी। फलत. उत्पादन-शक्तियो के विकास के रूप मे काम करनेवाले उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियो के लिए शृखला बन जाते है। अतएव क्रान्ति का आगमन होता है।

आर्थिक ढाँचे मे परिवर्तन होने से धर्म, राजनीति, साहित्य आदि समस्त ऊपरी ढाँचो मे भी परिवर्तन आता है। सक्षेप मे मार्क्सवाद के अनुसार अर्थ-तत्त्व ही सामाजिक जीवन के हरेक क्षेत्र मे परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। एगल्स ने इसी बात का समर्थन करते हुए कहा था—"समस्त सामाजिक परिवर्तनो तथा राजनीतिक क्रातियों के अतिम कारण न तो मनुष्यो के मस्तिष्क मे और न उनके चरम सत्य और न्याय सबधी विशेष ज्ञान मे पाये जाते हैं, वरन् वे उत्पादन और वितरण के ढग मे ही मिल सकते हैं।"

अर्थ-व्यवस्था : उत्पादन-वितरण

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार समाज मे होनेवाले परिवर्तन चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक—आर्थिक कारणो से प्रभावित होते है। उत्पादन और वितरण की व्यवस्था मे आनेवाला वैषम्य ही आर्थिक कारणो को जन्म देता है। क्रातियो के मूल मे न तो कोई (अमूर्त) विचार लक्षित होता है, और न ही कोई युगान्तरकारी चेतना। वस्तुतः इनके बीज तत्कालीन आर्थिक ढाँचे मे वर्तमान रहते है। जैसे-जैसे उत्पादन-शक्तियो का विकास होता रहा है, उत्पादन-प्रणाली मे स्वतः परिवर्तन आता गया है। उत्पादन-प्रणाली के बदलने से मनुष्य के तमाम सामाजिक सम्बन्ध भी बदलते है। मार्क्स ने 'पावर्टी आफ फिलासाफी' मे लिखा है—"हाथ की चक्की उस समाज का निर्माण करती है, जिसमे प्रभुत्व सामन्त का होता है; भाप से चलनेवाली चक्की वह समाज बनाती है, जिसमे प्रभुत्व औद्योगिक पूंजीपति का होता है।" उत्पादन-प्रणाली के आधार पर इतिहास को निम्नलिखित ६ युगो मे विभाजित करते हैं—

१—प्रारम्भिक साम्यवादी युग (प्रीमिटिव कम्यूनिस्टिक एज़)

२—दास युग (द एज आफ स्लेवरी)

३—सामन्त युग (द फ्यूडल एज)
४—पूंजीवादी युग (द कैपिटलिस्टिक एज)
५—सर्वहारा के अधिनायकत्व का युग (द एज आफ प्रोलिटेरियन डिक्टेटरशिप)
६—साम्यवादी युग (द कम्यूनिस्टिक एज)

विश्व का इतिहास प्रथम चार युगो को पार कर चुका है। रूस, चीन तथा कुछ अन्य पूर्वी यूरोपीय देशो मे पाँचवे युग का आरभ हो गया है। मार्क्सवाद के अनुसार समाज एक-न-एक दिन निश्चित रूप से इतिहास के अतिम युग अर्थात् साम्यवादी युग मे प्रवेश करेगा। इतिहास का यह युग वर्ग और राज्य विहीन होगा। फलत· वहाँ सघर्ष के लिए रचमात्र भी अवकाश न होगा। अन्त मे वर्ग-सघर्प के अभाव मे राज्य-रूपी वृक्ष मुरझा कर गिर जायगा। उत्पादन के सभी साधनो पर समाज का अधिकार होगा। समाज सुख और शाति की साँस लेगा।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक युग मे साधन-सम्पन्नो और साधन-हीनों के बीच सघर्प चलता रहा है। वैभवशाली धनिक-वर्ग हमेशा समाज मे अपनी प्रतिष्ठा एव अपने अनुचित अधिकारो के लिए गरीबों का गला घोटता रहा है। रोटी के टुकडे के लिए तरसनेवाले गरीब सदैव शोपण, अन्याय एव तिरस्कार के शिकार बनते रहे हैं। मार्क्स इतिहास की इस गति को उलट देना चाहता था। वह नही चाहता था कि एक वर्ग सर्वदा दूसरे का खून चूसकर अपने वैभव की पताका फहराता रहे और दूसरा उसके सामने सिसकियाँ भरे। अतएव वह इस वर्ग-विभेद को मिटा देना चाहता था। परन्तु वर्ग-विभेद को तब तक नही मिटाया जा सकता, जब तक शोपण की प्रक्रिया को नही समाप्त कर देते। मार्क्स ने इस तथ्य को भली भाँति समझा था। समाज के आर्थिक धरातल पर शोपण किस प्रकार होता है? उसका निराकरण कैसे सभव है? इन प्रश्नो के उत्तर पाने के लिए मार्क्स ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश किया।

मार्क्स के मतानुसार अर्थशास्त्र द्वन्द्ववाद का ही एक अग है। काल-विशेप मे समाज-विशेप की गति उसकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं ह्रास का विवेचन करना ही द्वन्द्ववाद है। आर्थिक सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे भी यही नियम लागू होते है। लेनिन का कथन है—"किसी इतिहास-प्रसिद्ध समाज के उत्पादन-सम्बन्धो का, उनकी व्युत्पत्ति, वृद्धि और ह्रास का निरीक्षण करना मार्क्स का अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त है।"[1]

मार्क्स ने स्वय भी 'दास कैपिटल' की भूमिका मे लिखा है— "इस पुस्तक का अतिम लक्ष्य है वर्तमान समाज के आर्थिक नियमो की गति का स्पष्टीकरण करना।" अर्थशास्त्र की गहराई मे जाकर मार्क्स ने इतिहास का मथन करके वूर्जुआ और सर्वहारा

१. लेनिन : कार्ल मार्क्स, पृ० ३०-३१

वर्गों की खोज की। उसने बताया कि समाज मे उत्पादन-वृद्धि के साथ ही साथ उत्पादन के साधनो अर्थात् पूंजी मे भी निरन्तर वृद्धि होती रही है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण उत्पादन के जिन नये साधनो का प्रयोग कल-कारखानो मे हुआ, उनके परिणामस्वरूप बडे-बडे औद्योगिक एव व्यावसायिक प्रतिष्ठानो का जन्म हुआ। इन प्रतिष्ठानो के कारण समाज मे एक ओर पूंजीपतियो का प्रभुत्व फैला तो दूसरी ओर मजदूरो की गरीबी भी बढ चली। पूंजीपतियो ने मजदूरो के श्रम का जिस रूप मे शोषण करना आरभ किया, उसके कारण मजदूरो मे असन्तोष का फैलना स्वाभाविक था। मार्क्स बूर्जुआ वर्ग को उन्ही श्रमिको के द्वारा खतम होनेवाला मानता है, जिनकी गाढी कमाई के ऊपर इनका अस्तित्व टिका हुआ है।

अतिरिक्त मूल्य (सरप्लस वैल्यू)

बूर्जुआ वर्ग का अस्तित्व वस्तुतः उत्पादन के अतिरिक्त मूल्य पर आधारित है। मार्क्स इसको अतिरिक्त पैदावार (सरप्लस प्राडक्ट) भी कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य असल मे श्रमिकों की शोषित श्रम-शक्ति का ही प्रतिरूप है। उत्पादन-व्यवस्था मे जब इसको लगाया जाता है तो वह 'कमोडिटिज' का रूप धारण करता हुआ क्रमशः पूंजी के रूप मे परिवर्तित हो उठता है। इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य ही पूंजी का मूलाधार सिद्ध होता है। संभवतः इसीलिए मार्क्स ने सम्पत्ति (वेल्थ) की परिभाषा देते हुए लिखा है कि वह 'कमोडिटिज' का असीम पुज है, जिसकी तह मे व्यक्तिगत 'कमोडिटिज' मूलाको के रूप मे रहती है।[१] उत्पादन के इसी भाग (सरप्लस वैल्यू) को मार्क्स बूर्जुआ सम्पत्ति अर्थात् पूंजीपति-सम्पत्ति कहता है। मार्क्स की दृष्टि मे यह सम्पत्ति दूषित है। अत. इसे उत्पन्न करनेवाली पद्धति को वह समाज से उखाड फेकना चाहता है।

अतिरिक्त मूल्य क्या है ? वह किस प्रकार पैदा किया जाता है ? इन प्रश्नो के समाधान के लिए निम्नलिखित उदाहरण सहायक होगा। पूंजीपति बाजार मे एक ऐसी वस्तु की खोज करता है, जिसके प्रयोग से उस पर खर्च किए गये मूल्य से अधिक मूल्य

---

१. "The part of the product that represents the surplus value, I term surplus product, in as much as the production of surplus product is the end and aim of the Capitalist production Wealth should be measured not by the absolute magnitude of the product, but by the relative magnitude of the surplus product."

—Capital Book I, pp. 228

प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों मे एक ऐसा सौदा, जिसे खर्च करने से और अधिक दाम का सौदा मिल सके। बाजार में ऐसी वस्तु श्रमिक की श्रम-शक्ति है। श्रम का फल ही मूल्य है। पूंजीपति मजदूर की श्रम-शक्ति को बाजार मूल्य पर खरीद लेता है। अब मान लीजिए कि बाजार मूल्य के अनुसार मजदूर को पाँच रुपये प्रति दिन के हिसाब से मिलते है। उस मजदूर को कारखाने मे आठ घण्टे काम करना पड़ता है। चार घण्टे परिश्रम करके ही मजदूर उतना पैदा कर देता है, जितना उसे आठ घण्टे के बाद मिलता है। अब शेष चार घण्टे और काम करके मजदूर जो मूल्य पैदा करता है और जिस पर पूंजीपति का अधिकार होता है, उसी को अतिरिक्त मूल्य कहते है। मार्क्सवाद के अनुसार इस अतिरिक्त मूल्य को हड़प लेना ही शोषक की शक्ति और उसका अधिकार है। इसके अभाव मे शोषण असभव है। दास-युग मे दासों का शोषण इसी अतिरिक्त मूल्य के कारण सभव था। गुलाम को केवल इतना भोजन दिया जाता था, जितने से उसके शरीर मे श्रम करने की शक्ति उत्पन्न होती रहे। किन्तु दास के द्वारा किए गये श्रम के सम्पूर्ण फल का भोक्ता उसका प्रभु था। सामन्ती युग और जागीरदारी के जमाने मे भी यही बात होती रही। आज भी मिल-मालिक मजदूर को उतना ही देना पसन्द करता है, जितने से वह जीवित रहकर तथा दूसरे दिन मिल में काम करने के लिए आ सके।

मार्क्स ने जब पूंजीपतियो द्वारा हड़पे जानेवाले अतिरिक्त मूल्य के विरुद्ध आवाज उठाई, तो तत्कालीन 'क्लैसिकल' स्कूल के अर्थशास्त्रियो ने उसका विरोध किया और कहा—"पूंजी के रूप मे परिवर्तित एव परिवर्धित होनेवाला अतिरिक्त मूल्य अतत. श्रमिकों की ही जेब मे वेतन के रूप मे पहुँचता है।" मार्क्स ने इस तर्क का खण्डन करते हुए इसे निराधार घोषित किया और बताया कि अतिरिक्त मूल्य का कुछ भाग पूंजीपतियो के वैभव-विलास की सरिता मे बह जाता है और शेप पूंजी के रूप में एकत्र होता है। पूंजी का वस्तुतः एक भाग ही श्रमिकों को वेतन के रूप मे प्राप्त होता है। शेष उत्पादन के साधनो पर व्यय हो जाता है। वेतन के रूप मे व्यय होनेवाला भाग परिवर्तनीय पूंजी (वैरिएबल कैपिटल) और साधनो के ऊपर व्यय होनेवाला भाग अपरिवर्तनीय पूंजी (कान्स्टेंट कैपिटल) कहलाता है। मजेदार बात यह है कि मजदूरो पर व्यय किया जानेवाला भाग उत्तरोत्तर कम होता जाता है। इसके विपरीत साधनो पर व्यय होनेवाला भाग उत्तरोत्तर बढता जाता है। कारण यह है कि मशीनादि साधनो के आधिक्य के कारण श्रमिक-साधनो की आवश्यकता निरन्तर कम होती जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था की इसी रहस्यमयता के कारण अन्ततः पूंजीपतियो और मजदूरों को एक-दूसरे के विरुद्ध सघर्षरत होना पडता है। यह संघर्ष उत्पादन की समाजवादी व्यवस्था की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई देता है। मार्क्स की साम्यवादी पद्धति का विरोध करते हुए लोगों ने यहाँ तक कहा कि मार्क्स व्यक्तिगत उत्पादन एव व्यक्तिगत

सम्पत्ति के अधिकार को भी छीन लेना चाहता है। मार्क्स ने 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो' में इस प्रचार के सम्बन्ध मे लिखा कि, "कम्यूनिस्ट पार्टी का निकटतम उद्देश्य अन्य श्रमिक-पार्टियो (प्रोलेटेरियन पार्टी) के उद्देश्य से भिन्न नही है। श्रमिको का एक वर्ग बनाना, बूर्जुआो के एकाधिपत्य को उखाड फेकना और श्रमिको द्वारा राजनीतिक सत्ता पर विजय प्राप्त करना ही उसका उद्देश्य है।"[१] "हम साम्यवादियो पर यह दोष लगाया जाता है कि हम मनुष्य के उस स्वत्व को ही समाप्त कर देना चाहते हैं, जिसके कारण वह (मनुष्य) अपने श्रम के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है—वह सम्पत्ति जिसे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन का अधिकार कहा जाता है।"[२]

मार्क्स ने स्पष्ट करते हुए उसी 'मैनिफेस्टो' मे लिखा कि साम्यवादियो का लक्ष्य व्यक्ति के निजी कठिन श्रम से प्राप्त सम्पत्ति का अत करना कदापि नही है। साम्यवादियो का ध्येय बूर्जुआ सम्पत्ति का अन्त कर देना है। जब साम्यवादी कहता है कि बूर्जुआ सम्पत्ति का अन्त किया जाय, तब उसका उद्देश्य असदिग्ध रूप से बूर्जुआ व्यक्तित्व, बूर्जुआ स्वातन्त्र्य, बूर्जुआ स्वच्छन्दता को समाप्त करना होता है।[३] ऐसा इसलिए कि (बूर्जुआ) सम्पत्ति पूँजी और वैतनिक श्रम के विरोधत्व पर निर्भर है। वैतनिक श्रम मजदूर के लिए सम्पत्ति नही पैदा करता। वह वस्तुतः पूजी पैदा करता है। पूजी सम्मिलित उपज है। इसलिए पूँजी व्यक्तिगत नही, सामाजिक शक्ति है, क्योकि अनेक व्यक्तियो के सम्मिलित श्रम द्वारा वह उत्पन्न होती है। अतएव जब पूँजी सार्वजनिक सम्पत्ति मे परिवर्तित हो जाती है, तब यह नही कहा जा सकता कि वैयक्तिक सम्पत्ति सामाजिक सम्पत्ति मे बदल दी गई। वस्तुतः यहाँ पर सम्पत्ति का सामाजिक लक्षण प्रकट हो उठता है और उसके वर्गीय स्वरूप का लोप हो जाता है।[४]

पूँजी उत्पादन का उतना ही महत्वपूर्ण अग है जितना श्रम। अतएव मार्क्सवाद का लक्ष्य उसी पूँजी को समाप्त कर देना नही, वरन् पूँजी के व्यक्तिगत अथवा वर्गगत रूप को सामाजिक रूप मे ले आना है। मार्क्स का कथन है—"हम उस व्यक्तिगत

---

१. मैनीफेस्टो आफ द कम्यूनिस्ट पार्टी, चैप्टर २, पृ० ६०

२. वही, पृ० ६१

३. "The abolition of bourgeois individuality, bourgeouis independence and bourgeouis freedom is undoubtedly aimed at."
—Manifesto of the Communist Party, Chapter II, pp. 62-63

४. Communist Manifesto, Chapter II, pp. 61-62

उपज या सम्पत्ति को कदापि नही मिटाना चाहते, जो श्रमिक पैदा करता है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है और जिसमे इतनी अधिक बचत नही होती कि वह दूसरो के श्रम पर अधिकार कर सके। अर्थात् दूसरे मजदूरो को मजदूरी देकर उनसे काम ले सके। हम तो केवल इतना ही चाहते है कि अतिरिक्त मूल्य का खतरनाक लक्षण समाप्त कर दिया जाय, क्योकि इस पद्धति के अन्तर्गत मजदूर का जीवन केवल पूंजी वृद्धि करने के लिए होता है और वह केवल उसी हद तक जीवित रखा जाता है, जितना कि शोषक वर्ग अपने स्वार्थ के लिए आवश्यक समझता हो।[१]

मार्क्सवाद व्यक्ति और बूर्जुआ मे कोई अन्तर नही मानता (You must, therefore, confess that by individual you mean no other person than the bourgeovis)। उसका लक्ष्य ऐसे ही व्यक्ति को समाज से उखाड़ फेकना है ताकि समाज का कोई भी व्यक्ति सामाजिक उत्पादन के अधिकार से वंचित न रह सके। मार्क्सवाद पूंजीवाद के विनाश के लिए अतिरिक्त मूल्यवाली पद्धति को उखाड फेकना अनिवार्य मानता है। पूंजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के विनाश के लिए मार्क्स ने सर्वहारा की क्रान्ति का आह्वान किया।

सुधार का निषेध : क्रांति एवं विप्लव की अनिवार्यता

मार्क्सवाद गांधीवादी सुधार की नीति को नही अपनाता। उसे पूंजीपतियो के पैरो पर सिर रखकर गिडगिडाना नही आता। वह क्रान्ति के बल पर उन तमाम भौतिक परिवेशो को बदल देना चाहता है, जिनके द्वारा पूंजीवादी कीटाणुओ के सक्रमण की सभावना बनी रहती है। गांधीवाद की भी मान्यता है कि बिना क्राति के शाति स्थापित नहीं हो सकती, किन्तु उसका विश्वास है कि यह क्रान्ति अहिंसात्मक होगी।

---

१. "We by no means intend to abolish this personal appropriation of the products of labour, and appropriation that is made for the maintenance and reproduction of human life and that leaves no surplus wherewith to command the labour of others. All that we want to do away is the miserable character of this appropriation under which the labourer lives merely to increase capital, and is allowed to live only in so far as the interest of the ruling class requires it."

—Communist Manifesto; pp. 62

छल, कपट और झूठ के लिए उसमें स्थान नही होगा। इस प्रकार गाधीजी ने साधनों की श्रेष्ठता और पवित्रता पर विशेष बल दिया। वह साधनो को इतना महत्व देते है कि उनके साधन ही कभी-कभी साध्य हो उठते हैं। इतना ही नही, गांधी उचित साधनों की सहायता से हृदय-परिवर्तन मे विश्वास रखते थे। किन्तु मार्क्सवाद मे साधनो की पवित्रता के लिए कोई स्थान नही। वह अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए किन्ही भी साधनों को अपनाने के लिए तत्पर रहता है। मार्क्सवाद का लक्ष्य है वर्ग-विहीन समाज की स्थापना। वह वर्ग-रहित समाज की कल्पना को साकार करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति से भी नही हिचकता। मार्क्स को सुधारवाद मे बिल्कुल विश्वास नही था। वह तो क्राति के माध्यम से भौतिक परिवेशो मे आमूल परिवर्तन लाने का पक्षपाती था। मार्क्स अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूंजीवाद के विनाश की अनिवार्यता स्वीकार करता है। पूंजीवाद की समाप्ति के लिए वह निम्नलिखित बातो को आवश्यक मानता है :—

१—सर्वहारा की क्रान्ति,

२—सर्वहारा का अधिनायकत्व, और

३—वितरण की समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्थाएँ।

सर्वहारा की क्रान्ति

मार्क्स ने घोषित किया था कि सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद से जन्म लेकर उसी की कब्र खोदता है और उसके विनाश के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। सामाजिक क्राति इन्ही मजदूरो के बल पर सभव है, क्योकि उनका ऐसा कोई भी स्वार्थ नही है, जो उन्हे इस क्राति से अलग कर सके। समाज के दूसरे वर्ग अपने स्वार्थों के कारण पूंजीपतियो से आबद्ध रहते हैं। अतएव क्राति की ज्वाला उनके माध्यम से नही उठ सकती। वे अधिक-से-अधिक सुधार की बात कर सकते है। सर्वहारा की क्राति की सबसे बडी विशेषता होगी समाज को वर्गीय भावना से मुक्त करके उसके भीतर साम्यवाद का प्रसार। सर्वहारा की क्राति के पूर्व भी अनेक क्रातियाँ हो चुकी हैं। किन्तु ये क्रातियाँ एक शोषक वर्ग के द्वारा दूसरे शोषक वर्ग के विरुद्ध सम्पन्न हुई है। और यही कारण है कि शोषण की प्रक्रिया समाज मे निरन्तर प्रवहमान है। सामन्त-युग मे शोषक सामन्त था और पूंजीवादी युग मे शोषक पूंजीपति है। परन्तु मजदूरो के द्वारा अब जो क्राति होगी, उसमे शोषक-वर्ग के साथ ही साथ शोषण की प्रक्रिया को भी मौत के घाट उतरना होगा। शोषण-प्रक्रिया की जन्मदात्री अतिरिक्त मूल्यवाली व्यवस्था को समाप्त कर देना ही इसका तात्कालिक उद्देश्य है।

सामान्य रूप से सर्वहारा की क्रान्ति से सशस्त्र क्राति का अर्थ लगाया जाता है। मार्क्स का कथन है, "साम्यवादी खुले आम घोषणा करता है कि उसकी लक्ष्य-प्राप्ति समस्त प्रतिष्ठित ढाँचे को बलपूर्वक उखाड़ फेकने से ही संभव है।" बाद में मार्क्स ने

सन् १८७२ ई० मे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सघ मे घोषित किया कि, "हम दृढतापूर्वक यह नही कहते कि साधन निश्चित रूप से इस लक्ष्य (श्रमिक स्वातंत्र्य) की प्राप्ति के लिए सभी जगह एक ही प्रकार के प्रयुक्त किए जाएँगे। हमे विभिन्न देशों के सस्थान, रीति-रिवाज और परम्पराओ को भी जानना होगा। जैसे अमेरिका और ग्रेटब्रिटेन। और यदि मुझे आपके सस्थानो का भली भाँति ज्ञान है तो मैं हालैंड को भी शामिल करता हूँ, जहाँ श्रमिक अपने उद्देश्य की प्राप्ति शातिमय साधनों द्वारा करने में समर्थ होगे।'[1] 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो' की भूमिका मे एगल्स ने भी लिखा है—"हम क्रातिकारी और राज्य के उलटनेवाले गैरकानूनी उपायों की अपेक्षा कानूनी उपायों का आश्रय लेकर कही अधिक सफलता प्राप्त करते हैं।" सचमुच मार्क्स आतकवाद का घोर विरोधी था। अतएव हिंसा मे वह कैसे विश्वास कर सकता था? मजदूरो के लिए हिंसा को वह हानिकर मानता था। कम्यूनिस्ट लीग को भग करने के बाद वह कभी किसी क्रान्तिकारी षड्यत्र मे सम्मिलित नही हुआ। वह क्राति का उसी स्थिति मे समर्थन करता था, जब देश क्राति चाहता हो। परन्तु धीरे-धीरे मार्क्सवाद के अनुयायियो ने मार्क्स के शातिमय साधनों को तिलाजलि दे दी और उसकी सशस्त्र क्रातिवाली पद्धति को बडे आग्रह से स्वीकार कर लिया। लेनिन के मतानुसार साम्यवाद की स्थापना का एकमात्र साधन क्राति है। मार्क्सवादियों का दृढ विश्वास है कि नये समाज का आविर्भाव ससद द्वारा नही, अपितु सशस्त्र क्राति द्वारा ही सभव है, क्योकि ससद के द्वारा मालिको का ही परिवर्तन होता है, उनके कार्यों का नही। मजदूरो की सशस्त्र क्रांति की ज्वाला मे पूंजीवादी वर्ग को ही नही, वरन् क्रातिविरोधी षड्यत्रो को भी भस्मसात कर देना होगा। अतएव मार्क्सवादी नये समाज के जन्म के लिए क्राति को आवश्यक मानते है।

मार्क्स ने यह घोषित किया था कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे सर्वहारा की क्राति होगी। उसने यह भी कहा था कि यह क्राति मजदूरो द्वारा पूंजीपतियो के

---

१. "We do not claim that the means necessary for bringing about this aim (the emancipation of labour) will be the same everywhere. We must know that we must take account of these institutions, customs, and traditions of various countries; such as the United States, and Great Britain and if I know your institution better, I should perhaps add Holand where the workers will be able to achieve their aims by peaceful means."

विरुद्ध छेडी जायगी। किन्तु साम्यवादी क्रांति के जितने भी उदाहरण हमारे सामने उपस्थित है, वे सभी मार्क्स के कथन से शत-प्रतिशत मेल नही खाते। रूस मे जारशाही को पलटने के लिए जो क्रांति हुई थी, वह उस समय हुई जब रूस मे औद्योगिक विकास अपनी आरभिक अवस्था में ही था। वस्तुतः रूस उस समय पूँजीपतियो का नही, वरन् सामन्तो के शोषण का शिकार था। चीनी क्राति रूसी क्राति से भी दो कदम आगे है। चीन मे क्राति मजदूरो के द्वारा नही वरन्, किसानो के द्वारा अपने मालिको के खिलाफ की गयी। इसका यह तात्पर्य नही कि क्राति के सम्बन्ध मे मार्क्स की जो धारणा थी, वह विल्कुल गलत थी। वस्तुतः मार्क्स एक विचारक था। प्रत्येक विचारक अपने युग की परिस्थितियो से प्रभावित होता है। मार्क्स के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। मार्क्स ने जिन श्रमिक क्रातियो मे सक्रिय भाग लिया था, वे क्रातियाँ औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशो मे हुई थी। पूँजीवाद साम्राज्यवाद मे परिणत हो रहा था। अतएव मार्क्स की क्रातिवादी धारणाएँ तत्कालीन परिस्थितियो मे सर्वथा उचित एव ग्राह्य प्रतीत होती है। मार्क्स गणित के सूत्रो का प्रतिपादन नही कर रहा था, जिन्हें सदैव एक ही कसौटी पर कसा जाय। वह समाज की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत कर रहा था, जिन्हे बदलते हुए युग के सदर्भों मे देखना होगा, बदलती हुई परिस्थितियो मे जिनका सकेतात्मक मूल्य ग्रहण करना होगा।

सर्वहारा का अधिनायकत्व

सर्वहारा की क्राति के पश्चात् का काल दो भागो मे विभाजित होगा —(१) सक्रमणकालीन समाजवाद, और (२) वर्गरहित साम्यवादी समाज। सक्रमणकाल में सर्वहारा का एकमात्र उद्देश्य क्राति के शत्रुओ को सर्वदा के लिए समाप्त कर देना होगा, जिससे उसकी सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई न रह सके। एगल्स के मतानुसार क्राति मे विजयी होनेवाली पार्टी के लिए यह आवश्यक होगा कि वह अपने शासन को बनाये रखने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियो को अपने नियत्रण मे रखे। लेनिन भी इस बात को स्वीकार करता था कि क्राति के समय शोषक वर्ग काफी समय तक बडी उग्रता के साथ क्रातिकारियो का विरोध करता रहेगा। इतना ही नही, अतिम तीव्र सघर्ष के पहले बहुसख्यक मजदूरो के सम्मुख वह समर्पित नही होगा। इसलिए सर्वहारा वर्ग को अपने अधिनायकत्व की स्थापना निश्चित रूप से करनी होगी। इस अधिनायकत्व मे दूसरे किसी भी वर्ग अथवा दल को सत्ता एवं अधिकार नही प्राप्त होगा। इस अवधि मे पूंजीवादी तत्वो को समूल नष्ट करने के लिए इसकी कार्य-प्रणाली कठोर एवं दमनात्मक होगी। इस सक्रमण-काल मे राज्य का भी प्रयोग होगा। मार्क्स के मतानुसार श्रमिक बूर्जुआ वर्ग के विरोध को समाप्त करने के लिए राज्य को अस्थायी रूप से क्रांतिकारी सस्था के

रूप मे स्थापित करते है। परिणामस्वरूप इस सक्रमण-काल मे राज्य दमनात्मक, स्वेच्छाचारी एव अजनतात्रिक होगा। उसका प्रयोग विनाशकारी तत्वो के उन्मूलन के लिए होगा। एगल्स भी राज्य की आवश्यकता स्वतत्रता के लिए नही, वरन् विरोधियो के दमन के लिए मानता है।

सर्वहारा के अधिनायकत्व के इस सक्रमण काल मे उत्पादन के समस्त साधनो पर राज्य का अधिकार होगा। हर व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार काम करना होगा और हर श्रमिक को उसके कार्यानुसार वेतन प्राप्त होगा। वितरण की समाजवादी मजिल यही से कार्य करना आरम्भ कर देती है। वितरण की इस व्यवस्था मे मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नही रहता। हर मजदूर उतनी मजदूरी पाता है, जितनी उत्पत्ति करता है, उत्पत्ति के केवल उस भाग को छोडकर जो अपरिवर्तनीय पूँजी (कास्टेट कैपिटल) है। तत्कालीन अवस्था मे समाज की अर्थ-नीति होगी—"प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और प्रत्येक को उसके कार्यानुसार मजदूरी मिलेगी।"[1] यही से समाजवाद का प्रसार होगा। अब समाज मे न तो कोई बेकार होगा और न ही किसी को कम मजदूरी मिलेगी और न ही कोई ऐसा पूँजीपति होगा, जो अतिरिक्त मूल्य को हड़प सके। इस समाज मे न कम उत्पादन होगा और न अधिक, जिससे माँग और पूर्ति मे असन्तुलन आ सके। अतएव आर्थिक संकट (इकानामिक क्रिसिस) के लिए भी अवसर नही होगा। सक्षेप मे, यहाँ पर उत्पादन का आधार सामाजिक उपयोगिता होगी, न कि लाभ कमाने की प्रवृत्ति।

वर्गविहीन समाज

संक्रमण काल में धीरे-धीरे जब सघर्ष एव वर्गीय भावना का अन्त हो जायगा, तो समाज मे राज्य जैसी दमनात्मक सस्था की आवश्यकता नही रहेगी। उत्पादन के सभी साधन समाज के अधिकार मे होगे। श्रम समाज की सम्पत्ति होगा। उत्पादन-व्यवस्था कुछ इस प्रकार होगी कि उत्पादक स्वेच्छया परस्पर सहयोग करने के लिए आकुल रहेगे। ऐसी स्थिति मे शासन व्यक्तियो पर से उठकर वस्तुओ पर होने लगेगा और शासन का कार्य उत्पादन-व्यवस्था का सचालन होगा। उत्पादन व्यवस्था इतनी विकसित होगी कि गाँवो और शहरो की दूरी अपने-आप मिट जायगी। सर्वत्र उन्नति और सुविधा लक्षित होगी। ऐसे ही समाज मे वितरण की साम्यवादी मजिल दिखाई पडेगी जिसका आर्थिक सूत्र होगा—"योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनु-

---

१. "........From each according to his ability to each according to his work."

सार वेतन।"[1] वर्गहीन समाज की इस साम्यवादी मंजिल में राज्य के स्थान पर सार्वजनिक व्यवस्था कार्य करेगी। राज्य-व्यवस्था के समस्त दूषणों का यहाँ अभाव हो जायगा। इस व्यवस्था मे काम करने के योग्य हर व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करके उत्पादन व्यवस्था को आगे वढ़ाएगा और हर व्यक्ति की जरूरी आवश्यकताओ की पूर्ति की जायगी।

साम्यवादी मजिल के अर्थसूत्र के उत्तरार्ध का 'each' शब्द विचारणीय है। क्या 'each' से तात्पर्य उस प्रत्येक श्रमिक से है, जो उत्पादन व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेता है? अथवा समाज का हर व्यक्ति चाहे कार्य कर सकता हो या असमर्थतावश उत्पादन व्यवस्था मे सहयोग न दे पाता हो? इस सम्बन्ध मे दो भिन्न विचार दिखाई पडते है। एक वर्ग का अभिप्राय केवल कार्य कर सकने वालो से है और दूसरे का अभिप्राय है हरेक व्यक्ति से। पहले विचार के समर्थक स्टालिन हैं। स्टालिन का मत है— "मार्क्सवाद का अर्थ होता है वर्गो का अत कर देना, अर्थात् अपनी योग्यतानुसार हर व्यक्ति का सामान्य रूप से यह कर्त्तव्य है काम करने का और हर काम करनेवाले श्रमिक का सामान्य रूप से अधिकार है अपनी आवश्यकतानुसार वेतन पाने का।"[2] दूसरी ओर जॉन सोमरविली के मतानुसार, "साम्यवाद समाजवाद का अगला सोपान है।.........ऐसा प्रतीत होता है कि साम्यवादी समाज मे व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक की आवश्यकता पूरी की जाए। इस सूत्र का प्रयोग किया जाना संभव हो सकेगा। दूसरे शब्दो मे, जब उत्पादन-शक्ति काफी ऊँचाई पर पहुँच जाएगी तब यह आशा की जा सकती है कि उत्पादित वस्तुएँ इतनी अधिक होंगी कि हर व्यक्ति हर चीज को, जिसकी उसे आवश्यकता हो, जिसे वह समुचित रूप से प्रयोग कर सके, प्राप्त कर सकेगा।"[3]

---

१. "From each according to his ability to each according to his needs."

२. "Marxism means........abolition of classes, ~~i.e.........~~ the equal duty of all towards according to their ability and the equal right of all working people, to receive remuneration according to their need."
—Communist Society.

३. "Communism, however, is expected to be further than socialism. ......It is felt that........it will become possible to apply the principle, 'from each

उपर्युक्त सूत्र का 'each' शब्द निर्विशेष है। अतएव यह कहना कि उसका प्रयोग केवल काम करनेवालो के लिए हुआ है (जो कि स्टालिन का मत है), ठीक नही प्रतीत होता। साम्यवाद जिसका उद्देश्य समता का प्रसार करना और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है, समाज मे कैसे किसी को भूखा देख सकेगा, भले ही वह अपाहिज क्यों न हो। निश्चित रूप से असहाय व्यक्तियों का जीवन समाज के योग्य व्यक्तियों की कमाई पर निर्भर होगा। मार्क्सवाद की दृष्टि से यही उचित और न्याय-सगत प्रतीत होता है। अतएव सोमरविली द्वारा प्रस्तुत 'each' शब्द की व्याख्या ही ग्राह्य है।

समाज जब उत्पादन के इस धरातल पर पहुँच जायगा तो सामाजिक व्यक्ति के भीतर बौद्धिक और नैतिक विकास के साथ-साथ मानव-प्रेम का भी इतना विकास होगा कि वह प्रसन्नतापूर्वक अपनी शक्ति-भर उत्पादन कार्य करेगा। उत्पाद्य को स्वयं के लिए न सचित करके समाज को स्वेच्छया अर्पित कर देगा। परिणाम होगा काम करने के योग्य और अयोग्य—सभी व्यक्तियो की आवश्यकताएँ अपने-आप पूरी होती रहेगी। समाज की इस अवस्था मे सार्वजनिक श्रम-शक्ति का पूर्ण उपयोग होगा। उत्पादन इतना अधिक होगा कि किसी को भी अपनी आजीविका के लिए चिंतित होने का अवसर ही न आएगा। जब समाज अपने इस चरम रूप को प्राप्त कर लेगा तो वैयक्तिकता के स्थान पर सामूहिकता का प्रसार होगा। यही सामूहिकता की भावना लोगो को कार्य की ओर अग्रसर करेगी। वर्गविहीन समाज का मूल मन्त्र प्रगति है। समाज मे रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक भावना से निरन्तर उत्प्रेरित होता हुआ सामाजिक नियमो का पालन करेगा। सामाजिक उत्थान मे अपनी पूरी शक्ति से सहयोग प्रदान करेगा। यहाँ पर राज्य का अपने आप लोप हो जायगा (द स्टेट विल विदर अवे)। तात्पर्य यह कि न सेना होगी, न पुलिस, न राज्य के कर्मचारी। यही पर सच्चे समाजवादी समाज का उदय होगा। मार्क्स और एगल्स के राज्य-लोप के सम्बन्ध मे रूसी साम्यवादियो का कुछ अपना मत है। उनके मतानुसार मार्क्स और एंगल्स का तात्पर्य यह नही था कि सक्रमण-काल के बाद वर्गविहीन समाज के स्थापित हो जाने पर राज्य का लोप हो

---

according to ability to each according to need. In other words when the level of production power is sufficiently high, it is expected that the resultant qualities of goods will be great enough for anyone to avail himself of anything he needs, anything he can properly use."

—John Somervilles' Soviet Philosophy, pp. 36

जायगा। वस्तुतः उनका आशय था, राज्य के वर्गीय रूप का लोप। वर्गविहीन समाज में राज्य एक वर्गीय संगठन न होकर जन-सस्था का रूप धारण कर लेगा। उसके दमनात्मक रूप की परिणति जनवाद मे होगी, जिसमे समस्त जनता का प्रतिनिधित्व होगा। लेनिन ने स्पष्ट कहा था—"हम कल्पनावादी नही है, हम भली भाँति जानते हैं कि समाज दुष्ट, अपराधी और अत्याचारी लोगो से सदैव परिपूर्ण रहेगा और उनके नियन्त्रण के लिए हमेशा राज्य की आवश्यकता पडती रहेगी। वस्तुतः राज्य का लोप तब तक सभव नही है जब तक विश्व के सभी देश समाजवादी खेमे मे नही आ जाते। चारो ओर पूंजीवादी राष्ट्रो के बने रहने पर राज्य-लोप की कल्पना बौद्धिक विकृति की द्योतक होगी और अपने पैरो पर कुल्हाडी मारना होगा।"

मार्क्सवाद हर व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार आगे बढने का समान अवसर देने का पक्षपाती है। मार्क्स ने इसीलिए बूर्जुआ पद्धति मे बच्चो के प्रति श्रमिक माता-पिता के द्वारा किए जानेवाले क्रूर शोषण का विरोध किया और उसने सभी बच्चों के पालन-पोषण का भार समाज (राज्य) के ऊपर सौपा। अपने विरोधियो का उत्तर देते हुए मार्क्स ने यह भी बताया कि शिक्षण-सस्थाओ मे समाज के द्वारा परिस्थितियो के अनुरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप होता रहा है। मार्क्स की शिक्षा-योजना मे शिक्षा को अधिकारी वर्ग (रूलिंग क्लास) से मुक्त करने का प्रयास है। जिस समाज मे 'स्टेट' बालक-बालिकाओ को उनके जन्मकाल से ही अपने अधिकार मे ले लेता है और उन्हे योग्य बनाता है, उस समाज मे समान अवसर न सुलभ हो, यह कैसे माना जा सकता है? संक्षेप मे, मार्क्सवादियो द्वारा (कल्पित) वर्गविहीन समाज मे हर व्यक्ति को आगे बढने का समान अवसर प्राप्त होगा। अपनी योग्यतानुसार कार्य करना हर व्यक्ति का निजी उत्तरदायित्व होगा और अन्त मे हर व्यक्ति को उत्पादित अश के (उप) भोग का समान अधिकार प्राप्त होगा। अतएव न कोई धनी होगा, न गरीब। न कोई अत्यधिक सुख के कारण विलासिता मे मग्न होगा और न ही कोई दारिद्र्य की आँच मे झुलसता हुआ तडपता और रोता मिलेगा।

—:o:—

अध्याय दो : मार्क्सवाद और साहित्य

(१) साहित्य के परम्परागत मूल्य और मार्क्सवाद

साहित्य [illegible] अनुरूप निर्मित होता है। [illegible] की परि-स्थितियाँ जिस प्रकार दर्शन को [illegible] सामान्य रूप से किसी-न-किसी [illegible] भी परिलक्षित होती हुई दिखाई देती है। [illegible] साहित्यिक मूल्यों के सम्बन्ध में [illegible] परम शक्तिमान सत्ता—की [illegible] उनके मूल्यांकन की दिशा में [illegible] उनका आभास दिखाई पड़ा। प्लेटो ने [illegible] काव्य) माना। [illegible] सच्चा अनुकरण [illegible] में असमर्थ [illegible] को वास्तविक सत्ता [illegible] था। अरस्तू ने [illegible] क्षेत्र में जो परिवर्तन हुआ, साहित्यिक मूल्यों में [illegible] दिखाई पड़ा, उसके मूल में यदि कहा जाय कि अरस्तू की दार्शनिक उपलब्धियाँ [illegible] कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रायः दार्शनिक स्थायी और शाश्वत सत्य की खोज में सचेष्ट रहे हैं। इस क्षेत्र में भारतीय दर्शन बेजोड़ है। हमारे यहाँ के दार्शनिकों ने एक ऐसे ब्रह्म की कल्पना की, जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त, सनातन, क्रिया-हीन एवं अनुभूति का विषय रहा। उस ब्रह्म का साक्षात्कार यदि एक ओर भौतिक बन्धनों से मुक्ति प्रदान करता था तो दूसरी ओर आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ था।

दर्शन किसी-न-किसी रूप में साहित्य में अपनी अभिव्यक्ति पा ही लेता है। प्राचीन काल से भारतीय साहित्य युगीन जीवन-दर्शन की व्याख्या करता रहा। दर्शन के क्षेत्र में जब ब्रह्मवाद और साधक को प्राप्त होनेवाले ब्रह्मानंद की स्थापना का कार्य लगभग पूरा हो चुका था, साहित्यकारों ने सजग होकर उन्हें अपनी सरस भावधारा में उतारने का प्रयास किया। साहित्य के क्षेत्र में ब्रह्मवाद से अनुप्रेरित जिस दार्शनिकता को प्रश्रय मिला, वह योगियों एवं दार्शनिकों की कोरी तर्कमयी दार्शनिकता से भिन्न,

सर्वसाधारण सामाजिको (सहृदयो) के हृदय मे आनंद की धारा बहानेवाली कवि की भाव-सवलित चेतना थी। साहित्य-शास्त्रियो ने, जिनमे अधिकाश दार्शनिक अथवा दर्शन से प्रभावित थे, जव प्राचीन भारतीय साहित्य के मूल्याकन का कार्य आरभ किया तो उन्होंने किसी-न-किसी रूप मे रसवाद को आगे वढाया। भरत मुनि ने नाटक के मानदण्ड के रूप मे रस-सिद्धान्त की अक्षुण्ण स्थापना की, जो कालान्तर मे काव्य का व्यापक लक्ष्य माना गया। रसवाद के विरोधी आचार्य भामह, वामन, दण्डी, आनन्द-वर्द्धन एव कुन्तक भी 'रस' की महत्वपूर्ण स्थिति का खण्डन नही कर सके। सक्षेप मे, जिस रस-तत्व की स्थापना आचार्य भरत ने की थी, भारतीय काव्यशास्त्र मे वही काव्य का लक्ष्य स्वीकृत हुआ। अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति जितने भी सम्प्रदाय आगे चलकर साहित्यिक मूल्यो के रूप मे स्थापित हुए, वे सभी अन्ततः काव्य के लक्ष्य 'रस' को व्यक्त करने के माध्यम वने।

'रस' की प्रतीति 'सहृदय' को होती है। 'सहृदय' सामाजिक प्राणी है। काव्य में वर्णित भाव सामाजिक भावो से अभिन्न है। किन्तु हर प्रकार के भाव 'सहृदय' को आनन्द देने मे अक्षम है। साधारणीकृत भाव और परिस्थितियाँ ही 'सहृदय' की रसानुभूति के क्षेत्र है। इस प्रकार भरत मुनि ने रस-तत्व की स्थापना करते हुए समाज के अस्तित्व को स्वीकार किया। 'सहृदय' एक से अधिक हृदयो की कल्पना पर आधारित है और ऐसे हृदयों की कल्पना पर जो भाव-वोध के किसी धरातल पर एकत्र हो सकने में सक्षम हैं। इसलिए 'सहृदय' शब्द स्वयं काव्य के सामाजिक पक्ष का द्योतक है। परन्तु आचार्य भरत ने अपनी व्याख्या मे समाज को कही भी प्रधानता नही दी। वास्तव मे यह भरत का दोष न था, अपितु उनके युग की वैयक्तिकता, शाश्वतवादी मनोवृत्ति और अनुभवगम्य दार्शनिक ब्रह्मवाद इसके मूल मे कार्य कर रहे थे। 'रस' को हमारे यहाँ सुख-दुःख से परे शाश्वत आनन्द के रूप मे स्वीकार किया गया है। भारतीय मनीषियो ने यह भी स्वीकार किया है कि 'रस' हर व्यक्ति की नही, 'सहृदय' की संवेदना को ही जाग्रत करने का दायित्व वहन करता है। 'सहृदय' और कोई नही, मात्र काव्य-मर्मज्ञ होता है। साराश यह कि भारतीय चिन्तन के मूल मे कार्य करनेवाली व्यक्तिपरकता ने भारतीय साहित्यिक मूल्याकन पर अपनी जवर्दस्त छाप छोडी।

(२) कला : मार्क्सवादी दृष्टि से

मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन है। मार्क्स ने दर्शन के क्षेत्र मे व्यक्ति के स्थान पर समाज को स्थापित कर एक युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित किया। मार्क्सवाद, जिसने जीवन, समाज एव सृष्टि की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की, सर्वत्र गतिशीलता और विकास को देखने का दावा करता है। मार्क्सवाद मानता

है कि मनुष्य, समाज के ऐतिहासिक विकास को नही लाँघ सकता ।" जिस सत्य तक मनुष्य जाति की आगामी लाखो पीढियाँ पहुँचेगी, उस तक आज ही किसी एक मनुष्य के लिए पहुँच सकना सभव नही है। या तो हम इससे इन्कार कर दें कि मनुष्य का इतिहास विकास का एक क्रम है या फिर शाश्वत सत्य की मरीचिका से मुँह फेरना होगा।"[१] मार्क्सवाद अतिम पीढी की बात नही करता और न यही कहता है कि जो कुछ इसका चिन्तन है, वही सत्य और अन्तिम है। वह स्वय की व्याख्या को शाश्वत न मानकर युग के समस्त साधनो का प्रतिफलन और प्राचीनता की विरासत मानता है। मार्क्स के इस क्रातिकारी जीवन-दर्शन ने आधुनिक युग के हर क्षेत्र को प्रभावित किया है। साहित्यिक मूल्यो के क्षेत्र मे मार्क्सवादी विचारको ने जो अभूतपूर्व कार्य किया, वह है व्यक्ति के स्थान पर समाज की प्रतिष्ठा। मार्क्सवाद ने भाववादियो के चिरन्तन स्थायित्व के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाया और साहित्य मे देशकाल-सापेक्ष, सतत गतिशील भावों की स्थापना की, जिससे समाज निरन्तर विकास की प्रेरणा प्राप्त करता है।

(३) कतिपय साहित्य सम्बन्धी प्रश्न और मार्क्सवाद

भूततत्व : भाव

मार्क्सवाद की स्थापना है कि भूततत्व ही सत्य है। सृष्टि के मूल मे एकमात्र क्रियाशील तत्व भूत अथवा पदार्थ है। विश्व की जितनी भी वस्तुएँ अथवा निर्मितियाँ है, उन सबमे भूततत्व की विकासात्मक प्रक्रिया कार्य करती है। मनुष्य के अस्तित्व के मूल मे भी यही भूत निर्णायक तत्व के रूप मे काम करता है। मानव-अस्तित्व उसकी चेतना पर निर्भर है। इस चेतना का विकास मूल रूप से वस्तुजगत् के स्थूल अस्तित्व से अर्थात् पदार्थ से सभव हुआ है—'बिइग डिटरमिंस द कान्शसनेस।' भूत और चेतना—बाह्य और अन्तर्जगत् के सम्बन्ध मे मार्क्स का मूलभूत सिद्धांत यही है। वस्तु जगत् के बाह्यनिष्ठ अस्तित्व मे मार्क्सवाद का प्रबल विश्वास है। उसके अनुसार जीवन के भौतिक आधार और हमारे एद्रिय जगत् की स्थूल आवश्यकताओ का प्रभाव मानव के चेतना जगत् पर अनिवार्य रूप से पडता है। उनके अनुरूप मानव आत्मा मे विचारो, भावो और अनुभवो का निर्माण होता है। दूसरे शब्दो मे, परिस्थितियो के अनुरूप भावनाओ का जन्म होता है। चूँकि भौतिक परिस्थितियो मे निरन्तर विकास होता रहता है, अतएव सामाजिक भावो मे तदनुरूप विकास परिलक्षित होता है। समाज के ऐतिहासिक विकास-क्रम के मूल मे उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ क्रियाशील रहती है। अर्थ-नीतिक अवस्थाओ के अनुरूप हमारे समाज का विकास हुआ है। भावो

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा-साहित्य और सस्कृति, पृ० १५७

और विचारो की विकासशीलता मे अर्थ-तत्व सर्वाधिक प्रेरक सिद्ध होता है। आर्थिक परिवर्तन से मनुष्य की धारणाओ में अनिवार्यतः परिवर्तन होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य आर्थिक एव भौतिक परिस्थितियो का दास है। भाववादियो ने चेतना और ईश्वरवाद की असीम सत्ता स्वीकार करके मनुष्य को उस अज्ञात सत्ता के हाथ की कठपुतली बना दिया था। मार्क्स ने ससार मे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को अनिवार्य एव आवश्यक बताते हुए घोषणा की कि अब तक के दर्शन ने ससार की व्याख्या की है, किन्तु अब उसे ससार को बदलना होगा। अर्थात्, मार्क्स ने परोक्ष रूप से समाज के भीतर रहनेवाले व्यक्तियो मे वह वैप्लविक शक्ति भर दी जिससे वे अदृष्ट को भी नियन्त्रित करने मे समर्थ सिद्ध हुए।

भौतिकवाद

साहित्य का क्षेत्र भाव-जगत् है। साहित्यकार सदैव सामाजिक परिस्थितियो से उद्भूत भावो को स्वर देकर उन्हे समाज की व्यवस्था के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। साहित्यकार का भाव-जगत् सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होकर समाज को उसी के अनुरूप आचरण करने के लिए प्रेरित करता है। परन्तु कभी-कभी भाव-जगत् मे परिवर्तन होने के कारण वह सामाजिक चेतना मे एक नया मोड ले आने का भी प्रयास करता है।

उत्पादन-व्यवस्था के कारण मानवीय सम्बन्धो मे अनेक परिवर्तन हुए है। सामाजिक गठन मे जो परिवर्तन निरन्तर उपस्थित होते रहे, उनका समाज-मानस पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। ऐतिहासिक विकास-क्रम मे आरम्भ मे ये परिवर्तन उतने स्पष्ट नही दिखाई पडे जितने कि बाद मे। जब वर्ग-मूलक समाज अस्तित्व मे आया, परिवर्तन की रेखाएँ समाज के हर क्षेत्र मे स्पष्ट प्रकट होने लगी। साहित्यकार समाज-मानस और उसकी भावधारा का व्याख्याता होता है। अतः वह वर्गीय भावना से कैसे पृथक रह सकता था? साहित्य आरम्भ से ही श्रेणीबद्ध समाज की आशाओ एव आकाक्षाओ को अभिव्यक्ति देता रहा। आरम्भिक साम्यवादी समाज (प्रीमिटिव कम्यूनिस्टिक एज) के पश्चात् जब समाज मे दो वर्ग-अधिकारी और अधिकृत, शोषक और शोषित, सम्पन्न और विपन्न उत्पन्न हुए, तब यह बहुत स्वाभाविक था कि अधिकारी वर्ग समाज के हर क्षेत्र मे अपना प्रभुत्व कायम करता। हुआ भी ऐसा ही। प्रभुओ ने न केवल दासो का शोषण किया, वरन् उनके द्वारा कलाकारो का भी शोषण हुआ। उन्होने साहित्य और कला को अपनी तथाकथित आदर्शवादी शासन-व्यवस्था को श्रेष्ठ एवं अनुकरणीय सिद्ध करने का माध्यम बनाया। दास-युग के कलाकार ही नही, सामन्तवादी और पूंजीवादी युग के कलाकर भी तत् तत् व्यवस्थाओ में पलकर उन्हीं

से प्रेरणा लेकर उन्ही व्यवस्थाओ को अपनी वाणी से अमर करने का प्रयास करते रहे। और वडे मजे की वात तो यह है कि आज आलोचको का एक वर्ग उनको मानवतावादी, आदर्शवादी एव व्यक्तिवादी परिवेशो मे वॉधकर अतीत के उन महान साधको को स्वतन्त्र चेतना-सम्पन्न साहित्यकार होने का फतवा देता है।

वर्ग-संघर्ष

मार्क्सवादी कला और साहित्य को वर्ग-भावना से भिन्न नही मानता। मार्क्सवाद तटस्थता को प्रश्रय नही देता। वह अनिवार्य रूप से समाज में दो वर्गो—श्रमिक और पूंजीपति के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आज उसका लक्ष्य श्रमिक क्रान्ति के द्वारा पूंजीवाद का विनाश और वर्गहीन समाज की रचना है। अतएव साहित्य या तो श्रमिको द्वारा परिचालित क्राति को पोषण, प्रश्रय और निर्देश देकर उसे आगे वढाएगा अथवा शासको, पूंजीपतियों का गुणगान करेगा। इसके अलावा उसके लिए कोई दूसरा रास्ता ही नही है। मार्क्सवाद के अनुसार सच्चा और जीवित साहित्य सामाजिक क्रान्ति के आधार पर वर्गहीन समाज की स्थापना मे सहायता प्रदान करने वाला एक प्रवल अस्त्र है। मार्क्सवादी दृष्टि मे वही साहित्य साहित्य-पद का अधिकारी है जो वर्ग-सघर्प मे सहायता प्रदान करता है। लेनिन साहित्य को वर्ग-सघर्प का एक जवर्दस्त अस्त्र स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि मे साहित्य जनता को राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करता है।[1]

वर्ग-सघर्प की स्थिति मे साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे विरोधी धाराओं का उदय स्वाभाविक था। साहित्य मे शोषित वर्ग सदैव उपेक्षित रहा हो, ऐसा नही कहा जा सकता, यद्यपि यह अधिक सही है कि शासक समर्थित भावधारा हमेशा प्रधान रही है। शासक अपने जीवनादर्श को मानवतावादी अथवा लोक-हितैषी कहकर सदैव प्रचारित करते रहे हैं। सामन्तयुगीन साहित्य मे इसी आदर्श को प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। पूंजीवादी व्यवस्था ने जब सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त कर

---

१. Literature of Art, "Spiritual production" according to expression of Marx, has always been regarded by Lenin and the Party as a powerful weapon in the Class-struggle...in Lenin's view it (Art) is the most powerful weapon in the political education of the masses"

—Lenin on Art & Literature, pp.80

आर्थिक क्षेत्र मे निर्बाध व्यापारिक स्वतंत्रता का दावा किया तो उसे अपने स्वार्थो को प्रश्रय देने के लिए व्यक्ति-स्वातत्र्य की घोषणा करनी पडी। इस वैयक्तिक स्वतत्रता के मूल मे शोषण को संभव बनाने का उद्देश्य छिपा था। बूर्जुआ साहित्य मे बूर्जुआ जीवनादर्श का प्रतिफलन स्वाभाविक था। किन्तु उस साहित्य मे मानव की सच्ची स्वाधीनता का स्वर भी किसी-न-किसी रूप में व्यक्त हुआ है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था जिस प्रकार अपने अन्तर्विरोधो के कारण सर्वहारा को सगठित होकर आगे आने का अवसर प्रदान करती है, उसी प्रकार बूर्जुआ साहित्य और सस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व भी मानव-स्वाधीनता के लिए परोक्ष रूप से राह देने का काम करते है। महान कलाकार ने प्रायः हर युग मे सामान्य मानव की भावधारा को किसी-न-किसी रूप मे व्यक्त किया है, यद्यपि उसके साहित्य का मूल स्वर युगीन व्यवस्था ही रही है। लेनिन तालस्ताय की आलोचना के सदर्भ मे इसी को साहित्यकार की असंगति (कांट्रेडिक्शस) मानता है। क्राति के दर्पण तालस्ताय मे लेनिन ने यदि एक ओर समाज की सच्ची आलोचना देखी तो दूसरी ओर उसमे देहाती जमीनदार का रूप भी उभरता पाया, जो ईसामसीह के पीछे पागल बना घूमता है। खुले आम अपनी छाती पीटते हुए और चिल्लाते हुए दिखाई पडता है, "मैं पतित हूँ, मैं नीच हूँ, लेकिन मैं अपना नैतिक धरातल ऊँचा कर रहा हूँ। मैंने गोश्त खाना बिल्कुल छोड़ दिया है और सिर्फ चावल पर ही दिन गुजारता हूँ।"[१] यही कारण है कि विशेष वर्ग-समाज के लुप्त हो जाने पर भी तत्कालीन साहित्य और सस्कृति बिल्कुल अप्रचलित और अग्राह्य नही होती। प्राचीन साहित्य का आवेदन आज भी पाठक को आनन्द देता है। वह इसलिए कि उसमें कही-न-कही सर्व मानव की मुक्ति-कामना अन्तर्निहित है। स्वाधीन, स्वच्छन्द, शोषण-मुक्त समाज-विकास की भावना वर्ग-विशेष की कामना से आच्छन्न तो हुई, पर बिल्कुल नष्ट नही हुई। साहित्य और सस्कृति के भीतर उपलब्ध होनेवाली मानव-स्वाधीनता का यह खण्डित रूप ही प्रगति के रूप मे सदैव महान साहित्यकारो मे दिखाई देता रहा। मर्क्सवाद मानव की इसी स्वाधीनता को यथार्थ के धरातल पर रूपायित करने का प्रयास है। अतः मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्यो के क्षेत्र मे यदि इसका आग्रह हो तो कोई आश्चर्य नही।[२]

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा-साहित्य और सस्कृति, पृ० २३०-३१

२. It (Marxism) is the revelation again of the broadest possible human values and situations holding a significance far beyond class or period. Marx again and again stresses this pure huma-

द्वन्द्वात्मकता

मार्क्सवाद जीवन और जगत मे सर्वत्र द्वन्द्वात्मक स्थिति को स्वीकार करता है। वाद, प्रतिवाद और सवाद (थीसिस, एटीथीसिस एण्ड सिंथेसिस) की स्थितियो से गुजरता हुआ समाज विकास की मजिल को तय करने का निरन्तर प्रयास करता है। मानवता के विकास का इतिहास क्रिया, प्रतिक्रिया के इस सत्य को स्पष्टतः प्रकट कर चुका है। वस्तु का अन्तर्विरोध उसे स्थिर नही, गत्यात्मक स्वरूप प्रदान करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जीवन को स्थिर न मानकर निरतर गतिशील स्वीकार करता है। गति उसके अनुसार आवश्यक एव अनिवार्य है। गति के प्रवाह मे सतत उन्नति होती रहती है। जीवन के विविध स्वरूप निरन्तर अपने रूप-परिवर्तन मे रत रहते है। सतत विकास की इस प्रक्रिया मे कुछ तो सदैव नया पैदा होता रहता है और उससे नयी उन्नति भी दिखाई पडती है। किन्तु साथ ही कुछ लुप्त होता हुआ तथा अपने रूप को समाप्त करता हुआ भी दिखाई पडता है। भाववादियो के अध्यात्म मे यह चीज नही पायी जाती।[1]

---

nity distorted and crippled by capitalism as by every form of exploitation which socialism alone can finally emancipate and set on the road to self-fulfilment and Russian criticism finds in Shakespeare...also this eternal humanism which runs through all art in all ages, however much its appearance is strictly conditioned by the forms and problems of each age."

—Dr. John Luis, 'What is Marxist Criticism?'; Modern Quarterly Miscellanery No.1.

१. "Contrary to metaphysics, dialectics holds that nature is not a state of rest and immobility, stagaration and immutability, but a state of continuous movement and change of continuous renewal and development, where something is always arising and developing and something always disinstegrating and dying away.

—Dialectical & Historical Materialism; by J Stalin, pp.8-9

द्वन्द्वात्मकता अध्यात्मवाद के विपरीत यह स्वीकार करती है कि अन्तर्विरोध प्रत्येक वस्तु और प्रकृति के व्यापार मे निहित है। अन्तर्विरोध के मूल मे परम्परा अथवा यो कहे कि पूर्ववर्ती स्थितियाँ वर्तमान रहती है, क्योकि प्रत्येक वस्तु के अभावात्मक और भावात्मक दो पक्ष होते है। इन दोनो का सघर्ष स्वाभाविक है। फलतः कुछ मिटता है और कुछ पैदा होता है। मिटनेवाले और जन्म लेनेवाले इन दोनों मे निरन्तर सघर्ष की स्थिति देखी जाती है। पुराने और नये के बीच का युद्ध, मरनेवाले और पैदा होनेवाले के बीच की लडाई विकास के क्रमिक व्यापार का आन्तरिक विषय है। दूसरे शब्दो मे, परिवर्तन का वह भीतरी और मूल तथ्य है। मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन मे बदल जाया करते है।[१]

मार्क्सवादी धारणाओ के अनुसार साहित्य द्वन्द्वात्मकता का प्रस्तोता है। साहित्य सामाजिक अन्तर्विरोधो, जिनके कारण कुछ लुप्त हो रहा है और कुछ जन्म ले रहा है, का चित्र प्रस्तुत करने का सजग प्रयास है। दूसरे शब्दो मे, साहित्यकार सामाजिक गतिविधियो का, निरन्तर परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था का चित्रण प्रस्तुत करता है। कलाकार सामाजिक द्वन्द्वो को साहित्यिक स्वर प्रदान कर समाज-विकास की दिशा मे उनका किसी-न-किसी रूप मे उपयोग करता है। साहित्य का सौन्दर्य इस बात में

---

१. "Contrary to metaphysics, dialectics holds that internal contradictions are inherent in all things and phenomena of nature, for they all have their negative and positive side, a past and a future, something dying away and something developing; and that the struggle between these opposites, the struggle between the old and the new, between that which is dying away and that which is being born, between that which is disappearing and that which is developing, constitutes the eternal content of the process of development, the eternal content of the transformation of quantitative changes into qualitative changes."

—Dialectical & Historical Materialism; by J. Stalin; pp. 13

निहित है कि वह समाज-विकास के लिए सामाजिक सगठन को शक्ति देने में कहाँ तक समर्थ है। सामाजिक शक्ति के सगठन मे परस्परविरोधी शक्तियो का जो सघर्ष है, साहित्य उनका सजीव एव सशक्त चित्रण उपस्थित कर यह स्पष्ट करता है कि उसमे वह सक्रिय भाग ले रहा है। साहित्यकार की दृष्टि से सामाजिक सगठन स्थिर वस्तु न होकर गतिमान और परिवर्तनशील है, क्योकि मार्क्सवाद मे स्थिरता और परिवर्तनशीलता के लिए कोई स्थान नही है। साहित्य मे गतिशीलता और परिवर्तनशीलता का स्वरूप ही साहित्यकार को दिशा प्रदान करता है, चाहे वह भावों के क्षेत्र मे हो, अथवा विचारो के। मार्क्सवादी की दृष्टि केवल युग पर न टिककर, कृति के उन प्रभावशाली तत्वो की ओर लगी रहती है जिनके कारण तत्कालीन सामाजिक जीवन पर उनका अमिट प्रभाव देखा जाता है।

परिवर्तन

साहित्य का मूल उपजीव्य मानव-जीवन और उसके भीतर उभडनेवाली भाव-धारा है। भाव समाज-सत्ता से उद्भूत है। सामाजिक परिवर्तन के कारण मानव-जीवन और उसके भावो मे परिवर्तन अवश्यंभावी है। इस सत्य को न पहचानने के कारण रस-वादियो ने भावो को नित्य और अपरिवर्तनीय माना है। वस्तुतः वे ऐसा करके समाजगत भावो की गतिशीलता को अतीत के साथ बाँधकर सामाजिक विकास-क्रम मे उनकी उपयोगिता एव उपादेयता की अवहेलना करते है। रसवादी विचारको की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि वे भावो को समाज-निरपेक्ष समझते है। मार्क्सवाद ने बड़ी स्पष्टता के साथ यह सिद्ध किया है कि भाव यदि एक ओर सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर ये ही भाव अनुभूतियो के रूप में साहित्य मे अभिव्यक्ति पाकर मानव-समाज को नये-नये कर्मो एव सामाजिक विकास की दिशा मे भी प्रवृत्त करते है। सक्षेप मे, भाव परिवर्तित एव रूपान्तरित होकर सामाजिक परिवर्तन एवं विकास की दिशा मे अद्भुत योगदान देते है। भावो को चिरन्तन, शाश्वत अथवा दैवी मानना इस सत्य से इन्कार करना है कि विभिन्न परिस्थितियो और विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं मे एक ही घटना को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होते है। सामान्य मानव में स्त्री पर बलात्कार देखकर क्रोध उत्पन्न होता है। परन्तु पैशाचिक समाज मे जहाँ बलात्कार न्यायपूर्ण हो, वहाँ समाज के भीतर क्रोध कभी भी नही जन्म लेगा। अतएव भावनाओं पर भौतिक परिस्थितियो का अचूक प्रभाव पड़ता है। गत्यात्मक समाज मे एक ही घटना से अथवा एक ही घटना के प्रति विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। मजदूरो को भूखो मरते देखकर दया और धर्म की साकार प्रतिमा पूँजीपतियो मे रंच-भर करुणा नही उमडती है। अपनी माँ-बहनो के सम्मान के लिए

प्राण देनेवाले मानव-समाज में असख्य माँ-वहनो को वेश्याओ के रूप मे देखकर क्रान्तिकारी परिवर्तन की चेतना क्यो नही जाग्रत होती ? अस्तु, भाव चिरन्तन और समाज-निरपेक्ष न होकर समाज और परिस्थिति-सापेक्ष होते है। भावों की युगानुरूपता को किसी भी रूप मे अस्वीकार नही किया जा सकता। युग और परिस्थितियो के साथ-साथ भावो मे भी अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है; फलतः परिवर्तन होता है। जव कालिदास ने रघुवश मे लिखा—"हे रघु, तेरे खड्ग ने शत्रु-स्त्रियो के बालो की माँग को उनके पतियो के लहू से रग दिया है" तो कवि का उस युग मे इस कथन से वीरभाव जाग्रत करने का अभिप्राय था। कवि की अपेक्षा के अनुकूल सामन्तकालीन परिस्थितियो के सदर्भ मे प्रस्तुत कथन वीरभाव की व्यजना मे सक्षम रहा होगा। परन्तु आज वही कथन पाठक की वीभत्सता का कारण होगा। ऐसा क्यो ? क्या भावो को चिरन्तन एव शाश्वत मान लेने पर ऐसा सभव हो सकता है ? वस्तुत. भाव सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल ही नही, वर्ग-सघर्ष के अनुकूल भी हुआ करते हैं। मार्क्सवादी की दृष्टि में एक वर्ग का स्वार्थ दूसरे वर्ग का स्वार्थ नही होता। वैदिककाल के ब्राह्मण और शूद्र का स्वार्थ एक न था। उपनिषदो के ऋषियो और चाण्डालो का भी स्वार्थ भिन्न-भिन्न था। द्रोण और एकलव्य, बौद्ध और ब्राह्मण, तुलसी और कवीर के वर्ग-स्वार्थो मे अन्तर है।[1] अतएव उनकी भावधारा भी भिन्न-भिन्न दिशाओ मे मुडती हुई अपने-अपने वर्ग-स्वार्थ के पोषण मे प्रवृत्त है।

समाज-चेतना के अन्तर्विरोधो के कारण जव भावो मे ही निरन्तर परिवर्तन एव विकास होता रहता है तो साहित्य को अपरिवर्तनीय एव गतिहीन कहना कहाँ तक न्यायसगत होगा। "मार्क्सवाद वैज्ञानिक खोज का अस्त्र है, एक पद्धति है जो तमाम प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो मे प्रवेश करता है, उनके विकास-क्रम मे उनकी सफलताओ से, समृद्ध होता है। इस अर्थ मे मार्क्सीय दर्शन पहले के तमाम दर्शन का पूरा-पूरा और निश्चित अभाव (निगेशन) है। अभाव का मतलव 'ना' नही है। अभाव मे पूर्व-क्रम का चालू रहना, पूर्व-क्रम का आत्मसात करना भी होता है, जवकि मानव विचारो के इतिहास मे जो कुछ प्रगतिशील और अग्रसर है, उसे समीक्षा की दृष्टि से फिर सँवारकर एक नये और ऊँचे 'सिथेसिस' मे उसका एकीकरण होता है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि द्वद्ववाद का वर्णन करने के लिए उस पहले की तैयारी का वर्णन किया जाय जिससे वह सभव हुआ है।"[2] डॉ० शर्मा ने यहाँ इस वात की ओर संकेत किया है कि साहित्य के क्षेत्र मे 'निषेध का निषेध' (निगेशन फार निगेशन)

१. डॉ० रांगेय राघव : प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ० ३०३

२. डॉ रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ० १८५।

निरन्तर होता रहता है। किन्तु निषेध करनेवाली परिस्थितियाँ पूर्ववर्ती साहित्यिक परिस्थितियो एव भावो को अपने मे आत्मसात कर लेती है और धीरे-धीरे उन्हे समाप्त कर नयी परिस्थितियो और भावों को जन्म देती है। यदि साहित्यकार द्वन्द्ववाद के इस 'निषेध का निषेध' सिद्धान्त से अपने को अलग करने की चेष्टा करता है तो ऊर्ध्वोन्मुखी साहित्य की रचना शायद सभव न होगी। मानवीय बोध के द्वन्द्वात्मक स्वभाव से अलग होना साहित्यकार के लिए सभव नही है।

रसवादियो के लिए रसानुभूति एक अपूर्व निर्वैयक्तिक आनन्द-चर्वणा है। अतएव उसमे अनुभावो का सामाजिक कर्म-प्रेरकत्व अस्वीकृत रहा। रसशास्त्रियो ने अनुभावो को केवल रसानुभूति की कुछ दैहिक और मानसिक प्रतिक्रिया (स्वेद, प्रलय, कम्प आदि) के रूप मे देखा।[1] मार्क्सवादी साहित्यकार भावो और उनकी अनुभूतियों को निर्वैयक्तिक आनन्द-चर्वणा का कारण न मानकर सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि मे उनकी उपयोगिता को स्वीकार करता है। यदि साहित्य में वर्णित भाव और उनसे उपलब्ध होनेवाली अनुभूतियाँ मानव और समाज को आगे बढने की प्रेरणा देने मे असमर्थ सिद्ध होती है तो साहित्य मे उनका कोई स्थान नही है। ऐसे भावो को प्रश्रय देनेवाला साहित्य कल्पनावादी, अवास्तविक और प्रतिक्रियाशील होता है।

भाव-साधना अथवा रस-साधना को समाज-निरपेक्ष साधना के रूप मे प्रचारित करने के बावजूद कोई भी मनुष्य सामाजिक सत्ता का अतिक्रमण नही कर सकता और इसीलिए देखा जाता है कि रस-तत्व के ऊपर भी समाज की वर्गगत भावना का स्पष्ट प्रभाव पडा है। इसलिए साहित्य को हम कितना भी नित्य और शाश्वत मानवता का प्रतिफलन कहे, वह वर्ग साहित्य के अतिरिक्त और कुछ नही है।

शाश्वत सत्य

भाववादी साहित्यकारो का मत है कि जो साहित्य परिस्थितियो को बदलने के लिए लिखा जाता है, वह साहित्य न होकर, प्रचार का माध्यम बनता है। वह साध्य न होकर, साधन का काम करता है। उनके अनुसार यह साहित्य का पतन है, कला की अवनति है। उनकी दृष्टि मे साहित्यकार साहित्य मे शाश्वत सत्यो की प्रतिष्ठा करता है। वह दैनिक जीवन की घटनाओ को बटोरता नही। सामयिक परिस्थितियों से ऊपर उठकर चिरन्तन भावो के माध्यम से सदैव स्थायी रहनेवाले सत्यो को मुखरित करता है, जिनके कारण साहित्य और साहित्यकार युग-युग तक अमर रहते है। मार्क्सवाद दुनिया मे किसी भी वस्तु को शाश्वत नही मानता। हीगल के दर्शन के

१. महेन्द्रचन्द्र राय : मार्क्सवाद और साहित्य, पृ० १२७

क्रान्तिकारी पहलू का उल्लेख करते हुए एंगल्स ने लिखा है, "सत्य, जिसकी जानकारी हासिल करना दर्शनशास्त्र का काम है, हीगल के हाथो मे ऐसे भरे-पूरे दुराग्रहपूर्ण वक्तव्यो का जोड (एक एग्रीगेट आफ फिनिश्ड डाग्मेटिक स्टेटमेंट्स) नही रहा जिसे एक वार आविष्कृत होने पर सिर्फ रट लेना वाकी रह जाता है। अव सत्य उस जानकारी के क्रम मे, विज्ञान के उस लम्वे विकास के क्रम मे ही निहित था, जो ज्ञान के निम्न स्तरो से वरावर ऊँचे स्तरो तक उठता जाता है। यह (विकास-क्रम) तथाकथित शाश्वत सत्य का आविष्कार नही करता और इस तरह ऐसी जगह नही पहुँचता, जहाँ से आगे वढने की गुंजाइश न हो और जहाँ उसके लिए बस यह काम वाकी रह जाए कि वह हाथ जोडकर शाश्वत सत्य के दर्शन करता है।"[1] सक्षेप मे मार्क्सवाद शाश्वत सत्यवाली विचारधारा का खण्डन करता है। वह सत्य को ऐतिहासिक विकास-क्रम मे देखता है। उसे ऐतिहासिक परिस्थितियो के अनुरूप मानता है। सत्य की निरपेक्ष सत्ता मार्क्सवादी विचारको की दृष्टि मे एक भ्राति है। मार्क्सवाद सत्य को विकासशील और सापेक्ष मानता है। यदि सत्य सापेक्ष है तो उसे असत्य क्यो न माना जाय ? लेनिन ने 'मैटीरियालिज्म एण्ड एम्पीरियो क्रिटिसिज्म' मे लिखा है—"भौतिकवादी होने का अर्थ उस वस्तुगत सत्य को स्वीकार करना है जिसे हमारी इद्रियाँ प्रकट करती हैं। वस्तुगत सत्य—यानी ऐसा सत्य जो मनुष्य या मानव जाति पर निर्भर नही है, स्वीकार करने का मतलव किसी-न-किसी तरह से निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करना है।"[2]

निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करने का अर्थ यह नही कि मार्क्सवाद शाश्वत सत्य वाली धारणा को सही मानता है जिसे पाने के वाद और कुछ पाना शेष नही रह जाता। लेनिन के मतानुसार, "अगर हमे भौतिकवाद को आगे वढाना है तो हमे 'शाश्वत सत्य' ऐसे शब्दो के साथ खिलवाड वन्द कर देना चाहिए।"[3] मार्क्सवाद सापेक्षता को स्वीकार करते हुए भी निरपेक्षता से इन्कार नही करता। वह सापेक्ष और निरपेक्ष सत्य मे द्वन्द्वात्मक सम्वन्ध कायम करता है। सापेक्ष सत्य की कडी जोडकर ही निरपेक्ष सत्य की प्रतिष्ठा होती है। लेकिन यह निरपेक्ष सत्य अपने पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही होता। अतः उसमे उत्तरोतर वृद्धि होती रहती है।

आज तक की कोई विचारधारा यह दावा नही कर सकी है और न ही कर सकेगी कि यही सत्य है, यही अन्तिम है। हाँ, मानव का एक दावा अवश्य शाश्वत और

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ० १५३
२. वही, पृ० १५४
३ वही, पृ० १५४

चिरन्तन रहेगा कि सृष्टि के अन्त तक का ज्ञान अपूर्ण रहेगा। अतएव परिवर्तनशील एव विकासमान होगा। मनुष्य अपने इस सतत विकासशील ज्ञान से जिस सत्य की उपलब्धि करेगा, वह निश्चित रूप से सापेक्ष और परिवर्तनशील होगा। इस सापेक्षता और परिवर्तनशीलता की स्वीकृति मानव विकास की दृष्टि से आवश्यक एव उपयोगी सिद्ध होगी। अस्तु, साहित्यकार अतिम सत्य के पीछे अनावश्यक रूप से अपना समय वर्बाद न करके सापेक्ष और परिवर्तनशील सत्य को प्रस्तुत करने का दायित्व वहन करता है।

शाश्वतवादी विचारको की ओर से यह कहा जा सकता है कि जो सत्य अतिम नही है, स्थिर नही है, चिरन्तन नही है, उसको हम सत्य के रूप मे स्वीकार नही करते। और ऐसे परिवर्तनशील सत्य की प्रतिष्ठा करनेवाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जैसे दर्शन को भी हम दर्शन के रूप मे अस्वीकार करते है। रूसी विचारक ज्दानोव ने भाववादियो के इन प्रश्नो का उत्तर देते हुए जी० अलेग्जान्द्रोव की पुस्तक, 'पश्चिमी यूरोप के दर्शन का इतिहास' की आलोचना के सदर्भ मे कहा था—"मार्क्सवाद पहले की प्रगतिशील विचारधाराओ का—फास के भौतिकवादियो, इंग्लैण्ड के अर्थशास्त्रियो और हीगल के आदर्शवाद का सहज उत्तराधिकारी बनकर आया है। मार्क्सवाद दर्शनशास्त्र मे एक क्राति है। यह क्रान्ति पहले के दार्शनिक चिन्तन के बिना सभव नही थी, लेकिन उस क्राति से पहले के दार्शनिक चिन्तन का भी अत हो गया।"[1] उसने आगे कहा—"ऐतिहासिक विकासक्रम मे दार्शनिक प्रश्नो पर लोगो के मत ही नही बदला करते, बल्कि इन प्रश्नो का दायरा—दर्शनशास्त्र की विषयवस्तु भी बदल जाती है। मानवीय बोध का जो द्वन्द्वात्मक स्वभाव है,यह बात उसके अनुकूल भी है।"[2] इस प्रकार ज्दानोव ने दर्शन और सत्य की शाश्वतता का खण्डन किया है। उसने स्वीकार किया है कि "हम तो अपने दर्शन को देश-काल, यहाँ तक कि वर्ग तक से बँधा हुआ मानते है। आपके देश-काल से परे होने का मतलब भी हम खूब समझते है। और हम दिखाते है कि किस तरह आपका दर्शन देश-काल ही नही, वर्गो से और वह भी सामाजिक प्रगति के विरोधी वर्गो से बुरी तरह बँधा हुआ है।"[3]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि न तो दर्शन और न ही सत्य स्थिर हैं। अपनी सीमा मे अत्यधिक पूर्ण दिखाई देनेवाला दर्शन भी वास्तव मे जीवन की समग्र एव पूर्ण व्याख्या नही प्रस्तुत कर पाता। एक दर्शन दूसरे दर्शन को काटता है, और अपने को स्थापित करता है। कालान्तर मे दूसरा दर्शन उसका स्थान लेता है।

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और सस्कृति, पृ० १८४-८५
२. वही, पृ० १८५
३. वही, पृ० १८३

इनके साथ कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक दर्शन विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न रूपो मे विकसित होता है। जैसे उपनिषद् का ब्रह्मवाद श्रीवैष्णवो तक के साम्प्रदायिक दर्शनो के रूप मे विकसित हुआ। दर्शन के सम्बन्ध मे लागू होनेवाला यह नियम सत्य के सम्बन्ध मे भी खरा उतरता है। दास-युग का सत्य सामन्त-युग से भिन्न था। सामन्तयुगीन सत्य पूँजीवादी-युग मे अस्वीकृत हुआ। उदाहरण के लिए भारतीय इतिहास मे एक युग था जबकि शूद्र तपस्वी समाज के लिए असह्य था। उस समय उसका वध न्यायपूर्ण था। यह उस युग का एक सत्य था। पर परवर्ती समाज मे जब देश-भर मे बौद्धो की करुणा छा गई, इस प्रकार का सत्य अस्वीकृत हुआ तथा अनुचित घोषित किया गया। इसीलिए रामायण-काल की घटनाओ और उनके सत्यो को बौद्ध-काल मे ज्यो-का-त्यो नही स्वीकारा गया। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि चाहे दर्शन का सत्य हो अथवा काव्य का, उसके मूल मे सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक वर्गों के विविध दृष्टिकोण एव सामाजिक परिस्थितियाँ कार्यरत रहती है। दूसरे शब्दो मे सत्य सामयिक और परिस्थितिजन्य होता है। मार्क्सवादी साहित्यकार अपने साहित्य मे इसी सत्य के उद्घाटन का प्रयास करता है। सत्य, शिव, सुन्दरम् का वह विरोध करता है, क्योकि उसकी दृष्टि मे सनातन सत्य और सनातन मूल्य जैसी वस्तुएँ लोक के यथार्थ धरातल पर नही देखी जाती। उनका अस्तित्व केवल भाववादियो के मस्तिष्क और उनकी कल्पना की ऊँची उडान मे ही संभव हो पाता है। चूंकि कल्पना के लोक मे विचरण करनेवाला तथा सनातन मूल्यो और चिरन्तन सत्यो का उद्घाटन करनेवाला साहित्य पलायनशील होता है, अतः उसका स्रष्टा पलायनवादी होता है। इसलिए सामाजिक पृष्ठभूमि मे सामाजिक संघर्षो के बीच पलनेवाला मार्क्सवादी साहित्यकार सनातनत्व को अनावश्यक मानकर निरन्तर बदलते हुए सामाजिक परिवेशो, मानवी सम्बन्धो एवं जीवन-मूल्यों का प्रस्तोता होता है। मार्क्सवादी साहित्यिक पद्धति साहित्य को वस्तु के इतने समीप कर देती है कि उसका पाठक निरन्तर उस सत्य से प्रेरित होकर सामाजिक कार्यों मे गतिशील रहता है। लेनिन के अनुसार मार्क्सवाद की राह पर चलकर हम निरन्तर वस्तुगत सत्य के नजदीक पहुँचते जाएँगे। लेकिन यह कभी समाप्त होनेवाला नही है (विदाऊट एवर एक्जास्टिग इट)।

मार्क्सवादी साहित्य किसी ऐसे चिरन्तन सत्य का चित्रण नही करता जो सामाजिक परिस्थितियो से परे हो। मार्क्सवादी साहित्यकार का यह प्रबल विश्वास है कि जब तक समाज में वर्ग-सघर्ष रहेगा, उसको चित्रित करनेवाला साहित्य वर्गो से परे नही हो सकता। वर्गहीन, विशुद्ध मानवीय साहित्य की सर्जना तभी सभव है जब समाज वर्गहीन हो जाएगा और वर्गो के आधार पर निर्मित मानव-सस्कार भी मानव-चेतना से दूर हो जाएँगे। गभीरतापूर्वक देखने पर यह प्रायः प्रकट होता है कि अब तक

लोगों ने एक नये तथ्य को खोजकर उसे शाश्वतता के कठघरे में बन्द कर दिया है। फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के समय विचारकों ने शाश्वत सत्य के साथ शाश्वत समानता और शाश्वत न्याय की भी प्रतिष्ठा करने का काम शुरू कर दिया था। एंगल्स इन शाश्वत आविष्कारों को ऐतिहासिक परिस्थितियों से ऊपर नहीं मानता—"हम आज जानते हैं कि यह विवेक (रीजन) का संसार पूंजीवादी वर्ग के 'आदर्श राज्य' के अलावा और कुछ न था। शाश्वत न्याय पूंजीवादी न्याय के रूप में प्रतिफलित हुआ। समानता कानून के सामने पूंजीवादी समानता में सीमित हो गयी और पूंजीवादी सम्पत्ति को मनुष्य के सबसे आवश्यक अधिकारों में घोषित किया गया। विवेक से चलनेवाली सरकार—रूसो का सामाजिक समझौता—एक पूंजीपंथी जनवादी प्रजातन्त्र के रूप में चरितार्थ हुई और उसी रूप में वह चरितार्थ भी हो सकती थी। अठारहवीं शती के विचारक अपनी सीमाओं को उसी प्रकार नहीं लाँघ सके, जैसे उनके पहले के विचारक न लाँघ सके थे।"[1] इस प्रकार पूंजीवादी न्याय और समानता की पद्धति से ही आधुनिक समाज का विकास संभव हुआ है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से वह निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। लेकिन विचारकों ने इतिहास की सीमाओं को न पहचानकर अपनी धारणाओं को शाश्वत करार दे दिया। स्वच्छन्दतावादी साहित्यकार प्रायः इस शाश्वतता के पीछे भागते हुए दिखाई पड़ते हैं। अंग्रेजी में शेली और हिन्दी में उससे प्रभावित छायावादी कवि शाश्वत सौंदर्य और शाश्वत सत्य के साक्षात्कार के लिए प्रायः विकल दिखाई देते हैं। एंगल्स ने इन रोमांटिक कवियों पर व्यंग्य करते हुए लिखा था, चूंकि शाश्वत सत्य देश-काल और मानव के ऐतिहासिक विकास से परे है, इसलिए यह सिर्फ आकस्मिक बात है कि कब और कहाँ उसका पता लग जाता है। एंगल्स ने देखा था कि इन रोमांटिक कवियों में प्रायः वे तमाम बातें दिखाई पड़ती हैं, जो फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के बाद साहित्य में शाश्वत सत्य और शाश्वत सौंदर्य की प्रतिष्ठा करके दुनिया को स्वर्ग बना देनेवाले साहित्यकारों में वर्तमान थीं।

मार्क्सवादी धारणाओं के अनुसार साहित्यकार जिन सामाजिक परिवेशों में पलता है, वह उन्हें अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, वह जीवन से सम्बन्धित अनुभवों को यथार्थ वास्तविकता के साथ अंकित करता है। परन्तु अपने सामाजिक अनुभवों को साहित्य में रूपायित कर देने मात्र से ही साहित्यकार का कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। 'समाज के किसी भी स्तर के जीवन को व्यक्त कर मैंने मानवीय सत्य को स्वर दे दिया है' यह कहकर कोई भी मार्क्सवादी साहित्यकार तृप्त नहीं हो सकता। किसी भी काल में, विशेषकर वर्तमान-काल में जब वर्ग-संघर्ष

---

१. एंगल्स : एण्टी ड्यूरिंग, भाग १, पृ० ३०-३१

अपने तीव्रतम रूप मे प्रकट हो चुका है और जब अंतिम संघर्ष के लिए समाज के दोनो वर्ग—पूजीपति और सर्वहारा—मे अकुलाहट दिखाई पड रही है, उस समय किसी भी श्रेणी के जीवन-चित्रण द्वारा अथवा किसी भी वर्ग के भाव एव कल्पना को मूर्त रूप देकर समाज की वैप्लविक अभिव्यक्ति मे सहायक होना असभव है। शाश्वतवादी की तरह वे इस बात पर विश्वास नही कर सकते कि प्रत्येक मनुष्य के अदर नित्य अपरिवर्तनीय मानवता विद्यमान है। प्रत्येक युग मे समाज के किसी भी वर्ग के अदर मानवता का विकास होता है। यह बात गलत है। प्रत्येक युग की प्रगतिशील भावना जिस विशेष वर्ग का आश्रय लेकर विकासोन्मुख होती है, उसी वर्ग के जीवन को साहित्यिक रूप प्रदान करना मार्क्सवादी साहित्यकार का कर्तव्य है।

काडवेल के अनुसार साहित्य या कला मनुष्य की स्वाधीनता-प्राप्ति का एक साधन है। यद्यपि कुछ लोगो ने साहित्य-सृष्टि को प्रत्यक्ष गोचरता अर्थात् रूपवत्ता माना है, कलावादियो की दृष्टि से कला मे भावो एव कल्पना के बाह्यरूपायन के अतिरिक्त और कुछ नही होता। रूपायन शिल्प कर्म का प्रथम और प्रधान व्यापार है। किन्तु मार्क्सवादी अध्येता की दृष्टि मे साहित्य के सम्मुख यही एकमात्र प्रयोजन नही होता। उसकी दृष्टि मे कला के मूल मे मानव-समाज की बधन-मुक्ति की प्रेरणा कार्य करती रहती है। इसी बधन-मुक्ति अथवा स्वाधीनता की भावना को भारतीय आलकारिको ने 'रस' की उपाधि प्रदान की थी। साहित्य कतिपय शृखलाबद्ध सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति ही नही करता, उसका मूल उद्देश्य सामूहिक भावो की व्यजना द्वारा समाज को गति प्रदान करना होता है।[1]

सामयिकता

मार्क्सवादी साहित्यकार सामाजिक विकास मे योग देने के लिए और मानव को सच्ची स्वाधीनता की ओर अभिमुख करने के हेतु किसी निर्विकार, निराकार, निरपेक्ष, कालातीत सत्य का नही, वरन् 'बाह्य प्रकृति के विरुद्ध सघर्परत' मानवो के सामाजिक सम्बन्धो के सत्य का उद्घाटन करता है।' इतना ही नही, वह सामयिक सत्य को शक्तिशाली रूप देने के लिए सामयिक परिस्थितियो की अभिव्यक्ति मे भी पीछे नही रहता। सामयिकता का नाम सुनकर कुछ कलावादी आचार्य नाक-भौ सिकोड सकते है। परन्तु मार्क्सवादी साहित्यकार के लिए सामयिकता साहित्य का मूल आधार है। ज्दानोव

---

१. "Its dynamic role in society, its content of collective emotions is, therefore, Poetry's truth."
—Illusion and Reality, by Cadwel.

ने सामयिकता से दूर हटकर ऐतिहासिक विषयो की तरफ एकागी ढंग से मुडनेवाले साहित्यकारो के विरोध मे माँग की थी कि सोवियत लेखक युद्धकाल के अनुभव और उसके बाद के पुर्ननिर्माण पर लिखे । उसने साहित्य को सामाजिक जीवन की आवश्यकताओ मे जोडकर साहित्यकारो से माँग की कि वे इन्हे पूरा करने मे अपनी रचनाओं से मदद करे ।

शाश्वत सौदर्य की खोज करनेवाले साहित्यकार सामयिकता के नाम पर भले ही कला की अमरता और उसके सनातन मूल्यो की चर्चा कर उसको हल्का सिद्ध करने का प्रयास करे, पर शाश्वत और अमर कला के नाम पर वे जो कुछ भी देते हैं, उनके द्वारा समाज के कुछेक निठल्ले लोगो का मनवहलाव भले ही हो जाय, पर समाज का उमसे कोई कल्याण होनेवाला नही है । स्थायी और प्रभावशाली साहित्य के निर्माण के लिए समाज की तत्कालीन गतिविधियो को पहचानकर समाज के प्रगतिशील वर्ग से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक होगा । प्रगतिशील साहित्यकार को प्रतिक्रियावादी शक्तियो का विरोध कर सामाजिक प्रगति मे सहयोग प्रदान करना होगा । परन्तु सामाजिक गतिविधियो का, सामाजिक परिवर्तनो का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देने से ही सच्चे साहित्य का जन्म नही हो सकेगा । सामाजिक गतिविधियो की गहराई मे पैठनेवाला साहित्यकार ही यथार्थ, प्रभावशाली एव टिकाऊ साहित्य को जन्म देने मे समर्थ होगा । स्थायी साहित्य के लिए अस्थायी लगनेवाली समाज की सामयिक परिस्थितियो का चित्रण आवश्यक है । वर्ग-सघर्ष की अवस्था मे साहित्यकार को प्रतिक्रियावादी और क्रातिकारी शक्तियो को पहचानकर क्रातिकारी अथवा प्रगतिशील शक्तियो को आगे वढाते हुए सामाजिक विकास के मार्ग मे आनेवाले अवरोधो को दूर करना होगा । कलावादी समीक्षक साहित्य को सामयिकता के दलदल से निकालने का भगीरथ प्रयास किया करते है, क्योकि उन्हे भय है कि सामयिकता को प्रश्रय देनेवाला साहित्य परिस्थितिजन्य 'अपीलो' के समान क्षणिक और शीघ्र ही अपना प्रभाव खो वैठेगा । परन्तु वे यह भूल जाते है कि दुनिया की दो बडी फ्रांसीसी और सोवियत क्रातियो से वोल्तेयर और गोर्की का सम्बन्ध रहा है । मार्क्सवादी, गोर्की को इसीलिए महान मानते हैं कि उसने अपने साहित्य द्वारा सामयिक परिस्थितियो को लक्ष्य मे रखकर सोवियत क्रांति मे सहायता पहुँचाई । गोर्की ने स्वय क्राति के वाद पत्रकारो को सामयिक तथ्यो पर सही दृष्टिकोण से लिखने के लिए प्रेरणा देते हुए तथा कुछ लेखको को जो स्थायी साहित्य के भ्रम मे पड गये थे, साहित्य और दैनिक जीवन का अटूट सम्बन्ध दिखाने के लिए 'फीचर्स' लिखना प्रारभ किया । दैनिक जीवन के प्रति जागरूक रहने का सिद्धान्त अपनाकर गोर्की ने कला का नाश नही किया, प्रत्युत उसका परिमार्जन किया और उसे अभिव्यक्ति का एक नया रूप देकर सम्पन्न वना दिया । गोर्की की कला के पीछे एक

गंभीर लक्ष्य था। वह था समाज को शोषणहीन और श्रेष्ठ बनाना, जहाँ मानव विकास की पूरी स्वतन्त्रता हो तथा जहाँ उसकी स्वतन्त्रता वैयक्तिक न होकर सामाजिक हो। यही कारण है कि सामयिकता को अपनाने पर भी गोर्की की कला किसी भी चिरन्तन कलावादी की कला से महानता मे कम नही है।

सर्वहारा वर्ग

पूंजीवाद ने आज की दुनिया मे मनुष्य के साथ मनुष्य के नग्न स्वार्थ को खुलकर खेलने का अवसर और उन्मुक्त धरातल प्रदान किया है। आज यदि एक ओर समाज के लगभग सभी बुद्धिजीवी—डाक्टर, वकील, साहित्यकार, पत्रकार और वैज्ञानिक—वेतन-भोगी श्रमिको के रूप मे परिवर्तित कर दिये गये है तो दूसरी ओर पूंजीवादी पाशविक शोषण के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के द्वारा समाज की वैप्लविक प्रगति भावी नवसमाज के निर्माण की ओर आगे बढ़ने लगी है। सर्वहारा वर्ग शोषण से मुक्त यथार्थ मानवी सम्बन्धो की स्थापना में सक्रिय हो उठा है। अतएव प्रगतिशील साहित्यकार का दायित्व है कि मानवी सत्य के अग्रगामी रूप को प्रकट करने के लिए सर्वहारा के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करे। सर्वहारा जीवन के यथार्थ स्वरूप को अंकित करने के लिए साहित्यकार को यह आवश्यक है कि वह उसके जीवन के साथ आत्मीयता स्थापित करे। यदि ऐसा करने में सफल नही हो सका तो वह सर्वहारा का मात्र प्राणहीन चित्र दे पायेगा, जिसका सामाजिक विकास मे कोई योगदान नही होगा। बौद्धिक आग्रह होने पर भी हिन्दी के कतिपय प्रगतिवादी साहित्यकार सर्वहारा के जीवन के साथ घनिष्ट सम्पर्क के अभाव मे अपनी अधिकांश रचनाओ को यथार्थ, कलापूर्ण साहित्य का रूप नही दे पाये। प्रशसनीय प्रयास के बावजूद इनकी कृतियाँ यथार्थ वास्तविकता से असम्पृक्त रहने के कारण पाठको को प्रभावित करने मे असमर्थ सिद्ध हुईं। अतएव उन रचनाओ मे वर्णित जीवन-दर्शन की ओर पाठको को प्रेरित करने का सवाल ही नहीं उठता। इस प्रकार महान उद्देश्य के बावजूद भी साहित्य प्रचार मात्र रह जाता है, यदि उसमे यथार्थ प्राणवत्ता का अभाव है। एगल्स ने 'मार्गरेट हार्कनेस' और 'मिनाकाउटस्की' को १८८५ के २६ नवम्बर को लिखे अपने पत्र मे स्पष्टत: यही भाव व्यक्त किया है—"हम जर्मन जिसे 'टेण्डेरोमन' (Tendezroman) कहते है, ग्रथकार के सामाजिक और राजनीतिक मतो को महिमान्वित करने के उद्देश्य से उस प्रकार का विशुद्ध समाजवादी उपन्यास आपने नही लिखा। इसलिए मैं आपको दोषी नही कर रहा हूँ। मेरे वक्तव्य का उद्देश्य वही नही है। लेखक का मत जितना छिपा रहे, कला की दृष्टि से वह उतना ही अच्छा है। मैं जिस वास्तविकता

की ओर इशारा कर रहा हूँ, वह लेखक के मत की उपेक्षा करके भी निकल आ सकती है।"[१]

क्रांति : साहित्य की सोद्देश्यता

मार्क्सवाद साहित्य को निरुद्देश्य नही मानता। उसका ध्येय यदि एक ओर ऐसे नागरिको का निर्माण करना है जो, हर परिस्थिति मे देश की रक्षा मे समर्थ हो सके तो दूसरी ओर उसका सबसे महान लक्ष्य पूँजीवादी सामाजिक ढाँचे को आमूलतः वदल देना है। कलात्मकता के नाम पर निरुद्देश्य प्रतिक्रियागामी विचारो को मार्क्सवादी साहित्य मे कोई स्थान नहीं है। ज्दानोव के अनुसार निर्देशहीन सम्पादन और निरुद्देश्य साहित्य-रचना पूँजीवाद के बिना सभव नही है। ससार के मजदूर-आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता 'जार्ज दिमित्रोव' ने सोवियत लेखको की एक सभा मे कहा था, "कविता, उपन्यास आदि कलाकृतियो के रूप में तुम हमे एक तेज हथियार दो जो सघर्ष मे काम आ सके। अपनी कला से क्रान्तिकारी कर्त्ता वनाने मे मदद करो।"[२]

समाज के ऐतिहासिक विकास ने आज साहित्य को वर्गसंघर्ष का शक्तिशाली हथियार वना दिया है। फलतः आज साहित्य विशुद्ध रस की भूमिका पर नही लिखा

---

१. (a) 'Literature & Art' ; by Engels to Margaret Harkness, pp. 37

(b) Frederick Engels and Materialistic Aesthetics; by K. Blaukopf in Modern Quarterly, Vol. N0. (3); 1946

"But even socialist novelist, so Engels believed did not have to propound their views in novels. It is enough for them to depict real conditions faithfully and thus destroy the conventional illusions and at the same time arouse doubts concerning the eternal validity of the existing order. This aim he wrote to Minna Kantsky (1885) could have attained without directly presenting the reader with a solution of these problems and in certain cases even without indicating where the sympathy of the author lay."

२ डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ० १४५

जा सकता। साहित्यकार जीवन को उसकी पूर्णता में ग्रहण करता है। आज की परिस्थितियो मे हमारे भाव थोडे से एकान्त व्यक्तिगत विषयों मे सीमित नही है। मार्क्सवादी साहित्य आज समाज मे नवनिर्माण के हेतु अस्फुट अथवा स्वल्प परिस्फुट भावो को भी साहित्य मे रूपायित कर मानव समाज के वृहत्तम अश को प्रबुद्ध करना चाहता है। अतएव साहित्य के भीतर मात्र रस की खोज करना, उसके साथ अन्याय होगा। मार्क्सवादी साहित्य कलागत सौष्ठव की उपेक्षा करना नही चाहता। किन्तु वह अपने क्रांतिकारी उद्देश्य को भी किसी कीमत पर भूलना नही चाहता। बूर्जुआ समाज-व्यवस्था अपने अन्तर्द्वन्द्व की प्रेरणा से ही अपना अन्त कर भावी व्यवस्था को जन्म देने की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रही है। बूर्जुआ साहित्य-संस्कृति मे आज जीर्णता, जरा और अवसाद के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। राष्ट्र और समाज की नव-जन्मधात्री सर्वहारा की क्रांति अवश्यंभावी है। सर्वहारा वर्ग, गरीब किसान और मजदूरो का दलित, शोषित जीवन और इस जीवन मे धूमायित असन्तोष की चचलता ही साहित्य के मूल क्रांतिकारी उपकरण होंगे। समाज के वृहत्तम अंश के इस यथार्थ जीवन-सत्य को अस्वीकार कर जो साहित्यकार आज भी विनाशोन्मुख बूर्जुआ जीवन का गान करेंगे, शीघ्र ही उनकी रचनाएँ इतिहास के कूडेखाने मे फेक दी जायेगीं।

जनता

समाज के बृहत्तम अंश का जीवन जनता का जीवन है। अतएव मार्क्सवादी साहित्यकार को जनता के साथ तादात्म्य स्थापित करना अनिवार्य है। साहित्य और जनता का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए ज़्दानोव ने कहा था—"साथियो! हमारा साहित्य जनता के लिए, देश के लिए जीता है और उसी के लिए जीना चाहिए। साहित्य का ध्येय जनता का ही ध्येय है। इसलिए तुम्हारी हर सफलता को, हर महत्वपूर्ण रचना को जनता अपनी ही सफलता समझती है। इसलिए हम हर सफल रचना की तुलना युद्ध या आर्थिक मोर्चे की बड़ी जीत से करते हैं। इसके साथ ही सोवियत साहित्य की हर असफलता जनता, पार्टी और राज्य को कड़वी लगती है और बुरी तरह अखरती है।"[1] अतएव साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जनता की माँगो को पूरा करते हुए उसकी अभिरुचि में निखार ले आये, उसके विचारो को समृद्ध करे। जनता का उत्थान ज़्दानोव के मत से जनता की यथार्थ आलोचना से ही सभव है, क्योंकि खुली और दो टूक आलोचना से जनता आत्म-सुधार की ओर उन्मुख होती है। ऐसी आलोचना से ही उसे आगे बढने और अपनी खामियो को दूर करने की प्रेरणा मिलती है। आलोचना के अभाव मे ठहराव और संडाध की सम्भावना मूर्त्त होने लगती है।

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और सस्कृति, पृ० ९४

अतएव प्रगति के लिए मार्ग अवरुद्ध हो उठता है। साहित्य जनता के वास्तविक यथार्थ का चित्र अंकित कर उसके लिए प्रगति का द्वारा खोलता है। मार्क्सवादी साहित्यकार अपनी रचनाओ मे इस प्रकार की आलोचना से भयभीत नहीं होता। जनता के सम्मान का दावा करनेवाला साहित्यकार स्वय की रचनाओ की आलोचना से भी निश्चिन्त रहता है। मार्क्सवादी साहित्य में जिस व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, वह अलौकिकता सम्पन्न न होकर समाज-सापेक्ष और जनता का प्रतिनिधि होता है। समाज के उत्पादन के साधनों से वह अत्यधिक प्रभावित होता है। व्यक्ति की समाज सापेक्षता आज की कोई नई खोज नही है। वह समाज के आरंभिक युग मे भी लक्षित होती है। आदिम चित्रों मे पशुओं और मनुष्यों के चित्रों का होना, पौधों का अभाव उस युग के शिकारी जीवन की अभिव्यक्ति है।[१]

साहित्यकार अपनी सीमाओ मे रहते हुए भी समाज में होने वाले अदृश्य मात्रात्मक परिवर्तनो से उद्भूत गुणात्मक परिवर्तनों को भी देखने की सामर्थ्य रखता है, क्योकि वह व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों को ही नहीं, सामाजिक संदर्भ में व्यक्ति के सर्वाङ्गीण जीवन को अंकित करता हुआ सर्वहारा के क्रांतिकारी लक्ष्यो की ओर निरन्तर बढता रहता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह पूंजीवादी साहित्य और संस्कृति के खोखलेपन का पर्दाफाश करता हुआ जनता का ध्यान सामाजिक संघर्षों की ओर केंद्रित करे। लेनिन ने साहित्य के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए कहा था कि साहित्य को सर्वहारा वर्ग के लक्ष्य का एक अग बन जाना चाहिए। मजदूर वर्ग के सचेत अग्रगामी दल ने तमाम सामाजिक ढाँचो में जो गति पैदा कर दी है, साहित्य को उससे भिन्न नही होना चाहिए। अर्थात्, साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह सामाजिक ढाँचो में परिलक्षित अस्फुट गतियो को निरतर समृद्ध करता चले। मार्क्सवादी साहित्यकार कलावादी सौदर्य निरूपक दृष्टि अपनाकर भी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से दूर जाने का स्वप्न में भी विचार नही करता। साहित्य को सामाजिक संघर्ष की भूमिका से दूर ले जाने वाले आदर्शवादी कलाकारो की दृष्टि में प्रगतिशील

१. "It is of the highest significance that hunting peoples generally depict only animals and men in their paintings and neglect plants. This phenomenon has been observed in various parts of the world, which leads to the conclusion that similar modes of production account for similarities in primitive art."
—Social Roots of Art; Louis Haras, pp. 14.

साहित्य अनावश्यक है। उनके मतानुसार कला के शाश्वत मानदण्डो के आधार पर हर कलाकार प्रगतिशील होता है। वे तो यहाँ तक दावा करते है कि "कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। उसकी सृजन-चेष्टा, बाह्य जीवन के अनुभव और सौंदर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामजस्य और मुक्तिकामी, निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होती है।"[1] यही दलील अब तक के पलायनवादी और प्रतिक्रियावादी (कलाकार) देते आये हैं। ये प्रतिक्रियावादी कलाकार कभी-कभी यह कहते हुए भी सुने जाते है कि जब सच्ची अनुभूति होगी तब वे साहित्य-सृजन मे प्रवृत्त होंगे। अनुभूति—चाहे जिस वर्ग की हो, सौंदर्यमूलक होने के कारण सम्मान की अधिकारिणी होगी। अनुभूति और सौंदर्य के नाम पर वे व्यक्ति-वैचित्र्य और व्यक्ति के अंतर्मन मे प्रवेश कर अतृप्त वासनाओ के नंगे चित्रो मे समाज की अधःगामी प्रवृत्तियो को लपेटकर पूँजीवादी आदर्शों को परोक्ष रूप मे अमरता प्रदान करते हैं। मार्क्सवादी साहित्य मे इनके लिए रंचमात्र भी स्थान नही है। मार्क्सवादी साहित्य किसी भी रूप मे अपने समाज-निर्माण के दायित्व को विस्मृत नही कर सकता।

यथार्थ

पूँजीवादी सस्कारो मे पला हुआ कलाकार प्रायः यह कहते हुए सुना जाता है कि साहित्य मूलतः व्यक्ति-विशेष के रागात्मक जीवन से उद्भूत होता है। व्यक्ति-विशेष के मन मे समाज का जैसा प्रतिफलन होगा, साहित्य में वही यथार्थ रूप मे अथवा आशिक रूप मे अभिव्यक्त होगा। लेखक जिस प्रकार के जीवनादर्श में परिपुष्ट होगा, उसकी रचना मे उसी जीवनादर्श के अनुकूल दृष्टिकोण का प्रतिफलन होगा। अतएव साहित्यकार का एकमात्र दायित्व होगा कि वह उनका यथार्थ चित्रण करे।

मार्क्सवादी इस दृष्टिकोण का विरोध करता है। उसके अनुसार साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग नही हो सकता। सामाजिक उत्थान मे सहायक प्रगतिशील शक्तियो को अनिवार्य रूप से प्रश्रय देना होगा। समाज कोई अचल और स्थिर वस्तु नही है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार ससार मे सब कुछ प्रवहमान, गतिशील है। वस्तु के भीतर चलनेवाला द्वन्द्व उसे लगातार नये विकास की ओर ले जा रहा है। प्रत्येक क्षण समाज के अन्दर विलय और उन्मेष की लीला चल रही है। समाज में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ—ह्रासोन्मुखी और विकासोन्मुखी दिखाई पडती है। इतना ही नही, इनके साथ किसी नई शक्ति और नये वर्ग का प्रादुर्भाव भी होता है। यह अवश्य है कि विकसित होनेवाली शक्ति आरभ में पूर्ण विकसित रूप मे नहीं दिखाई देती। इसी से समाज मे पूर्व-प्रतिष्ठित शक्तियो की प्रबलता के सम्मुख उदीय-

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ० १४६

मान नयी शक्तियाँ क्षीण और दुर्बल प्रतीत होती हैं। किन्तु इन्ही उदीयमान शक्तियों के रूप में समाज के भावी विकास की रूपरेखा झलकने लगती हैं। समाज-मानस मे उनका प्रतिफलन क्षीण होने के कारण साहित्य में वे या तो एकदम प्रतिफलित नही होंगी, और अगर होंगी भी तो क्षीण और अल्प-प्राण। जो सामाजिक शक्तियाँ वस्तुतः ह्रासोन्मुख हो उठी है, उनके लुप्तप्राय प्रभाव का यथार्थ स्वरूप समाज-मानस मे स्पष्ट नही होता। कुछ समय तक ये ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ समाज में शासक-वर्ग द्वारा स्वीकृत होने के कारण प्रवल दिखाई देती हैं और सामाजिक यथार्थ का वहाना करती हैं।[1] मार्क्सवाद इस प्रकार के यथार्थ चित्रण का समर्थन करने मे अपने को असमर्थ पाता है।

सामाजिक विकास की प्रतिगामी और दृढ प्रतिष्ठित जीवनधारा वाह्य रूप से अपने ही को सत्य और नित्य घोषित करती है। कुछ साहित्यकार उन्हे चित्रित ही नही करते, वरन् गौरवान्वित भी करते हैं। दूसरी ओर वे समाज की अस्फुट प्रगतिशील प्रवृत्तियो की पूर्ण उपेक्षा करते है। यदि साहित्य मे उन्हे कभी स्थान भी देते है तो उनके महत्व को न समझने के कारण उन्हें लांछित करते हैं। केवल अतीत की प्रशस्ति मे अपनी कृतियो को मुखरित कर प्रतिक्रियावाद को वढ़ावा देते हैं। ये लोग निरे प्रतिक्रियावादी होते हैं। इसके विपरीत कुछ साहित्यकार ऐसे भी देखे जाते है जो सामाजिक स्थिति का एकांगी नही, सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत कर, न चाहते हुए भी शासक-समर्थित ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो के विरोध मे एक वातावरण तैयार करने मे सहायता करते है। इन साहित्यिकों की कृतियों में समाज की विभिन्न ह्रासोन्मुखी और उदीयमान शक्तियो का यथार्थ चित्रण मिलता है। शासक वर्ग के जीवन को व्यक्त करते हुए उसकी विकृतियो का यथार्थ रूप भी इनके साहित्य मे अभिव्यक्त होता है। वैयक्तिक रूप से शासक-वर्ग के अनुगामी होने पर भी उदीयमान वर्ग के महत्वपूर्ण अंश को भी यथार्थ रूप मे अंकित करके सामाजिक विकास में अप्रत्यक्षतः योगदान देते है। फ्रांसीसी कहानीकार वालजाक को इसलिए एंगल्स भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सभी 'जोलाओ' से वहुत वडा यथार्थवादी मानता है।

मार्क्सवादी साहित्यकार इस प्रकार के यथार्थ से भी संतुष्ट नही होता। उसका लक्ष्य 'समाजवादी यथार्थ' का चित्रण है। गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद का प्रवर्तन करते हुए कहा था, "भविष्य के द्वारा दिक्-निर्णय ही वालज़ाक के और १६ वी शताव्दी के क्लासिकल यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद को विशिष्टता प्रदान

---

१. Literature and Marxism: (Article on Leninist Criticism by Mikhail Lifshitz.)

करता है।"[1] समाजवादी यथार्थवाद को चित्रित करनेवाले साहित्यकारों का कर्तव्य यह है कि वे समाज की अपरिस्फुट नवीन प्रगतिशील प्रवृत्तियो को प्रबल और परिस्फुट रूप मे अभिव्यक्त करे। साथ ही साथ, समाज की ह्रासोन्मुख पूँजीवादी प्रवृत्तियो की व्यर्थता को वास्तविक जीवन-चित्र में प्रस्फुटित कर भावी सभावना की ओर समाज और उसके मानस को सक्रिय करे। समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन ले आने क लिए इस प्रकार की अभिव्यक्ति जनता को प्रबुद्ध करेगी। फलतः वर्गहीन समाज की स्थापना मे साहित्य अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकेगा।

राजनीति

मार्क्सवाद एक राजनीतिक दर्शन है। अतएव राजनीति से उसका अभिन्न सम्वन्ध है। राजनीति ही नही, वर्गहीन समाज की स्थापना में प्रयत्नशील पार्टी से वह असम्वद्ध नही है। मार्क्सवादी साहित्यिक यह कल्पना नही कर सकता कि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य राजनीति और पार्टी से असम्वद्ध होकर भी लिखा जा सकता है। सिद्धान्तहीन साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टि मे कोई मूल्य नही है। राजनीतिक और सिद्धान्तहीन साहित्य कलात्मक सौदर्य के नाम पर श्रेष्ठ माना जाय या नही, इस प्रश्न के उत्तर मे ज्दानोव ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि ऐसे साहित्य के श्रेष्ठ होने की वात तो दूर रही, उसे सोवियत सघ मे टिकने को दो बीता जगह भी नही दी जा सकती। सिद्धान्तहीनता के प्रचार करनेवाले 'जौश्चेको' को उसने कडी फटकार सुनाई है। 'लेवलुन्त्स' ने सिद्धान्तहीनता का प्रचार करते हुए कहा था, 'हमे उपयोगितावाद नही चाहिए। हम प्रचार के लिए नही लिखते। कला जीवन के समान वास्तविक है और जीवन के समान ही वह निरुद्देश्य और निरर्थक भी है। उसका अस्तित्व इसीलिए है कि उसका अनस्तित्व सभव नही है।"[2] 'ज्दानोव' ने इसपर टिप्पणी देते हुए कहा है, 'सेरापियन गुट के सदस्य कला के लिए यह भूमिका निश्चित करते हैं। वे कला से उसकी सैद्धातिक विषयवस्तु (आइडालाजिकल कान्टेट), उसका सामाजिक महत्व छीन लेते हैं। वे कला के सैद्धान्तिक छूछेपन का नारा बुलन्द करते है। 'कला, कला के लिए' का निरर्थक और निरुद्देश्य डका पीटते है। सचमुच यह अराजनीतिकता, टुटपुंजियापन और गदगी का प्रचार है।'[3] स्पष्ट है कि सिद्धान्तहीन कोई भी कलाकृति मार्क्सवादी दृष्टि मे प्रगतिशीलता के पद की अधिकारिणी नही हो सकती। 'जौश्चेको' की चर्चा समाप्त करते हुए उसने लिखा है कि 'यह हमारा काम नही

---

१. गोर्की एण्ड सोशलिस्ट रियलिज्म इन सोवियत लिटरेचर, जून १९४६
२. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और सस्कृति, पृ० ८३
३. डॉ० रामविलास शर्मा : वही, पृ० ८३-८४

है कि जोश्चेको की इच्छाओं के अनुकूल अपनी जीवन-प्रणाली और समाज-व्यवस्था को फिर से बनाये। यह काम जोश्चेको का है कि वह अपने को सुधारे। लेकिन अगर वह सुधरना नही चाहता तो वह सोवियत साहित्य से निकल जाय। सोवियत साहित्य मे सडी-गली, छूंछी, सिद्धान्तहीन और गदी रचनाओ के लिए जगह नही है।'[1] मार्क्सवाद छूंछी, सिद्धान्तहीन और निरुद्देश्य साहित्यिक कृतियो के सम्बन्ध में उक्त दृष्टिकोण का ही समर्थन करता है। विशुद्ध कलावाद को प्रश्रय देनेवाली साहित्यिक कृति का समाज के लिए कोई उपयोग नही है। राजनीतिक दृष्टि से वे समाजवादी समाज-निर्माण मे बाधक सिद्ध होती है। अतएव इस प्रकार की साहित्यिक कृतियो को प्रश्रय देना मार्क्सवादी सिद्धान्तो के विपरीत है। साहित्य का पुनीत कर्त्तव्य है कि वह मार्क्सवाद को क्रियान्वित करनेवाली राजनीतिक पार्टी की आशा-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देकर सर्वहारा वर्ग के अभूतपूर्व क्रातिकारी लक्ष्य को साकार रूप प्रदान करे। साहित्य और पार्टी के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए १९०५ मे लेनिन ने सर्वहारा लक्ष्य की पूर्ति के लिए 'पार्टीजन' साहित्य की माँग की थी। मार्क्स और एंगल्स को उन्होंने 'पार्टीजन' दार्शनिक बताया था। साहित्य के सम्बन्ध में लेनिन का कथन था कि जिस समाज मे वर्ग-भेद कायम हो, उसमें वर्गो से परे होकर साहित्य-रचना असंभव है। प्रश्न यह है कि तुम किस वर्ग के साथ हो। उस वर्ग के जो तमाम दुनिया को गुलाम बनाये हुए है या उस वर्ग के साथ जो इस व्यवस्था को बदलकर नये समाज-निर्माण की क्षमता रखता है और उसके लिए सघर्ष भी करता है। लेनिन की इस मान्यता पर प्रकाश डालते हुए 'ज्दानोव' ने कहा था कि साहित्य और कला 'पार्टीजन' हैं। वे वर्ग से सम्बद्ध है। वर्ग-संघर्ष से तटस्थ रहना उनके लिए सभव नही। इसी मान्यता के अनुसार लेखकों से माँग की जाती है कि वे पूँजीवादी आदर्शों का खण्डन करें और सामयिक यथार्थ को चित्रित कर समाजवाद की प्रगति में सहायक हो।

साहित्य और कला पर विचार करते हुए 'माओत्से तुग' ने उनकी आलोचना के दो मानदण्ड निर्धारित किये हैं—(१) राजनीतिक मानदण्ड, और (२) कलात्मक मानदण्ड। दोनो की तुलनात्मक विवेचना करते हुए उसने लिखा है—"राजनीतिक मानदण्ड से कलात्मक उत्पादन अच्छा होता है या तुलनात्मक रूप से अच्छा, यदि वह हमारी एकता, शत्रु-विरोध, और युद्ध के स्वार्थों की सेवा करता है; जनता मे एकता के भाव बढाता है, नीचे गिरने का विरोध करता है और प्रगति मे सहायता करता है.........कलात्मक उत्पादन बुरा होता है या तुलनात्मक रूप से बुरा, यदि वह जनता मे विभाजन और असन्तोष बढाता है। यदि वह प्रगति रोकता है और

१. डॉ० रामविलास शर्मा : भाषा, साहित्य और संस्कृति, पृ० ८४

जनता को पीछे खींचता है।"[१] तात्पर्य यह कि साहित्य के लिए राजनीति अनिवार्य है। राजनीति के अभाव मे साहित्यिक कला व्यर्थ है। इतना ही नही, आगे चलकर माओ ने साहित्य और कला को राजनीति के अधीन भी सिद्ध किया है........

"हम इस पक्ष मे नही है कि साहित्य और कला को अत्यधिक महत्व दिया जाय और न हम उसको कम महत्व देने के ही पक्ष मे है, यद्यपि साहित्य जबर्दस्त प्रभाव डालता है।........यदि हमारे पास साहित्य और कला न होती, नितान्त साधारण किस्म की ही, तो भी हम न क्रान्ति कर पाते, न विजय प्राप्त कर पाते। इस सत्य को न पहचानना गलती होगी।........जब हम यह कहते है कि साहित्य और कला राजनीति के अधीन हैं तब हमारा मतलब वर्ग-राजनीति और जन-राजनीति से है; कुछ राजनीतिज्ञो की तथाकथित राजनीति से नही। राजनीति चाहे क्रांतिकारी हो या क्राति-विरोधी, दो विरोधी वर्गों के सघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वह अलग-अलग व्यक्तियो के चरित्र-वैचित्र्य का प्रतिनिधित्व नही करती। सैद्धान्तिक संघर्ष, साहित्य और कला का युद्ध—इनको राजनीतिक युद्ध के अधीन रहना चाहिए, क्योंकि वर्ग की आवश्यकता और जनता की आवश्यकता अपने केंद्रित रूप मे राजनीति के ही माध्यम से प्रकट हो सकती है।"[२] चाउ-एन-लाई ने अपने लेख 'द प्युपिल्स न्यू लिटरेचर' में साहित्य को राजनीति का अस्त्र बताते हुए लिखा है कि हमें अपनी एकता को मजबूत करना चाहिए और जनता के साथ एक होकर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, नौकरशाही, पूंजीवाद, उपनिवेशवाद के सम्पूर्ण विनाश के लिए लडना चाहिए और एक जनतत्रात्मक गणतंत्र की स्थापना करनी चाहिए। हमे यह लडाई अपने साहित्यिक हथियारो द्वारा तेज करनी चाहिए।[३]

इस प्रकार मार्क्सवादी स्थापना के अनुसार लेखक के लिए सृजन-स्वातत्र्य की माँग का कोई अर्थ नही है। समाज और शासन से एकदम स्वाधीन होकर साहित्यकार रचना मे प्रवृत्त हो सकता है, मार्क्सवाद इसे नही मानता। सामाजिक विकास की समग्रता के चित्रण से साहित्य मे पूर्णता के हामी एन० एस० ख्रुश्चेव ने भी लेनिन के विचारो को प्रस्तुत करते हुए इस मत का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है कि सोवियत शासन का केंद्रीय लक्ष्य राष्ट्रीय निर्माण के पवित्र आदर्शों से सम्बद्ध है। इसलिए देश के साहित्यकार शासन के प्रभाव से वचित नही रह सकते।[४]

---

१. माओत्से तुग : प्राब्लम्स आफ आर्ट एण्ड लिटरेचर, पृ० २६
२. वही, पृ० २५
३. डॉ० रागेय राघव : समीक्षा और आदर्श, पृ० ११७
४. एन० एस० ख्रुश्चेव : समरी आफ स्पीचेज़, पृ० २७

हिन्दी के मार्क्सवादी समीक्षको ने भी रूसी विचारक समीक्षको की पद्धति को अपनाते हुए साहित्य को पार्टी-लिटरेचर के रूप मे देखने का प्रयास किया है। यद्यपि कुछेक प्रगतिवादी समीक्षक भी रूसी पैटर्न और पार्टी-पद्धति से हटकर साहित्यकार की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं। साहित्य के स्थायी आवेदन के लिए वे राजनीति को अनिवार्य नही मानते। हिन्दी के शीर्षस्थ मार्क्सवादी समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य को राजनीति से असम्बद्ध मानने के पक्ष मे नही है। रूसी समीक्षकों की भाँति वे भी साहित्य को सोद्देश्य और सर्वहारा जीवन का अंग मानते हैं। प्रगतिशील तत्वों के माध्यम से सामाजिक विकास में योग देनेवाले साहित्य को ही वह ऊंचे साहित्य के आसन पर विठाते हैं।

४. सीमाएँ : उपलब्धियाँ

मार्क्सवादी साहित्यकार की दृष्टि अधिकांशतः जन-हित की ओर लगी रहती है। जनता के नाम पर ये प्रायः साहित्यकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता की ओर से उदास हो जाते हैं।

साहित्य पर समाज की उत्पादन-शक्तियो का प्रभाव पड़ता है। परन्तु साहित्यकार परिस्थितियो का अथवा उत्पादन-साधनो का एकमात्र दास है—यह स्वीकार करना कठिन है। उत्पादन-साधनो से प्रभावित होनेवाला मनुष्य अन्ततः उनका सृष्टा भी होता है। उनके बंधन उसकी अपनी सीमाएँ हैं, जिनके परे भी वह वढते रहने का स्वप्न देखता रहा है। जिस समाज में सामन्ती प्रथा थी, उसमे चिंतन के क्षेत्र मे वैष्णव शक्ति का होना इसी मानव-शक्ति का परिचायक है। उत्पादन के साधनों की उन्नति पर ही कलाकार का व्यक्तित्व विकसित हो—यह आवश्यक नही है। कला की उन्नति इस वात पर भी निर्भर करती है कि कलाकार की चेतना युग के प्रति कितनी जागरूक है; कलाकार की आत्मा समाज की आत्मा से कितना तादात्म्य स्थापित कर पाती है। अतएव साहित्य समाज की आर्थिक परिस्थितियो से प्रभावित होने पर भी उससे अन्योन्याश्रित रूप से सम्वद्ध नही है।

मार्क्सवादी साहित्य का दूसरा दोप उसका राजनीति के प्रति अत्यधिक आग्रह है। प्रत्येक युग के शासको ने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि जन-कल्याण के सिद्धान्त का आडम्बर रचकर लेखको को दवाया जाय ताकि वे तत्कालीन शासक-वर्ग की प्रशंसा करते रहे। शासक-वर्ग द्वारा साहित्य के इस शोपण के प्रति जागरूक होने पर भी, खेद की वात है कि मार्क्सवादी कलाकार भी अन्ततः इसी दोप के शिकार होते रहे हैं। सचमुच जव किसी पार्टी के नेता ही साहित्य का नियमन करते हैं और वह भी जन-कल्याण का दावेदार वनकर, तव जन-कल्याण तो गौण हो जाता है; तत्कालीन

पार्टी दस्तावेज को व्यावहारिक रूप प्रदान करना साहित्यकार अपना कर्त्तव्य समझने लगता है और साहित्य के नाम पर वही वस्तु छपती है जो पार्टी-सदस्यो की रुचि को तृप्ति देती है। इस प्रकार साहित्य अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है। डॉ० रांगेय राघव के शब्दों में, "फलत: असगति, अनर्गलता, टुटपुँजियापन-मनोवृत्ति और बौद्धिक-दासता साहित्य पर हावी हो जायेगी, जहाँ लेखकों का एकमात्र उद्देश्य होगा कि वे स्वयं नेता न रहकर राजनीतिज्ञो के भाषणो को मुँह बनाकर सुना करे और उन्हे लिपिबद्ध करके इनाम पाया करे।"[1]

वस्तुत: साहित्यकार किसी दल के प्रति नही, जनता के प्रति उत्तरदायित्व वहन करता है। यही वास्तव मे बहुजनहित है, जीवन का यथार्थ है, जो साहित्य की मूल शक्ति है। जो दलीय प्रतिबन्धो मे न पड़कर जन-जीवन के प्रति ईमानदार होते हैं, वे ही वास्तविक साहित्य का सृजन करते हैं। जो लेखक अपने आदर्श को दल के यथार्थ से जोडकर अपने पात्रो को अपनी मनचाही रीति से रगता है, वह वास्तव में निकृष्ट तथा लल्लो-चप्पो की कला को जन्म देता है और जो जीवन के यथार्थ मे रहते पात्रो को अपनी कल्पना से नही रगता, वरन् अपने आदर्श को यथार्थ के सत्य के साथ प्रस्तुत करता है, वास्तव में उच्च कोटि का कलाकार होता है। वही स्थायी साहित्य का सृजन करता है।[2]

मार्क्सवादी साहित्य का तीसरा दोष यह है कि प्रगतिशीलता के नाम पर वह समस्त परम्परागत साहित्य को बूर्जुआ साहित्य घोषित कर कलाकार की ईमानदारी के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करता है। प्राचीन साहित्यकार मानवतावादी भावना से वंचित रहा हो, ऐसा नही कहा जा सकता। प्राय: हर युग के श्रेष्ठ साहित्यकार ने अतीत की विरासत से प्राप्त होनेवाली लोक-कल्याण की भाव-धारा को किसी-न-किसी रूप में आगे बढाया है। मानवतावाद की यह परम्परावादी भावधारा भले ही मार्क्सवादी प्रगतिशीलता की कसौटी पर खरी न उतरे, पर उसके मूल मे काम करने वाली साहित्यकार की लोक के प्रति निष्ठा अवश्य व्यक्त होती है। अतएव परम्परागत प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन मे हमे उदारता बरतनी ही होगी। मार्क्स और एगल्स मे यह उदारता वर्तमान थी। वे बिना किसी पूर्वाग्रह के शेक्सपीयर को श्रेष्ठ साहित्यकार मानते थे। वे दोनो साहित्य को युग के संदर्भों मे परखने के पक्षपाती थे।

सीमाओ के बावजूद मार्क्सवादी साहित्य की अपनी मौलिक उपलब्धियाँ भी हैं। इस पद्धति ने सर्वप्रथम साहित्य को कल्पना के वायवी धरातल से ठोस मानवीय

---

१. डॉ० रांगेय राघव : समीक्षा और आदर्श, पृ० ४३

२. वही, पृ० ४६

धरातल पर उतार कर उसमे सामाजिक यथार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा की। अब तक के साहित्यिक जिस प्रकार अलौकिक, चिरन्तन और कल्पनापरक भावों के पीछे दौड़ रहे थे, उसी प्रकार साहित्य के आचार्य भी शाश्वत मानदण्डों के पीछे पडकर मानव की सामाजिकता से एकदम अलग हो गये थे। मार्क्सवादी कलाकार ने सबसे पहले साहित्यकार की चेतना को समाजोन्मुखी किया।



अध्याय तीन :: पृष्ठभूमि

१. (क) यशपाल की जीवन-यात्रा

(१) प्रारंभिक जीवन

पचनद का पहाडी इलाका—कांगडा और वहाँ का एक साधनहीन श्रेणी का खत्री-परिवार। परिवार के मालिक हीरालाल, जिनकी पत्नी श्रीमती प्रेमदेवी। श्री हीरालाल एक साधारण व्यवसायी थे। सम्पत्ति के नाम पर उनके पास एक छोटी-सी दूकान और थोडी-सी जमीन पर खडा एक कच्चा मकान था। ब्याज पर वे कुछ रुपये ऋण के रूप में भी दिया करते थे, जिसका हिसाब-किताब गुप्त ही रखते थे। प्रेमदेवी, जो एक अच्छे कुल की सन्तान थी, पति की आर्थिक स्थिति से सन्तुष्ट न थी। आर्थिक स्थिति से सन्तुष्ट न होने का कारण यह नही था कि वे विलासिता का जीवन विताना चाहती थी, बल्कि यह कि उन्होने सोचा कि यह आर्थिक स्थिति और कांगडे का वातावरण उनकी भावी सन्तान के जीवन-विकास मे बाधक होगा। उनका ऐसा सोचना इसलिए संभव हो सका कि आर्यसमाजी सिद्धान्तो से प्रभावित होने के कारण वे यह स्पष्ट देख रही थी कि अब युग बदल रहा है, जीवन-विकास के लिए शिक्षा का महत्व दिनो-दिन बढ रहा है, शिक्षा के अभाव में भावी पीढ़ी का जीवन अर्थहीन होकर रह जायेगा। परिणामतः पति का सान्निध्य छोडकर उन्होंने फीरोजपुर (छावनी) मे अध्यापिका की नौकरी कर ली। यशपाल का जन्म यही ३ दिसम्बर, १६०३ ई० को हुआ। प्रेमदेवी का अध्यापिका वन जाना स्वतः में एक क्रान्तिकारी कदम था, परम्परागत नारी-जीवन की लीक से अलग हटकर नई राह का निर्माण करना था। यह वात हमारे मस्तिष्क को तव और कसकर बाँध लेती है, जब हम यह देखते हैं कि कांगडा जेसे परम्परावद्ध, अशिक्षित, पिछडे पहाडी इलाके की एक नारी ऐसा कदम उठाती है। विचार और व्यवहार, दोनों स्तरो पर परम्परा-विरोधी और क्रांतिकारिणी माता की सन्तान हैं यशपाल। जिस वालक की शिरा-धमनियो मे ऐसी माँ का रक्त प्रवाहित हो रहा हो, वह जान हथेली पर रखकर क्रांति का पहरुआ वन जाये, तो स्वाभाविक ही है।

सात-आठ साल की अवस्था मे यशपाल को विद्यार्जन के लिए गुरुकुल कांगडी भेज दिया गया। गुरुकुल कागडी का वातावरण यशपाल की मानसिकता के अत्यन्त अनुकूल पडा। वहाँ पर दी जाने वाली शिक्षा का मूल स्वर सयम का जीवन, राष्ट्र-प्रेम और विदेशी दासता से मुक्ति था। साम्राज्यवादी अग्रेजो के प्रति घृणा की भावना

यशपाल के मन में वड़ी छोटी अवस्था में ही उत्पन्न हो गई थी। चार-पाँच वर्ष की आयु रही होगी। उनकी माता युक्त प्रान्त के किसी कस्वे में अपने सम्वन्धी के यहाँ गई थीं। सम्वन्धी कपास ओटने के एक कारखाने के मैनेजर थे। उनके घर के पास ही एक वंगले में एक अंग्रेज परिवार रहता था, जिसने मुर्गियाँ पाल रखी थीं। यशपाल आखिर थे तो लडके ही, मुर्गियो को छेड़ने लगे, जिस पर अंग्रेज महिला ने उन्हें 'गधा' या 'उल्लू' जैसी कोई गाली दे दी। वालक यशपाल उसे वर्दाश्त न कर सके और उसका मुँह-तोड़ जवाव दिया। अंग्रेज-महिला द्वारा शिकायत किये जाने पर यशपाल को वड़ी मार पड़ी। तभी से यशपाल के हृदय में अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव वद्धमूल हो गया। गुरुकुल के वातावरण में घृणा के इस विरवे को पनपने का खूब अवसर था, इसीलिए यशपाल को वह वड़ा मनोनुकूल मालूम पड़ा।

गुरुकुल के संयमपूर्ण, नियमित जीवन ने उनमे एक सैनिक का अनुशासन भर दिया। साथ ही, वहाँ पर एक वडी ही कटु अनुभूति भी हुई। जव वे सातवी कक्षा मे थे, उन्हे सग्रहणी हो गई। अत्यन्त मेधावी और अनुशासित छात्र होने के नाते यशपाल गुरुकुल के अधिकारियो को वड़े प्रिय थे। इसलिए अधिकारियों ने यशपाल के वीमार पड़ जाने पर उनके उपचार और खाने-पीने की वड़ी ही अच्छी व्यवस्था की। उनके लिए की गई खाने-पीने की सुन्दर व्यवस्था देखकर उनके अन्य सहपाठी व्यंग्य करते—"वाह, वाह, एक तो मुफ़्त यहाँ रहता है, दूसरे सव लोगों से अधिक मक्खन, मलाई खाता है।"[1] यशपाल को यह वात तीर की तरह चुभती। भला तव मक्खन, मलाई गले के नीचे कैसे उतरती! परिणामतः वे ये चीजे खाने से इन्कार कर देते और कहते—"ये चीजे मुझे अच्छी नही लगतीं।" इस पर सहपाठियों के दूसरे ढग के ताने सुनने को मिलते—"कभी घर पर खाया हो तव तो अच्छा लगे।" किसी भी तरह गुज़ारा नहीं। उनका किशोर मन विश्लेषण के वाद पाता कि यदि मैं गरीव न होता तो इस विषैले अपमान की पीड़ा न झेलनी पड़ती। गुरुकुल की उस घटना ने ग़रीबी के प्रति भी उनके मन में घृणा के वीज वो दिये। यशपाल के मन ने जरूर तय कर लिया होगा कि वश चलते अपनी गरीवी कभी भी किसी पर प्रकट न होने दूँगा। इस प्रकार स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि गुरुकुल के जीवन मे उत्पन्न होने और पलनेवाली दो भावनाएँ—(१) अंग्रेजो से घृणा, इसीलिए साम्राज्यवाद से घृणा, और (२) गरीवी से नफरत—यशपाल के चिन्तन और व्यवहार की प्रेरक तत्व रही है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का सार-तत्व भी ये ही दो भावनाएँ हैं।

वीमारी के कारण इनकी माँ इन्हे गुरुकुल से लाहौर लिवा ले गईं और वहाँ

---

१. यशपाल : सिंहावलोकन, भाग १, पृ० ६७

डी० ए० वी० स्कूल में भर्ती करा दिया। उस समय इनकी आयु १४ वर्ष की थी। उन्ही दिनों रौलेट-बिल-विरोधी आन्दोलन चल रहा था। लाहौर में भाई परमानन्दजी, बालमुकुन्द और बलराज आदि की राजनीतिक गिरफ्तारियाँ हो चुकी थी, जिससे वहाँ एक तनावपूर्ण आतंक-भरा वातावरण व्याप्त था। १६१६ ई० में उक्त आन्दोलन स्थगित हो जाने के बाद वे लाहौर से फीरोजपुर छावनी चले गये, जहाँ उनकी माँ प्राइमरी आर्य कन्या पाठशाला में पढ़ाती थी। छावनी के सरकारी मिडिल स्कूल मे उन्हे दाखिल करा दिया गया और वही उनका परिचय और घनिष्ठता लाजवन्तराय से हुई। सार्वजनिक कार्य की भावना से वे वहाँ के आर्यसमाज मदिर मे जाने लगे और अपनी प्रतिभा एवं वक्तृत्व-शक्ति के बल पर उस क्षेत्र मे अच्छा स्थान बना लिया। मिडिल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होकर वे 'मनोहरलाल हाई स्कूल' मे नवी कक्षा मे प्रविष्ट हो गये।

उन्ही दिनो छावनी मे अछूत बालको को पढाने के लिए एक रात्रि पाठशाला आर्यसमाज की ओर से खोली गई। उसमे उन्होने स्वयसेवक के रूप मे पढ़ाना शुरू किया। पाठशाला के प्रधानाध्यापक का पद उन्हे दिया गया। बाद मे जब अन्य स्वय-सेवक अध्यापको के कार्य मे शिथिलता आती दिखाई पडी तो वैतनिक अध्यापको की नियुक्तियाँ हुईं। अन्य नये वैतनिक अध्यापको के साथ यशपाल को भी नियुक्त किया गया। अवैतनिक कार्य के दिनो मे इन्होने इतनी लगन और निष्ठा से कार्य किया था कि स्कूल के अधिकारी इनसे बहुत प्रसन्न थे। फलतः नई सवेतन नियुक्तियो के समय भी इनका प्रधानाध्यापक का पद इन्ही को मिला। साथ ही, वेतन के रूप मे आठ रुपये मासिक तय हुए। यह यशपाल की पहली कमाई थी। पढ़ना और पढाना दोनो साथ चलते रहे। इसके अतिरिक्त एक तीसरा काम भी इन्होने अपने ऊपर ले लिया। इनकी मां सुबह सात बजे ही सबका खाना बनाकर स्कूल चली जाती थी। लौटने पर चौका-बर्तन करना पडता था। यशपाल से माँ की यह परेशानी सही न गई। झट उन्होंने चौका-बर्तन करने और पानी भरने का काम अपने कन्धो पर ले लिया। इतनी छोटी आयु मे इन मामूली-सी जान पडनेवाली बातो पर इतनी गम्भीरता से विचार करना गहन दायित्व-बोध के अतिरिक्त और कुछ नही। यह दायित्व-बोध हमें उनके सम्पूर्ण क्रान्तिकारी और लेखकीय जीवन मे दृष्टिगोचर होगा, जिसमे कही भी किसी तरह की शिथिलता नही आने पाई है।

फीरोजपुर छावनी मे ही लाजवन्तराय की सहायता से इन्होंने विदेशी कपडो की होली जलाई। मैट्रिक की परीक्षा समाप्त होने पर छुट्टियों में कांग्रेस-आन्दोलन मे स्वयसेवक के रूप में सक्रिय कार्य आरंभ किया। फीरोजपुर छावनी के आसपास के गाँवों मे जा-जाकर भाषण देने और जनता में राजनीतिक चेतना फूंकने का काम भी

हाथ में लिया। यशपाल ने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में, स्कूल मे सर्वप्रथम होकर उत्तीर्ण की। उस समय यदि वे किसी सरकारी कालेज मे प्रविष्ट होते तो छात्रवृत्ति भी मिलती। गरीबी मे यह छात्रवृत्ति कितनी सहायक होती, आसानी से समझा जा सकता है; पर यशपाल ने उसकी रचमात्र परवाह नही की। माँ ने भी उन्हे बहुत समझाया, क्योकि माँ की इच्छा उन्हे वकील बनाने की थी, पर यशपाल की राष्ट्र-भक्ति और निष्ठा के आगे उन्हे सर झुकाना पडा। परिणामतः लाहौर मे लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'नेशनल कालेज' में वे प्रविष्ट हुए। यह प्रायः निश्चित था कि 'नेशनल कालेज' की शिक्षा से उन्हे किसी भी प्रकार की नौकरी नही मिलने वाली थी, पर फिर भी यशपाल वही दाखिल हुए। यह किस तथ्य की ओर इगित करता है? छोटी-सी वय मे जीवन के सम्पूर्ण पथ को साफ-साफ देखकर उसे निर्धारित कर लेना, साधारण क्षमता और शक्ति का काम नही। दूरदर्शिता के ऐसे उदाहरण विरल ही मिलते हैं।

'नेशनल कालेज' मे यशपाल का परिचय भगतसिह, सुखदेव, भगवतीचरण आदि से हुआ। इनके सम्पर्क मे आने पर, पारस्परिक विचार-विनिमय के कारण यशपाल की राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना मे और प्रखरता आई। 'नेशनल कालेज' का वातावरण भी सयोग से राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ था। भारतीय इतिहास और राजनीति के अध्यापक प० जयचन्द्र विद्यालकार के मार्गदर्शन से इनके मन मे इतिहास के प्रति उत्कट निष्ठा जागी, साथ ही राजनीतिक दृष्टि मे और अधिक सुथरापन और पैनापन आया। उन दिनो वहाँ पर हिन्दी के प्राध्यापक थे प्रसिद्ध नाटककार और उपन्यासकार श्री उदयशकर भट्ट। भट्टजी के प्रोत्साहन और निर्देशन से यशपाल की मनोभूमि मे पहले से ही अकुरित साहित्य का विरवा विकसित और पल्लवित हो उठा।

एक ओर यशपाल की राजनीतिक चेतना सक्रिय थी, तो दूसरी ओर वे अध्ययन मे भी पूरी लगन और निष्ठा से लगे हुए थे। दो वर्षों का पाठ्यक्रम एक ही वर्ष में कर लेने की उन्होने जी-तोड कोशिश की। उनके अन्य साथी, विशेषकर भगतसिह और सुखदेव—जब अध्ययन छोड देश-सेवा के प्रति पूर्णतः समर्पित हो, फरार हो गये थे, तब यशपाल एक साथ ही तीन मोर्चों—(१) अध्ययन, (२) राजनीति, और (३) जीविकोपार्जन—पर लड रहे थे। जीविकोपार्जन की लडाई उन्हे इसलिए लडनी पड रही थी क्योकि उनकी अध्यापिका माँ की आय अत्यन्त सीमित थी। माँ को अधिक कष्ट न देकर यशपाल स्वतः बडे-से-बडा सघर्ष झेलने के लिए कटिबद्ध थे। इसमे उनकी मातृभक्ति भी झाँक रही है और सघर्षो से जूझने का अदम्य साहस भी। इन परिस्थितियो में यशपाल ने 'नेशनल कालेज' के स्कूल-विभाग मे अध्यापन-कार्य करते हुए बी० ए० की उपाधि प्राप्त की।

(२) क्रान्तिकारी साधना

चौरीचौरा काण्ड के कारण गांधीजी ने १६२१ ई० मे असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। फलतः जनता हताश हो उठी। वे युवक, जो स्वातंत्र्य-यज्ञ में प्राणो की आहुति तक देने को तैयार थे, गांधीवादी आन्दोलन मे विश्वास खो बैठे और सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग को अधिक उपयुक्त और फलदायक समझकर क्रान्तिकारी बन बैठे। 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र दल' (एच० आर० ए०) नामक सगठन देश मे पहले से ही क्रान्ति के गुप्त कार्य कर रहा था। पंजाब के युवको—भगतसिंह, सुखदेव, भगवतीचरण आदि—ने जनता में उग्र राष्ट्रीय भावना जगाने के लिए 'नौजवान भारतीय सभा' का भी गठन किया। इन दो संगठनो ने यशपाल तथा उनके साथियो को वह मच प्रदान किया, जहाँ से उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियाँ तीव्रता से चलाई।

दिसम्बर, सन् १६२८ ई० मे लाला लाजपतराय पर लाठी प्रहार करने वाले पुलिस इस्पेक्टर साण्डर्स का वध कर राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लिया गया। सन् १६२६ ई० के मार्च मे जब भगतसिंह ने दिल्ली असेम्बली मे बम-विस्फोट किया तो साम्राज्यवादी अंग्रेज शासक भयाक्रांत हो उठे। इसी बीच अप्रैल मे लाहौर मे बम फैक्टरी पकडी गई। बम बनाने का काम मुख्यतः यशपाल ही करते थे। परिणामतः वे लाहौर से फरार हो गये। पर फरार होने का अर्थ उनके लिए कही छिपकर बैठ जाना नही था। भगवतीचरण से मत्रणा कर उन्होने तुरन्त बम बनाने का दूसरा स्थान निर्धारित किया।

नया स्थान रोहतक था। वहाँ के एक वैद्य लेखराम, जो इन क्रान्तिकारियो के पुराने परिचित थे, के यहाँ यशपाल ने नौकरी कर ली। अपना नाम बदल कर 'किसना' रख लिया। यहाँ बम बनाने की क्रिया मे यशपाल को जिन परेशानियो और यत्रणाओ से गुजरना पडा, वह यशपाल के अपने लक्ष्यो के प्रति पूर्णतः समर्पित और अटूट भाव से निष्ठावान होने का प्रमाण है। भयानक घुटन पैदा करने वाले तेजाब के साथ आठ-दस घण्टे काम कर लेने के बाद वैद्य लेखराम की दूकान पर दवा कूटने, उन्हे पखा झलने तथा अभ्यागतो के लिए कुएँ से शीतल जल लाने का भी काम यशपाल करते थे। तेजाब के धुएँ से जब उनके कपडे जीर्ण-शीर्ण हो गये तो मात्र लंगोट लगा-कर काम करने लगे। तेजाब का असर तो होना ही था, इसलिए कपडो के अभाव में उनके शरीर की त्वचा झुलस कर झिल्लियाँ छोडने लगी, पर यशपाल ने अपना काम नहीं छोडा। उद्देश्य के प्रति अद्भुत आस्था और गहरी निष्ठा का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या चाहिए? हाँ, इससे भी बढकर क्रातिकारी और जीवन को दाँव पर लगा देने वाला काम यशपाल ने सन् १६२६ ई० के दिसम्बर मे किया। वाइसराय लार्ड इर्विन की गाडी को बम-विस्फोट द्वारा उड़ा देने की जो योजना उनके दल ने बनाई, उसे

यशपाल ने स्वतः कार्य रूप मे परिणत किया। जिस रेलवे लाइन पर से वाइसराय की गाडी गुजरने वाली हो, उस पर पुलिस का पहरा कितनी मुस्तैदी से होगा, इस वात को यशपाल भली भाँति जानते थे। उन्हे यह भी मालूम था कि विस्फोट करने वाले का पकडा जाना प्रायः निश्चित है। पकडे जाने के वाद के खतरो से भी वे वेखवर नही थे। पर सव जानकर भी उन्होने वम-विस्फोट का कार्य किया। यह अलग वात है कि सयोग मे पकडे नही गये, पर इससे यह तो सावित हो ही जाता है कि अपने को मौत के मुँह में रखकर ही उन्होने उक्त काम किया। मृत्यु की इस घनघोर उपेक्षा के पीछे क्या दिखाई पड रहा है ? यशपाल की वीरता, जवाँ-मर्दी, दुर्दमनीय साहस, उद्देश्य-निष्ठा, देश-प्रेम और साम्राज्यवाद-निर्मूलन तथा स्वतत्रता-प्राप्ति की उत्कट कामना आदि।

दल के सामने आर्थिक संकट तो हमेशा ही वना रहता था। कई-एक राजनीतिक डकैतियो के वाद भी समस्या सुलझ नही पा रही थी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी वीर सावरकर के वडे भाई वावा साहेव सावरकर से आर्थिक सहायता का आश्वासन पाकर यशपाल उनके घर महाराष्ट्र गये। वातचीत के दौरान यशपाल और वावा साहेव सावरकर का सैद्धातिक मतभेद प्रकट हुआ। वावा साहेव ने पचास हजार रुपये देने का वायदा किया, पर इस शर्त के साथ कि मुस्लिम नेता जिन्ना की हत्या की जाये। यशपाल को वावा साहेव का हिन्दू राष्ट्रवादी साम्प्रदायिक रूप स्वीकार न हुआ। उन्हे लगा कि साम्प्रदायिक हत्या करके वे अपने ही सिद्धान्त—समाजवादी सिद्धान्त—के प्रतिकूल आचरण कर वैठेंगे, अपने ही हाथो अपना उद्देश्य पराजित कर लेंगे। परिणामतः वावा साहेव का प्रस्ताव उन्होने अस्वीकार कर दिया। पचास हजार रुपये का लोभ साधारण नही था। और कोई होता तो शायद उसके चक्कर मे आये विना न रहता, पर यशपाल जैसा सिद्धान्त-प्रिय व्यक्ति अपने ही हाथो अपने सिद्धान्तो की कब्र कैसे खोदता ? फलतः वे वहाँ से लौट आये।

काग्रेसी यशपाल १६२१ ई० मे आतकवादी यशपाल वन गये थे, पर धीरे-धीरे उनका झुकाव समाजवाद की ओर होने लगा था। 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातत्र सेना' का सक्रिय सदस्य होना ही इसका प्रमाण है। सगठन के नाम मे प्रयुक्त 'समाजवादी' शब्द यही सिद्ध करता है कि उस सगठन की नीतियाँ समाजवादी सिद्धान्तो के ही अनुकूल थी। हि० स० प्र० स० की नीतियो का स्पष्टीकरण 'वम का दर्शन' नामक घोषणा-पत्र से हो जाता है। यह घोषणा-पत्र यशपाल और भगवतीचरण ने मिलकर तैयार किया था। घोषणा-पत्र प्रकाशित करने की आवश्यकता इन्हे तव प्रतीत हुई, जव देश के लिए अपना सर्वस्व वलिदान कर देने के लिए तैयार वहादुर नौजवान क्रान्तिकारियो पर गाधीजी ने आतकवादी और हत्यारा होने का दोषारोपण किया। घोषणा-पत्र से दो उद्देश्य एक साथ ही सिद्ध हुए। एक तो यह कि जनता पर यह

स्पष्ट हुआ कि ये आतंकवादी नहीं है और दूसरे, क्रान्ति के सम्बन्ध मे इनके विचार स्पष्ट हुए। "क्रांतिकारियों का विश्वास है कि देश की जनता की मुक्ति केवल क्रान्ति द्वारा संभव है। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार मे सशस्त्र संघर्ष ही नही है। हमारी क्रान्ति का लक्ष्य एक नवीन, न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है। इस क्रान्ति का उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करके श्रेणीहीन समाज की स्थापना करना और विदेशी तथा देशी शोषण से जनता को मुक्त कर आत्म-निर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषको के हाथ से शासन-शक्ति लेकर मजदूर-श्रेणी के शासन की स्थापना करना है।"[1]

वैचारिक स्तर पर समाजवादी पद्धति के अनुकूल चिन्तन करने के कारण यशपाल व्यक्ति और जीवन के सम्बन्धो पर पारस्परिक एवं रूढ़िग्रस्त विचारो से अलग हटकर सोचने-विचारने लगे थे। इसी का परिणाम था कि उन्होंने प्रकाशवती को जीवन-साथी के रूप मे अंगीकार कर लिया। इस घटना से दल के कई साथियो ने उन पर विलासी हो जाने का दोषारोपण किया। समाजवादमूलक क्रान्तिकारी कार्यों मे अपने विश्वास के कारण यशपाल राजनीतिक डकैतियो मे भाग लेना पसन्द नही करते थे। इसे उनकी नई मानसिक दुर्बलता बताकर प्रकाशवती वाली घटना के साथ जोड़ दिया गया। जब एक बार आरोपो का क्रम शुरू हुआ तो फिर फिजूलखर्ची, दुर्गा भाभी और सुशीला दीदी के साथ छेड़खानी, भगवतीचरण की हत्या आदि-आदि के न जाने कितने आरोप लगाये गये। हि० स० प्र० स० के तत्कालीन कमाण्डर-इन-चीफ चन्द्रशेखर आजाद को ये सब बाते सुनाकर भड़काया गया। क्षुब्ध होकर आजाद ने 'केन्द्रीय समिति' की सहमति से यशपाल को गोली मार देने का आदेश दे दिया। कानपुर के वीरभद्र तिवारी से सारी बात मालूम होने पर यशपाल गोली का निशाना बनने से तो बच गये, पर मिथ्या दोषारोपण के कारण उनका अन्तःकरण अत्यन्त आहत और व्यग्र हो उठा। व्यग्रता प्राणरक्षा के लिए नही थी, अपितु सम्मान-रक्षा के लिए थी। सम्मान के आगे प्राण इन बलिदानियो के लिए नगण्य था। इसलिए यशपाल ने सारी बात चन्द्रशेखर आजाद के सामने स्पष्ट करनी चाही, इस घोषणा के साथ कि "यदि मैं स्पष्टीकरण के बाद भी दोषी पाया जाऊँ तो निस्सन्देह मुझे गोली मार दी जाय। मुझे कोई एतराज नही होगा।"

चन्द्रशेखर आजाद के सम्मुख जो सफाई यशपाल ने दी, उससे उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता, निर्भ्रान्त चिन्तन, जीवन-दृष्टि पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। प्रकाशवती वाली घटना को लेकर प्रेम और विवाह के संदर्भ मे उनका उत्तर था—"क्रान्ति को हमने

---

१. यशपाल : सिंहावलोकन, भाग २, पृ० १४५

सम्पूर्ण जीवन के कार्य के रूप में अंगीकार किया है। इसलिए जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने से इन्कार नही किया जा सकता, बशर्ते क्रान्ति के कार्य में किसी तरह की अडचन न आये।" और इतिहास साक्षी है कि प्रकाशवती का उनके जीवन मे आना अड़चन के बदले क्रान्ति के कार्य मे और सहायक हुआ है। प्रकाशवती स्वत: एक उग्र क्रान्तिकारिणी महिला थी। उनका क्रान्ति दल में आना भावना पर नही, गभीर चिन्तन पर आधारित था। अन्यथा वे जेल के सीखचो मे बंद यशपाल से स्वत: प्रयत्न करके विवाह न करती, विशेषकर तब जब कि यशपाल को चौदह वर्ष की लम्बी सख्त सजा हुई थी।

यशपाल से सारा स्पष्टीकरण सुनकर दल के नेता चन्द्रशेखर आजाद के मन से सारी भ्रान्तियाँ तो दूर हो ही गईं, ऊपर से यशपाल पर उनका विश्वास और अधिक बढ गया। इसका प्रमाण उस बात से मिलता है कि जब आन्तरिक वैमनस्य और फूट से दुखी होकर दल भग करते हुए आजाद ने शस्त्रो के बँटवारे के समय यशपाल को अन्य प्रान्तीय प्रतिनिधियो की अपेक्षा एक रिवाल्वर अधिक देकर कहा था—"मुझे विश्वास है कि शस्त्रो का और कोई चाहे कुछ करे-न-करे, सोहन (आजाद यशपाल को सोहन ही कहते थे) उनका प्रयोग जरूर करेगा।" यह स्मरणीय है कि यशपाल उस समय किसी भी प्रान्त के प्रतिनिधि नही थे।

फरवरी, सन् १९३१ ई० मे हि० स० प्र० स० के कमाण्डर-इन-चीफ चन्द्रशेखर आजाद, संभवत: अपने ही दल के किसी व्यक्ति के विश्वासघात के कारण इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क मे अंग्रेज सरकार की पुलिस से घेर लिये गये और उससे लडते हुए शहीद हो गये। अब दल के नेतृत्व का प्रश्न आ खड़ा हुआ। विचार-विमर्श के बाद यशपाल को दल का कमाण्डर बनाया गया। पर दल का दुर्भाग्य कि यशपाल जैसे सुलझे हुए नेता के नेतृत्व से वह लगभग एक वर्ष मे ही वचित हो गया, जब वे इलाहाबाद मे आयरिश महिला सावित्री देवी के घर पर पुलिस से लडते हुए पिस्तौल की गोलियाँ समाप्त हो जाने के कारण गिरफ्तार कर लिये गये।

गिरफ्तारी के बाद जितने बडे-बडे प्रलोभन उत्तर-प्रदेश के पुलिस विभाग के डिप्टी सुप्रिटेंडेंट मिस्टर बैनर्जी द्वारा यशपाल के सामने रखे गये, उनसे किसी के भी विचलित हो जाने की संभावना की जा सकती है (अनेक क्रांतिकारी ऐसे प्रलोभनों अथवा भय के कारण मुखबिर बन भी गये थे)। पर यशपाल पर्वत की तरह अडिग और निष्कंप दीपशिखा की भाँति प्रभा-मंडित बने रहे। जेल-जीवन मे भी यशपाल नेतृत्व का कार्य करते रहे। 'सी' क्लास के राजनैतिक कैदियों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करते रहे। फतेहगढ सेंट्रल जेल में मन्मथनाथ गुप्त और मणीन्द्रनाथ बैनर्जी के साथ मिलकर अनशन आदि के जो भी कार्य किये और कराये जा सकते थे, यशपाल

ने किया। बरेली की जेल मे सन् १९३६ ई० में इनकी शादी प्रकाशवती से हुई। यह जेल-जीवन के इतिहास मे 'न भूतो न भविष्यति' जैसी घटना थी। सन् १९३७ ई० में जब अनेक प्रान्तो में कांग्रेस सरकारे बनी, तो उन्होने तमाम राजनीतिक कैदियो को रिहा करने का निर्णय किया। यशपाल उस समय नैनी सेंट्रल जेल मे थे। तत्कालीन सयुक्त प्रान्त के जेल-मत्री श्री मुहम्मद रफी अहमद किदवई २ मार्च, सन् १९३८ ई० को स्वतः जाकर यशपाल को जेल से घर ले आये।

जेल से छूटने के समय यशपाल का स्वास्थ्य खराब हो गया था, जिससे स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए उन्हे भुवाली सैनिटोरियम जाना पडा। शायद वे भुवाली न जाकर पजाब ही जाते, पर तत्कालीन पजाब सरकार ने उनके पजाब-प्रवेश के विरुद्ध प्रतिबंधात्मक आदेश जारी कर दिया था। भुवाली से लौटने पर उन्होंने लखनऊ के 'कर्मयोगी' साप्ताहिक मे पचहत्तर रुपये मासिक की उप-सम्पादक की नौकरी कर ली। पर सैद्धांतिक मतभेद हो जाने के कारण पत्र मे बने रहना उनके लिए सभव न हो सका। अन्ततोगत्वा परिस्थितियो ने यशपाल को पत्रकार और लेखक के उस जीवन की ओर अग्रसर किया, जिस पर वे आज तक चले जा रहे है। माँ की तीन सौ रुपये की थाती लेकर 'विप्लव' नाम का पत्र प्रकाशित किया, जिसका सगठन एव आर्थिक पक्ष प्रकाशवती सँभालती थी तथा लेखन-पक्ष स्वतः यशपाल।

(३) मार्क्सवादी आस्था

साम्राज्यवादी शोषण और दासता के विरुद्ध उद्वेलित भारत ने जिन नौजवानो को जन्म देकर सशस्त्र क्राति की दिशा मे बढने को प्रेरित किया, उनमे यशपाल अत्यन्त भास्वर, तेजोद्दीप्त और इसीलिए सबसे भिन्न दिखाई पड़ते हैं। भिन्न इस अर्थ मे कि अन्य क्रांतिकारियो के निकट क्राति जब ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यों और लूट-मार तक सीमित थी, तब यशपाल के निकट इसका कुछ और महत्तर और अधिक व्यापक अर्थ था और वह यह कि शोषणपरक विदेशी शासन से राजनीतिक मुक्ति तो मिले ही, शासन-व्यवस्था (समाज-व्यवस्था) भी बदले। अर्थात्, शासन-सूत्र का हस्तान्तरण तो वे चाहते ही थे, शासन-पद्धति मे भी परिवर्तन चाहते थे। यही बात यशपाल को उनके अन्य साथियो से भिन्न भूमि पर अवस्थित करती है।

यद्यपि काकोरी काण्ड के बाद दल का पुनस्सगठन करते हुए भगतसिंह आदि ने दल का जो नया नामकरण—'हिंदुस्तानी समाजवादी प्रजातत्र सघ'—किया, उसमें आये हुए 'समाजवादी' और 'प्रजातत्र' शब्दो से दल की बदली मूल चेतना स्पष्ट हो जाती है, पर फिर भी दल के अधिकाश साथियो के मस्तिष्क मे इन शब्दो का अर्थ धुधला-धुंधला-सा ही था। यशपाल तथा उन्ही जैसे एकाध साथी (तात्पर्य भगवतीचरण

सेहै) इन शब्दों को उनकी पूरी अर्थवत्ता के साथ देख रहे थे। सन् १६३० ई० में इन्ही दोनों साथियो ने मिलकर 'बम का दर्शन' नामक घोषणापत्र लिखा था, जिसमें स्पष्ट ही कहा गया था—"हमारा लक्ष्य आतकवाद नही है। आतंक का मार्ग क्रांति में परिणत होगा और क्रांति सर्वसाधारण जनता की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतत्रता मे परिणत होगी।"[1]

वस्तुत: वैचारिक स्तर के जिस उच्च धरातल पर खड़े होकर यशपाल सोच रहे थे, वहाँ तक उनके साथी नही पहुँचे थे। यही कारण है कि यशपाल को अपने साथियो के वीच कई भ्रांतियों का शिकार होना पड़ा। विकसित समाजवादी चेतना के कारण छिटपुट राजनीतिक हत्याओं और डकैतियों पर यशपाल की आस्था नही रह गयी थी। वे अपने सिद्धान्तों का जनता के वीच व्यापक प्रचार-प्रसार चाहते थे। जब किसी वात पर आस्था ही न हो, तो मनुष्य उसे करेगा ही क्यो ? राजनीतिक डकै-तियो मे भाग लेने से यशपाल इसीलिए वचना चाहते थे। ऐसी स्थिति में साथियों ने यह कहकर कलंकित किया कि यशपाल कायर और विलासी हैं, दल और देश की अपेक्षा उनके लिए व्यक्तिगत जीवन अधिक स्पृहणीय है। (उन दिनों प्रकाशवती से यशपाल का परिचय और घनिष्ठता हो चुकी थी।)

प्रकाशवती वाले प्रसंग पर विचार कर लेना आवश्यक है। दल के अन्य साथी जवकि गृहस्थ-जीवन से एकदम दूर रहना ही क्रांतिकारी के लिए अनिवार्य मानते थे, तव यशपाल इससे भिन्न ढंग से सोचते थे। उनका कहना था कि क्रांति को हमने जीवन-भर के लिए अगीकार किया है, इसलिए जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति जरूर की जानी चाहिए। अन्यथा विकृतियों को सर उठाने का मौका मिलेगा। ......उक्त दोनो घटनाएँ यशपाल के वैचारिक चिन्तन की ओर इगित करती हैं और उनके उस भावी जीवन का पूर्वाभास प्रस्तुत करती है, जव वे मार्क्सवादी के रूप में दिखाई पडते हैं।

सन् १६३१ ई० मे चन्द्रशेखर आजाद की शहादत के वाद यशपाल हि०स० प्र०स० के नये कमाण्डर-इन-चीफ नियुक्त किये गये। दल का नेतृत्व सँभालते ही यशपाल ने दल की राजनीति को नया मोड देने की कोशिश की। देहरादून मे आकर उन्होंने एक नया घोषणापत्र लिखा, जिसका सार कुछ इस प्रकार था—"हमारा लक्ष्य देश से देशी-विदेशी शोपण को समाप्त करना और देश के सव परिश्रम करने वालों को आत्मनिर्णय का अधिकार देना है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुषों को समान रूप से रोजी

१. यशपाल : सिंहावलोकन, भाग २, पृ० १४५

कमाने, विकास करने और अपने परिश्रम का पूरा फल पाने का अवसर होगा ।"[१] घोषणा-पत्र से स्पष्ट ही दल की राजनीति बदली हुई नजर आती है।

यशपाल की वैचारिक आस्था, चिन्तन-प्रणाली और तदनुरूप कार्य-प्रक्रिया हमे अब तक जिस रूप मे दिखाई पडती है, वह उनके व्यक्तित्व की आंतरिक निसृति है, वह स्वतः उनकी मानस-भूमि से उद्‌भूत है। हाँ, इतना जरूर है कि उनका स्वतः उद्‌भूत चिन्तन प्रखर से प्रखरतर तथा अध्ययन-मनन से धार पकडता गया।

नेशनल कालेज के जीवन मे ही उन्होने द्वारकादास लाइब्रेरी से रूस-सम्बन्धी साहित्य लाकर पढा, लेनिन की जीवनी पढी और १९३२ ई० मे गिरफ्तार हो जाने पर तो जेल मे मार्क्सवादी साहित्य का जमकर गभीर अध्ययन किया। मार्क्सवादी साहित्य के अध्ययन से उनका स्वतः का पूर्व-चिन्तन निखर उठा। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो पर जो उनका स्वतः का चिन्तन था, अब मार्क्सवाद के अध्ययन से उसे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का वैज्ञानिक आधार मिल गया। सयोगवश नैनी जेल मे वे साथी शिवसिंह के सम्पर्क मे आये, जिन्होने मार्क्सवाद के अध्ययन मे उनकी बडी सहायता की। यशपाल ने साथी शिवसिंह को गुरु के रूप मे स्मरण करते हुए कहा है कि, "शिवसिंह का मार्गदर्शन पाकर मैं एकलव्य बनने से बच गया।"

१९३८ ई० मे जेल से रिहा होने के बाद यशपाल को देश की जो स्थिति दिखाई पडी, उसमे क्रान्तिकारी हिंसात्मक आन्दोलनो की कोई आवश्यकता नही रह गई थी। इसके दो कारण थे—एक तो यह कि ग्यारह प्रान्तो मे राष्ट्रीय सरकारे बन चुकी थी और दूसरा यह कि क्रान्तिकारी दल की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक पीठिका पर आधारित कम्युनिस्ट पार्टी लगभग उसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर कार्य प्रवृत्त हो चुकी थी, जो लक्ष्य क्रान्तिकारी दल का था। क्रान्तिकारी दल और कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्य और सिद्धान्तो मे इतना अधिक साम्य था कि अन्दमान मे क्रान्तिकारियो ने सामूहिक रूप से अपने को कम्युनिस्ट पार्टी मे अन्तर्भुक्त कर दिया था। अतः यशपाल भी मार्क्सवादी आस्था लेकर जेल से निकले। अब उनके सामने प्रश्न था जनता के बीच उन सिद्धान्तो के प्रचार का। परिणामतः लखनऊ से यशपाल ने 'विप्लव' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। 'विप्लव' की सारी सामग्री एक तरह से यशपाल को ही लिखकर तैयार करनी पडती थी। 'चक्कर क्लब', 'सिंहावलोकन' तथा 'मार्क्सवाद की पाठशाला मे' स्तभ मार्क्सवादी चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए ही सुरक्षित रहते थे। १९४१-४२ ई० मे बद होकर '४७ ई० मे जब फिर 'विप्लव' निकला तो 'चक्कर क्लब' की जगह 'मन की आँखे खोल' नामक स्तम्भ ने ले ली। 'विप्लव' के माध्यम से

---

१. यशपाल : सिंहावलोकन, भाग ३, पृ० १०७-८

यशपाल ने अपने सिद्धान्तों को खूब अच्छी तरह जनता तक पहुँचाया। विज्ञ जनों का कहना है कि मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार में 'विप्लव' ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

यशपाल वस्तुतः किसी ट्रेड यूनियन या कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य कभी भी नही रहे, पर अपने मनोनुकूल चिन्तन-धारा देखकर उनकी आस्था मार्क्सवाद में और इसीलिए कम्युनिस्ट पार्टी मे हो गयी। अब वे साहित्यिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, पर साहित्य उनके लिये साध्य नही, साधन है। साहित्य को वे उन विचारों का प्रचार-साधन मानते है, जिनके अनुसार काम करके जीवन और समाज को हर प्रकार के शोषण से मुक्ति दिलाकर भौतिक समृद्धि और खुशहाली लाई जा सकती है। इसीलिए वे सतत साहित्य के माध्यम से अपने विचारो को सम्प्रेषित करने मे संलग्न हैं।

(४) साहित्यिक प्रवृत्ति

यशपाल का वास्तविक साहित्यिक जीवन सन् १६३६ ई० से आरम्भ होता है, जब उनका पहला कहानी सग्रह 'पिंजरे की उड़ान' प्रकाशित हुआ, पर इसका यह तात्पर्य नही कि उनके कलाकार की सबसे पहली सर्जना यही थी। वस्तुतः कोई भी कलाकार लेखन की अनेक मजिलो से गुजर कर ही, कच्ची-पक्की अनेक अभिव्यक्तियाँ करके ही विकास की प्रौढ़ता पर पहुँचता है। यशपाल इसके अपवाद नही। जब वे गुरुकुल मे पाँचवी-छठी कक्षा मे पढ रहे थे—उस समय उनकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की रही होगी—तभी 'अँगूठी' शीर्षक एक कहानी लिखी थी जो उन्ही द्वारा सम्पादित उनकी कक्षा की हस्तलिखित भित्ति-पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशन की प्रेरणा उन्हे 'अगुआ' नामक भित्ति-पत्रिका से मिली थी, जिसका सम्पादन उस समय की दसवी कक्षा के विद्यार्थी जयचद्र विद्यालकार और सत्यव्रत सिद्धान्तालकार करते थे। इतनी छोटी वय में स्वस्थ स्पर्धात्मक प्रवृत्ति का उन्मेप, यशपाल पर 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत को चरितार्थ करता है।

इस दिशा मे उनका दूसरा प्रयास लाहौर के 'नेशनल कालेज' मे पहुँचने पर हुआ। वहाँ संयोग से, प्रसिद्ध कवि, उपन्यास लेखक, नाटककार प० उदयशकर भट्ट 'हिन्दी' के प्राध्यापक थे। उनके साहचर्य ने यशपाल के कलाकार को प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान किया। भट्टजी ने उनकी कहानियों को प्रकाशित करा देने का भी आश्वासन दिया। प्रोत्साहित हो यशपाल ने एक कहानी लिखी, जो भट्टजी की ही सिफारिश से, वरेली से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'भ्रमर' मे छपी। यशपाल का उत्साह वढ़ा। अव छोटे-छोटे गद्य-काव्य लिखकर वे गणेश शङ्करजी 'विद्यार्थी' के सम्पादन में कानपुर से प्रकाशित होनेवाले 'प्रताप' और 'प्रभा' साप्ताहिको मे भेजने लगे। 'प्रताप' और 'प्रभा' पत्र उस समय हिन्दी जगत् मे क्रान्ति के अग्रदूत थे। ऐसे प्रमुख पत्रों मे

प्रकाशित होना महत्त्व की बात थी। लाहौर से प्रकाशित होने वाले उर्दू 'वन्दे मातरम्' मे भी यदा-कदा लिखते रहे। एक प्रकार से उनके लेखन ने क्रमिक रूप ग्रहण किया; बल्कि लेखन कुछ इतना बढ़ा कि कालेज के सहपाठी भगतसिंह, सुखदेव आदि 'साहित्यिक' कहकर उनका मजाक उड़ाने लगे।

सन् १९२४-२५ ई० में यशपाल ने 'महाभारत' नामक नाटक का 'कृष्ण विजय' शीर्षक से अनुवाद कर उसे अभिनीत किया, जिसमे अग्रेजों को कौरवों का तथा काग्रेस को पाडवों का प्रतीक वनाया। नाटक को अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम उन्होंने इसलिए बनाया, क्योकि साहित्य की अनेक विधाओ मे नाटक विधा ही विचारो के उत्कट सम्प्रेषण का सबसे सबल माध्यम होती है। सम्भवतः नाटक-रचना के लिए जिस कलात्मकता की आवश्यकता होती है, वह यशपाल के साहित्यकार में नही थी, इसीलिए आगे चलकर उनके नाटककार का रूप विकसित नही हुआ।

सन् १९२९ ई० में जब यशपाल फरार हो गये, तब भी साहित्य का अध्ययन-मनन और लेखन-कार्य करते रहे। लुई फिशर की 'लेनिन और गाधी' नामक पुस्तक का अनुवाद इन्ही दिनो किया। वस्तुतः साहित्य से उन्होने अपना सम्पर्क कभी टूटने नही दिया। गिरफ्तारी के बाद जेल जीवन-काल मे तो उनका सम्बन्ध साहित्य से बडे ही प्रगाढ़ रूप से जुड गया। समय यो ही गुजर जाये, उसका कोई उपयोग न किया जाये, यह यशपाल जैसे कर्मठ और गतिशील व्यक्ति के लिए सह्य नहीं; अतः जेल-जीवन का भरपूर उपयोग उन्होने अध्ययन और लेखन मे किया। 'पिंजरे की उडान' तथा 'वो दुनिया' कहानी-सग्रहो की अधिकांश कहानियाँ फतेहगढ़ सेंट्रल जेल मे लिखी हुई है। वस्तुतः बन्दी जीवन-काल मे यशपाल ने इतना अधिक पढा और लिखा कि उनका यही साहित्यिक रूप अन्य रूपो की तुलना मे प्रमुख हो उठा, जिसका प्रमाण आज का यशपाल का साहित्य-सर्जना-क्षेत्र है।

जेल से मुक्त होने के बाद वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए भुवाली गये। अस्वस्थ होने के बावजूद वे भुवाली मे लेखन-कार्य करते रहे। जेल-जीवन तथा भुवाली मे लिखी कहानियो को संग्रहीत कर १९३९ ई० मे जो प्रकाशन कराया, तो लेखन और प्रकाशन की एक अनवरुद्ध धारा बह चली। तब से यशपाल धुआँधार लिख रहे है। सन् १९३९-४० के बाद कोई भी वर्ष ऐसा नही बीता होगा जब उनकी दो-तीन पुस्तकें प्रकाश में न आई हो। वस्तुतः यशपाल के अन्तस् में शोषणमूलक समाज-व्यवस्था के विरुद्ध असतोष और क्षोभ का इतना विशाल सागर लहरा रहा है कि लाख कह लेने के बाद भी वह घटना नही जानता, और शायद तब तक नही चुकेगा जब तक शोषणपरक समाज-व्यवस्था का अन्त नही हो जायेगा।

यशपाल प्रमुखतः गद्यकार है। उनका गद्य-साहित्य विशाल है। उन्होने

कहानियाँ (१. पिंजरे की उडान, २. वो दुनिया, ३. ज्ञानदान, ४. अभिशप्त, ५. तर्क का तूफान, ६. भस्मावृत्त चिनगारी, ७. फूलो का कुर्ता, ८. धर्मयुद्ध, ९. उत्तराधिकारी १०. चित्र का शीर्षक, ११. तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ, १२. उत्तमी की माँ, १३. ओ भैरवी, १४. सच बोलने की भूल, १५. खच्चर और आदमी, १६. भूख के तीन दिन), उपन्यास (१. दादा कामरेड, २. देशद्रोही, ३. दिव्या, ४. पार्टी कामरेड, ५. मनुष्य के रूप, ६. अमिता, ७. 'झूठा सच—वतन और देश' व 'झूठा सच—देश का भविष्य', ८. बारह घण्टे, ९. अप्सरा का श्राप—(मौलिक), १०. पक्का कदम, ११. जुलैखा, १२. जनानी ड्योढी, १३. चलनी में अमृत—(अनूदित), निबन्ध (१. मार्क्सवाद, २. गांधीवाद की शव-परीक्षा, ३. रामराज्य की कथा, ४. चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी, ५. चक्कर क्लब, ६. बात-बात मे बात, ७. न्याय का सघर्ष, ८. जग का मुजरा, ९. देखा, सोचा, समझा, १०. बीबीजी कहती है मेरा चेहरा रोबीला है), नाटक (१. नशे नशे की बात) और संस्मरण (१. सिंहावलोकन, भाग १-२-३, २. लोहे की दीवार के दोनो ओर, ३. राहबीती) लिखे है। समझा जाता है कि यशपालजी का एक अप्रकाशित उपन्यास 'नालन्दा' था जिसे उन्होने बाद मे नष्ट कर दिया। इस उपन्यास में इस बात की चर्चा का प्रयत्न था कि हम मुसलमानी आक्रमणकारियों से क्यो हारे? यशपालजी के मतानुसार हिन्दू-समाज का व्यक्तिवादी और आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही हमारी पराजय के लिए उत्तरदायी है। कुल मिलाकर उनके ग्रन्थों की संख्या लगभग ४६ है। वस्तुतः सभी रूपो में कलाकार यशपाल का उपन्यासकार का रूप ही सबसे अधिक सशक्त और भास्वर है।

(ख) यशपाल का व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के दो पहलू होते हैं – (१) आन्तरिक सरचना और तदनुरूप आचार-व्यवहार, तथा (२) बाह्य रूपाकार और शारीरिक संघटना। आन्तरिक संरचना, सभवतः व्यक्तित्व को रेखांकित करने तथा उसके मूल्यांकन में अधिक महत्वपूर्ण होती है। यशपाल के व्यक्तित्व के मूल्याकन के प्रश्न पर, इसीलिए सबसे पहले ध्यान उनकी आन्तरिक संरचना और गठन पर जाता है। बचपन से लेकर आज तक का उनका इतिहास—चेतना-विकास का इतिहास—जिस एक तथ्य की ओर पूरी शक्तिमत्ता से हमारा ध्यान आकर्षित करता है, वह है उनके अन्तस् में अवस्थित अन्याय के विरुद्ध दुश्मन की-सी निर्ममता। अन्याय चाहे जिस तरह का हो—राजनीतिक शोषण का अन्याय हो या वर्गीय समाज मे पूंजीपतियों द्वारा किया जाने वाला शोषण हो, अथवा धार्मिक पाखण्डों के प्रदर्शन से सर्वसाधारण को भुलावा देने का छल-छद्म हो, या फिर परम्परावाद और गलित रूढियो से सम्बन्धित कोई बात हो—इन सभी बुराइयो

पर वे कसकर प्रहार करते है और कुरूपताओं की चादर तार-तार कर उसके भीतर दबी-पड़ी मानवता का सौदर्य उजागर कर दुनिया को उसकी झाँकी देना चाहते हैं, उसका दर्शन कराना चाहते है, उसे भोगना और भोगने देना चाहते है। उनके व्यक्तित्व की आन्तरिक सरचना का यही वह सर्वप्रमुख तत्व है, जिसने परिस्थितियों की माँग के वश कभी उन्हे जलते हुए शोले की तरह क्रातिकारी बनाया और बदले हुए संदर्भों में एक निर्भीक और साहसी साहित्यकार—ऐसा साहित्यकार जो पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज-व्यवस्था और वर्तमान शासन-प्रणाली एव प्रशासन की विसंगतियों को उघाडकर उसे अनावृत कर देने से नही हिचकता, चाहे उसका कितना ही बड़ा मूल्य क्यो न चुकाना पडे।

पूँजीवादी सम्यता और शासन-व्यवस्था के कितने हथकण्डे और दुरभिसधियाँ होती हैं, किसी स्वतत्र-चेता व्यक्ति को गुमराह करने और प्रलोभनो मे फँसाने के कितने कुचक्र रचे जाते हैं, यह हर किसी को मालूम है; पर इन सब बीहड़ जजालो और विकट दुर्गम जलावर्तो से यशपाल अपनी नौका एक कुशल, प्रशिक्षित नाविक की तरह खेकर निकालने मे पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए है। निश्चय ही, यह यशपाल जैसे अनुरागी, फिर भी आसक्ति-रहित कर्मयोगी के ही बूते की बात है। प्रलोभनों के आगे माथा न टेकना हर किसी के लिए सभव नही। वस्तुतः वही व्यक्तित्व आदरणीय और प्रशंसनीय होता है, जो परिस्थितियो के आगे घुटने न टेककर उन्हे अपने अनुसार मोडकर चलाने मे समर्थ हो। हर 'शायर, सिह, सपूत' अपनी नयी राह बनाता है, यशपाल ने भी अपने विश्वासो और आस्थाओ के अनुरूप नया मार्ग बनाया है, अधश्रद्ध होकर लीक पीटने के वे उग्रतम विरोधी हैं। परिस्थितियो के अनुकूल वे जहाँ-कही आचरण करते भी हैं, वहाँ भी विवेक और तर्क-संगति की कसौटी उनके सम्मुख हमेशा रहती है। विवेकहीनता और भेडियाधसान को वे मानव-समाज का सबसे बडा शत्रु मानते हैं। परम्परावादी समाज की स्थापित मान्यताओं को नकारना बडे भारी साहस की माँग करता है। यशपाल का सम्पूर्ण इतिहास इसी साहस का इतिहास है।

जो व्यक्ति ऐसा स्वतन्त्र-चेता तथा तार्किकता मे विश्वास करने वाला होगा, स्वाभाविक है कि प्रथम उससे साक्षात्कार करने वाला भ्रम का शिकार हो सकता है। यशपाल के ऊपर अहमन्यता का जो आक्षेप किया जाता है, उसका कारण यही है। वे तर्क-संगत परिणतियो को ही सही स्वीकारने वाले, ऊपर से सत्य-कथन से तनिक भी न हिचकने वाले साहसी व्यक्ति हैं। यशपाल सत्य कह देगे—बिल्कुल बेलौस, दो टूक; सुनने वाला उससे चाहे जितना तिलमिलाये। 'सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात' को वे प्रपंचियों का छद्म मानते है, इसीलिए नंगा सत्य कह देते हैं। ऐसा कहते हुए वे जानते है कि हमारा सत्य-कथन श्रोता को हमसे विमुख कर उसे हमारा शत्रु तक बना सकता

है, फिर भी वे कहे बिना रहेंगे नहीं। वस्तुतः सत्य-कथन को वे शल्य-चिकित्सक की उस शल्यक्रिया की तरह आवश्यक मानते हैं, जिसका सम्पादन भीतर-ही-भीतर पलते हुए नासूर से शरीर को मुक्ति दिलाता है, स्वास्थ्य प्रदान करता है। यशपाल का विश्वास है कि सामाजिक स्वास्थ्य के लिए सत्य का बेलौस कथन और स्पष्टवादिता आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। सत्य-कथन और स्पष्टवादिता यदि व्यक्ति का चारित्रिक गुण नही, अहमन्यता है; तो यशपाल, निस्सन्देह, अहमन्य है। पर कौन कहेगा, ये मनुष्य के चारित्रिक गुण नही है ? वस्तुतः यशपाल का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी और विद्रोही है—राजनीतिक मंच पर भी, साहित्यिक सर्जना के क्षेत्र में भी और समाज के दैनदिन आचार-व्यवहार मे भी।

अब रह जाता है उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू—शारीरिक संघटना और बाह्य रूपाकार। दुबला, लम्बा शरीर, भौंहें बिल्कुल तनी हुई और खौफनाक, पूरा चेहरा बडा रोबीला—सब मिलाकर चेहरे की बनावट ऐसी जिससे कलाकार नही, पुलिस अफसर होना अधिक प्रमाणित होता है। शायद इसीलिए दुर्गा भाभी (प्रसिद्ध क्रांतिकारी शहीद भगवतीचरण बोहरा की पत्नी और स्वतः भी क्रांतिकारिणी) कहा करती थी, "तुम तो ख्वामख्वाह कलाकर बन बैठे हो। पैदा तो पुलिस सुप्रिटेडेंट बनने के लिए ही हुए थे।"[1] "आपका चेहरा बडा रोबीला है"—यशपाल की पत्नी प्रकाशवती पाल का यह कथन भी, इसी तथ्य की पुष्टि करता है। अन्य जितने भी उनसे मिलने-जुलने वाले हैं, उनकी यशपाल की शारीरिक बनावट और रूपाकार के बारे में यही धारणा है। इन सब बातो के अलावा उनकी मुद्रा बड़ी गम्भीर है। इस गम्भीरता का कारण शायद उनके भीतर अन्याय के विरुद्ध चलनेवाला संघर्ष है। वे भीतर-ही-भीतर हमेशा लड़ते रहे है। संघर्षजन्य आत्म-संतुलन और विचार-प्रौढ़ता ही उनकी गम्भीर मुद्रा का कारण है। वस्तुतः मनुष्य की आन्तरिक बनावट उसकी बाह्य रूप-मुद्रा को, उसके बाहरी व्यक्तित्व को भी बहुत दूर तक रूपायित करती है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति की आन्तरिक संरचना उसके व्यक्तित्व के मूल्यांकन का अधिक महत्वपूर्ण तत्व है।

२. परम्परा

हिन्दी उपन्यास की पूर्व-परम्परा और यशपाल का आगमन

यशपाल यथार्थवादी कलाकार हैं। सामाजिक यथार्थ का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से चित्रण करना उनके उपन्यास-साहित्य का प्रमुख लक्ष्य है। यथार्थवादी चित्रण की यह

---

१. श्री यशपाल अभिनन्दन-ग्रंथ, 'जीवन और व्यक्तित्व' लेख—प्रकाशवती पाल, पृ० ५

परम्परा उन्हे सीधे प्रेमचन्द से मिली है और प्रेमचन्द को अपने पूर्ववर्ती उपदेश-प्रधान सामाजिक उपन्यासो से, जिनके लेखकों मे प्रमुख है—श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास आदि। वस्तुतः कोई कलाकार परम्परा से बिल्कुल अलग हटकर सर्जना नही कर सकता, पूर्व-परम्परा की नीव पर ही वह अपनी सर्जना का नूतन महल खडा करता है। इस प्रकार उसमे परम्परा-निर्वाह भी होता है और नवीनता-ग्रहण भी। प्रेमचन्द को यथार्थ-चित्रण की जो भी क्षीण परम्परा मिली थी, उसे उन्होने विकसित किया, आगे बढ़ाया और नई गरिमा प्रदान की।

सम-सामयिक समस्याओ और जीवन-वास्तविकताओ के चित्रण मे यथार्थवादी होते हुए भी प्रेमचन्द उनके समाधानों के धरातल पर आदर्शवादी थे। इसीलिए उनके यथार्थवाद को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है। प्रेमचन्द अपने आदर्शवादी समाधानों के माध्यम से समाज को उपदेश देकर उसकी सहृदयता का स्पर्श करना चाहते थे; खोखले, रुग्ण, विकृत समाज का वे हृदय परिवर्तित करना चाहते थे। इसलिए सारी समस्याओ का समाधान वे आदर्शमूलक व्यवहारो मे देखते थे। 'कफन' और 'पूस की रात' कहानियाँ तथा 'गोदान' उपन्यास यद्यपि आदर्श-मुक्त हैं, पर फिर भी प्रेमचन्द अपने मूल रूप में आदर्शवादी ही हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि चित्रण के स्तर पर उनके यथार्थ मे लेशमात्र भी कमी है।

प्रेमचन्द-युग मे जयशंकर प्रसाद कृत 'ककाल' यथार्थ का एक नया रूप लेकर सम्मुख आता है। इसमें बिना किसी आदर्श के आरोपण के सामाजिक विषमता का यथार्थवादी चित्रण तटस्थ भाव से किया गया है। प्रेमचन्द के उपन्यासो से इसकी दूसरी भिन्नता यह है कि इसमे प्रेमचन्द के आर्थिक वैषम्य को आधार न बनाकर, वर्तमान काल की धार्मिक और सांसारिक मनोवृत्तियो के द्वन्द्व को आधार बनाया गया है। जयशंकर प्रसाद वस्तुतः आधुनिक युग की समस्याओं को आर्थिक और समाजशास्त्रीय सदर्भ में विश्लेषित न कर सांस्कृतिक आलोक में मानव-प्रवृत्तियो की परख करते हैं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' प्रेमचन्द के समकालीन दूसरे कथाकार हैं। ये प्रकृतवादी उपन्यासकार हैं। जीवन की कुरूपताओ और पशु-प्रवृत्तियो का चित्रण ये अत्यन्त यथार्थवादी ढंग से करते हैं। पर, यदि इन चित्रणो के माध्यम से इनका उद्देश्य समाज पर व्यग्य करना रहा है तो उसमे उन्हे सफलता नही मिली है।

वृन्दावनलाल वर्मा प्रेमचन्द-युग के ऐसे यथार्थवादी रचनाकार हैं जिन्होने इतिहास को अपनी सर्जना की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया। ये इतिहास का यथार्थ कलात्मक चित्रण मानवीय कोमल वृत्तियो के अकन के लिए करते हैं। समाज में व्याप्त आर्थिक वैषम्य और बदले हुए जीवन पर परम्परागत मान्यताओं के लदाव के कारण उत्पन्न विसंगतियो का चित्रण ये नही करते। सत्-असत् का संघर्ष कराकर

सत् की विजय दिखाना ही इनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। पर यह तो कहा ही जा सकता है कि शैली के स्तर पर वर्माजी यथार्थवादी हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द और उनके समकालीन लेखको द्वारा यथार्थ के विभिन्न आयामो का उद्‌घाटन हो चुका था। ऐसे ही क्षण, यथार्थ-चित्रण की इसी परम्परा-भूमि पर यशपाल का आगमन कथा-साहित्य मे होता है। अपनी पूर्ववर्ती यथार्थवादी परम्परा को आत्मसात करते हुए यशपाल ने उसे नया मोड दिया। प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुखता का परित्याग कर उन्होने यथार्थ को उसके ऐतिहासिक सदर्भ मे प्रस्तुत किया। सामाजिक चित्रण मे यशपाल का दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। समस्याओं का चित्रण और विश्लेषण, मार्क्स की ही भाँति, वे आर्थिक पीठिका पर करते हैं। यशपाल यथार्थवादी चित्रण प्रेमचन्द की तरह समाज की सहृदयता जगाने अथवा प्रसाद की भाँति सांस्कृतिक बोध उद्‌बुद्ध करने के लिए नही करते, अपितु उसकी न्याय-बुद्धि को सजग करने के लिए करते हैं। अन्य समाजवादी लेखको की तरह यशपाल भी वर्तमान जीवन की विसंगतियो का चित्रण करते है, परन्तु इस चित्रण के माध्यम से वे उस भावी समाज की कल्पना प्रस्तुत करते चलते है, जो सभी प्रकार के शोषणो और अन्याय से मुक्त होगा। अतएव कहना पडेगा कि यशपाल के यथार्थ-चित्रण मे भी कही-न-कही आदर्श (भावी समाज) की कल्पना निहित है।

यशपाल-पूर्व उपन्यास-साहित्य की मूल प्रवृत्ति का सक्षिप्त परिचय देकर हम इस प्रकरण को यहाँ समाप्त करते हैं और शोध-प्रवन्ध के अंतिम अध्याय 'मूल्यांकन' मे हिन्दी उपन्यास की यथार्थवादी परम्परा का पूर्ण विकास-क्रम प्रस्तुत करने का प्रयास करेगे।

३. परिवेश : सम-सामयिक वातावरण

सजग व्यक्ति होने के कारण साहित्यकार युगीन परिस्थितियों से तथा समय-समय पर होने वाले उनमे परिवर्तनों से प्रभावित हुए विना नही रह सकता। उसकी साहित्यिक चेतना एव कलात्मक सम्वेदना युगीन परिस्थितियों के स्पर्शाघात से आन्दोलित होकर जिस यथार्थ को वहन करती है, वह अनिवार्यतः समाज-सापेक्ष होता है। प्रगतिशील साहित्यकार के सदर्भ मे उक्त कथन तो और भी महत्व रखता है। परिवेश-सापेक्षता एक प्रकार से उसकी प्रतिवद्धता वन गई है। विज्ञान ने, चूँकि भौगोलिक दूरी समाप्त कर दी है, इसलिए परिवेश के अन्तर्गत न केवल राष्ट्रीय स्तर पर वरन् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी घटित होने वाली घटनाएँ एवं स्थितियाँ आती हैं। सवको समेट कर समग्रता मे यथार्थमूलक अभिव्यक्ति प्रदान करना साहित्यिक चेतना के दायित्व-वोध की अनिवार्य शर्त है, जिसके विना लेखन ईमानदार हो ही नही पाता। यशपाल मार्क्सवादी

कलाकार हैं, इसलिए समकालीन जीवन और युग-बोध के प्रति प्रतिबद्ध भी। ऐसी स्थिति मे उनकी कृतियो का सही विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के लिए सम-सामयिक परिस्थितियो—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक आदि—का अध्ययन अनिवार्यतः अपेक्षित है। यद्यपि हमारे अध्ययन का काल-खण्ड यशपाल की औपन्यासिक कृतियो का निर्माण-काल (सन् १९४१-६५ ई० तक) ही है, फिर भी हम थोडा और पीछे जाकर १९३५ ई० से, अपने अध्ययन का सीमाकन करना चाहते हैं।

(क) आर्थिक स्थिति :

१९३५ ई० तक आते-आते ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति के फलस्वरूप भारत का आर्थिक ढाँचा चरमरा उठा था। उसकी नीति भारत का आर्थिक शोषण कर अपने देश को शक्ति-सम्पन्न बनाने की थी। रेलवे आदि का सूत्रपात इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया गया था। देश के कोने-कोने से कच्चा माल एकत्र कर ब्रिटेन के कल-कारखानो मे उत्पादन के लिए भेज देना उसकी रेलवे योजना का प्रधान लक्ष्य था। देश के निर्धन किसान अर्थ-लोभ से अन्न के बदले व्यापारी माल की खेती करने लगे। निश्चय ही, इससे पैसा मिलता रहा, पर देश खाद्यान्न की दृष्टि से उत्तरोत्तर दुर्बलतर होता गया। और उधर कच्चे माल के विक्रय से उपलब्ध पैसा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने में बाजार के हवाले हो जाता था। बाजार मे उपलब्ध होने वाली अन्नेतर वस्तुएँ ब्रिटेन के कल-कारखानो मे ही उत्पादित होकर आयातित होती थी। इसलिए अन्ततः सारा पैसा घूम-फिरकर ब्रिटेन पहुँच जाता था। भारतीय बाजार पर एकाधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से अग्रेजों ने परपरागत भारतीय उद्योग-धन्धो को एक तरह से समाप्त ही कर दिया था। इस प्रकार एक तरफ देशी कारीगर और दूसरी ओर अर्थोपार्जन के मिथ्या-लोभ मे किसान शनैः-शनैः खोखले होते गये। वस्तुतः देश के ये ही बुनियादी आर्थिक स्रोत थे और जब ये ही सूख गये तो देश कैसे हरा-भरा रह पाता!

पर इतिहास ने करवट बदली। अनेक कारणो से अग्रेजों को भारत से कच्चा माल ले जाकर ब्रिटेन के कारखानो में उत्पादन करना लाभप्रद नही प्रतीत हुआ। पर उन्हे लाभ तो कमाना ही था, इसलिए अन्य मार्ग की खोज करते हुए लगा कि भारत में ही कल-कारखानो की स्थापना की जाये, लेकिन उस पर नियत्रण हर हालत मे विदेशी पूंजी का ही हो। उनके ऐसा सोचने का कारण भी था। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर ब्रिटेन मे श्रम अत्यधिक महँगा हो गया, जिसके कारण उत्पादन भी व्यय-साध्य और इसीलिए अलाभप्रद हो गया। अतएव विवश होकर अग्रेजो को भारतीय नगरो में ही कल-कारखाने शुरू करने पडे।

सन् १९३५ ई० तक देश मे अग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो जाने के कारण नवयुवकों का एक बड़ा वर्ग शिक्षित होकर तैयार हो गया था, जिसने जीविकोपार्जन की

खोज में शहरो की ओर प्रयाण किया। धीरे-धीरे उनकी देखा-देखी अशिक्षित नवयुवक भी शहरो को ओर चल पडे, जिसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि देश के गाँव नवयुवकों से रहित हो गये और बच गये वहाँ बूढे, बच्चे और स्त्रियाँ, जो खेती के लिए एक तरह से अनुपयुक्त थे। अंग्रेजों ने इस तरह भी, भारतीय कृषि को क्षतिग्रस्त किया। इस प्रकार देश धीरे-धीरे ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो मे विभक्त हो गया।

(१) ग्रामीण क्षेत्र : कृषक वर्ग—जैसा कि निर्दिष्ट किया गया है, १९३५ ई० तक देश के गाँवो मे आर्थिक खोखलापन व्याप्त हो गया था। निर्धन किसान अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण लेने पर विवश हो गया। कुछ बडे किसान जरूर ऐसे थे जो आर्थिक दृष्टि से विपन्न नही थे। इनके साथ ही गाँवों में एक वर्ग जमीदारो, सामन्तों आदि का भी था, जो अपनी शान-शौकत, दिखावा-प्रदर्शन एवं विलासिता आदि के गोरखधन्धे में पडा रहता था। दूसरे, यह वर्ग अपने हितो की रक्षा ब्रिटिश शासन के प्रति भक्ति दिखाकर सभव समझ रहा था। इसलिए वह अंग्रेजो के प्रति वफादार था। जब सारा खर्च बेचारे किसान के सिर पर पड़ा तो जीवन का दुर्वह भार वहन करने के लिए उसे महाजनो की शरण लेनी पडी। महाजन मनमाने व्याज-दर पर ऋण देते थे, जिसे चुका पाना उनके वश की बात न थी। परिणामतः एक दिन अपनी सारी जायदाद महाजन के सिपुर्द कर वह तो सेतिहर मजदूर बन गया या घबरा कर औद्योगिक श्रमिक बनने के लिए शहरो की ओर भाग खडा हुआ। इस दुरवस्था का दायित्व वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक रूढियों पर भी है। यदि एक सम्पन्न ब्राह्मण शादी-ब्याह, पूजा-पाठ, जन्म-मरण के अवसर पर मुक्तहस्त खर्च करता था, तो दूसरा उसका पड़ोसी बिरादर भी वैसा ही क्यो न करे, चाहे उसका जो भी परिणाम हो।

सन् १९३७ ई० मे जब देश का अर्थतंत्र इस प्रकार खोखला बना हुआ था, तो पहली बार आठ प्रान्तो मे राष्ट्रीय सरकारों ने शासन-सूत्र संभाला। उन्होंने ग्रामीणो की दशा सुधारने के लिए तत्काल सहकारी समितियाँ स्थापित की, जो कम व्याज-दर पर लोगों को आर्थिक सहायता देती थी। परन्तु उससे ग्रामीण जनता अधिक लाभान्वित न हो सकी, क्योकि इसके प्रयास का क्षेत्र सीमित था।

स्वतन्त्रता के पूर्व ग्रामीण उद्योग-धन्धो की स्थिति भी बहुत सुखद नही थी। गाँवो मे उद्योग के नाम पर जुलाहा, लोहार, कुम्हार आदि छोटे पैमाने पर वस्तु-निर्माण करते थे। इस बीच (१९३५ ई०-४७ ई०) गाधीजी के प्रयत्नो से गाँवो में गांधी-आश्रमो की स्थापना हुई, जिनके द्वारा चरखा-चालन, खाद-निर्माण तथा मधुमक्खी-पालन जैसे ग्रामोद्योग शुरू किये गये।

(२) नगर : औद्योगिक प्रगति—सन् १९३५ से १९४७ ई० तक भारत की आर्थिक व्यवस्था ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था से सम्बद्ध थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ

होने तक देश मे बड़े-बडे मौलिक उद्योग-धन्धो—लोहा, इस्पात, पेट्रोल, विद्युत् आदि—का अभाव था, किन्तु व्यापारिक सामग्री—कपड़ा, जूट आदि—के उत्पादन के उद्योग-धन्धो का विकास हो चुका था। इसीलिए भारत की तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था को 'उपभोक्ता अर्थ-व्यवस्था' कहते हैं। उद्योग-धन्धो मे पूंजी लगाने वाले अंग्रेज पूंजीपति थे, भारतीय पूंजी नाममात्र को थी। कुछेक मारवाड़ी तथा पारसी अवश्य इस क्षेत्र मे आ गये थे। परन्तु इन व्यापारिक संस्थानो मे काम करने वाले श्रमिक भारतीय थे।

सन् १९३५-४७ ई० के बीच देश की राजनीतिक चेतना पर्याप्त रूप से उद्बुद्ध हो चुकी थी, पर गाँवों की अपेक्षा नगरो में यह राजनीतिक जागरूकता कही अधिक थी। राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्नो से नगर-निवासियो को अपने अधिकारो—प्राप्यो—का बोध हो चला था, परन्तु अधिकार-बोध के बावजूद दफ्तरो मे काम करने वाले सफेदपोश मध्य-वर्गीय बाबू लोग अपने वर्गीय वैशिष्ट्य के कारण किसी तरह का आन्दोलन न कर सके। दूसरी तरफ, श्रमिक वर्ग सगठित होकर आन्दोलनों के रूप मे अपना असन्तोष व्यक्त करने के लिए भीतर-ही-भीतर सुगबुगा रहा था। परिणामतः १९२८ ई० में श्रमिकों की पहली हडताल बम्बई मे हुई, जो छह महीने तक चली। सन् १९३० के आसपास श्री एन० एम० जोशी ने पहली बार 'मजदूर संगठन' की नीव डाली, जिसके तत्वावधान मे कई हड़ताले हुई। लेकिन उक्त मजदूर संगठन भी अपने रूपाकार मे क्षेत्रीय ही था। अखिल भारतीय स्तर पर 'श्रमिक संगठन' का अब भी अभाव था, यद्यपि उसकी आवश्यकता बडी तीव्रता के साथ महसूस की जा रही थी। ऐसी परिस्थिति मे १९३७ ई० में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन' की स्थापना हुई, जिसके प्रथम अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू थे। यह, चूंकि देश का अकेला 'श्रम संगठन' था, इसलिए उसे तत्कालीन सभी राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त था। इसके तत्वावधान मे, सरकारी उद्योगो, विशेषकर रेलवे प्रतिष्ठान मे होनेवाली हडतालो ने अखिल भारतीय रूप धारण किया। १९३९ ई० मे एकाएक द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारभ हो गया। चूंकि यह लड़ाई एक साथ ही यूरोप और एशिया दोनो की धरती पर लड़ी जा रही थी, इसलिए ब्रिटेन अपने सारे साधन-स्रोतों के साथ यूरोपीय मोर्चे पर लगा हुआ था। एशियाई ब्रिटिश उपनिवेशों पर जापानी आक्रमण को रोकने के साधन अंग्रेज जुटा नही पा रहे थे, अतएव विवश होकर उन्हे भारत का औद्योगीकरण करना पड़ा। पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि औद्योगीकरण मात्र सामरिक आवश्यकता को ध्यान मे रखकर ही किया गया था। यही कारण है कि उस समय को हमारी तथाकथित औद्योगीकृत अर्थ-व्यवस्था 'युद्ध-अर्थ-व्यवस्था' कहलाती है।

(३) स्वतंत्रता के पश्चात् देश का आर्थिक ढाँचा : सर्वाङ्गीण चित्र—स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान राष्ट्रीय कांग्रेस ने जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए

उसे अनेक आश्वासन दिये थे। उसकी दशा सुधारने के लिए अनेक प्रतिश्रुतियाँ की थीं। स्वतंत्रता मिली, और कांग्रेस दल सत्तारूढ़ हुआ। अतीत में दिये गये आश्वासनो का स्मरण कर उसने सन् १९४९ ई० मे भारतीय संविधान का निर्माण किया, जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय नागरिकता के समान धरातल पर अवस्थित हुआ। संविधान की दृष्टि में कोई ऊँच-नीच, छोटा-बडा, सवर्ण-असवर्ण नही रहा। परतंत्रता की बेड़ियों में सदियों से कसमसाती हुई और ऊँच-नीच की शिकार बनी भारतीय जनता के लिए यह निश्चय ही, एक प्रेरणादायक एवं उत्साहप्रद कदम था। राष्ट्र के जीवन मे चारों ओर उल्लास और उत्साह का वातावरण था। इसी पीठिका पर देश मे प्रथम आम-चुनाव हुआ, जिसमें, जैसा कि अपेक्षित था, कांग्रेस की भारी बहुमत से विजय हुई। देश का विकास करने एव आर्थिक समृद्धि लाने के उद्देश्य से सत्तारूढ़ काग्रेस ने १९५१-५२ ई० में 'पंचवर्षीय योजना' के रूप मे एक सुनिश्चित अर्थ-व्यवस्था का प्रवर्तन किया। सरदार वल्लभभाई पटेल के प्रयत्नों से देसी रियासतो का विलय और जमींदारी-प्रथा का उन्मूलन हुआ। और सन् १९५२ ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने पहली बार जमीदारी के अत की सरकारी घोषणा की। उसके मूल मे आर्थिक और सामाजिक समता की न्याय-भावना निहित थी।

प्रथम पचवर्षीय योजना के रूप में प्रवर्तित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि-विकास पर अधिक बल दिया गया। कृषि-उत्पादन बढाने के लिए सामुदायिक-विकास योजनाएँ चलाई गईं। सिंचाई की सुविधा के लिए नलकूपो, नहरों आदि का निर्माण हुआ। बिजली, उन्नत बीज, उर्वरक आदि की व्यवस्था की गयी। सार्वजनिक क्षेत्र में बडी-बडी योजनाएँ—इस्पात, उर्वरक, पेट्रोल एवं तेल-शोधक कारखाने स्थापित किये गये। सब मिलाकर प्रथम पंचवर्षीय योजना अत्यन्त सफल रही। कृषि-क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। बेकारी घटी, राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि हुई, प्रति व्यक्ति आय मे भी बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन, फिर भी, अर्थ-तंत्र को आशानुरूप गति न मिली। कारण यह था कि पूरा-का-पूरा सरकारी तन्त्र भ्रष्ट और नैतिकता-विहीन हो उठा था। स्वतंत्रता-संग्राम के समय जिन राष्ट्रीय नेताओ का चित्त बलिदान-भरा, स्वार्थ-रहित था, गद्दी पर बैठते ही वे रातो-रात स्वार्थी, भ्रष्टाचारग्रस्त और आत्मपोषक हो उठे। औद्योगिक क्षेत्र मे पूंजीपतियों का एकाधिकार होता गया। परिणामतः देश का अर्थ-चक्र उनके इंगितो पर नाचने लगा। ये पूंजीपति एक तरह से मध्यकालीन सामन्तो के स्थानापन्न हो गये। गाँवो में सरकारी कर्मचारियो के भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और भाई-भतीजावाद के कारण तथा नगरो मे पूंजीपतियो के श्रम-शोषण के कारण स्थिति में अपेक्षित सुधार न हो सका, जिससे देश की आम-जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। स्वतन्त्रता-संग्राम के समय से उसके अन्तस् में पलती आशाएँ टूट-टूटकर बिखर गयी।

सन् १६५६-५७ ई० में 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना' का सूत्रपात हुआ। इस योजना मे उद्योग को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान किया गया। परिणामतः कृषि उपेक्षित रह गयी। इस कालावधि में नये-नये औद्योगिक नगरो—भिलाई, रुरकेला, दुर्गापुर, पिंपरी आदि—का उदय और विकास हुआ, जहाँ नये उद्योग-धन्धो की स्थापना हुई। निस्सन्देह इन नगरों एवं प्रतिष्ठानो के कारण देश ने मौलिक उद्योग-धन्धो की ओर चरण बढ़ाये, परन्तु कृषि की उपेक्षा के कारण इनका कोई ठोस और उत्साहवर्धक परिणाम सामने नही आया। मनुष्य के जिन्दा रहने के लिए अन्न मूलभूत आवश्यकता है; इस्पात और अल्यूमिनियम तो वह खाता नही। कृषि पर बल न देने के कारण इन यन्त्रों से उपलब्ध होनेवाला प्रचुर धन विदेशों से खाद्यान्न आयात करने मे व्यय हुआ। सार्वजनिक धन इस तरह खर्च होता रहा और उधर निजी क्षेत्र में पूँजीपति की शोषण-प्रक्रिया तीव्र गति पकड़ती जा रही थी। इस प्रक्रिया के बीच मध्य-वर्ग सबसे अधिक संत्रस्त था। एक तरफ उसकी महत्वाकांक्षाएँ और दूसरी ओर आय के सीमित साधन-स्रोत—यह दुधारी तलवार—उसे अनुदिन काट रही थी।

सन् १६६२ ई० मे 'तृतीय पचवर्षीय योजना' शुरू हुई और उसके आरम्भ-काल में ही देश पर बर्बर चीनी आक्रमण हुआ, जिसके पुनः घटित हो जाने की आशका योजना के अंत तक बनी रही। योजना के समाप्त होते-होते चीन ने तो नहीं, पर पाकिस्तान ने सन् १६६५ ई० में सीमातिक्रमण कर लडाई छेड दी। परिणामतः देश को सामरिक तैयारी पर क्षमता से अधिक व्यय-भार वहन करना पडा, जिसका स्वाभाविक परिणाम इतर उद्योग-धन्धो की उपेक्षा के रूप मे सामने आया। ऐसी संकट की घडी में पूँजीपतियो और व्यवसायियों ने भी अपना शोषण-चक्र तीव्र कर दिया।

प्रथम योजना के समय का उगता हुआ पूँजीपति तृतीय योजना के अन्त तक आते-आते एकाधिपति बन बैठा। इस प्रकार देश मे पचहत्तर 'मोनोपली हाउसेज' उठ खड़े हुए; फलतः औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन का अधिकांश इन पूँजीपतियो के हाथों में केन्द्रित हो गया और आम-जनता महँगाई, भुखमरी और शोषण की निर्मम चक्की में पिस रही है। कुल मिलाकर तृतीय योजना सफल न हो सकी। इसकी असफलता ने द्वितीय योजना की उपलब्धियो पर भी परदा डाल दिया है। वस्तुतः द्वितीय और तृतीय योजना-काल मे बेकारी बढ़ी है और प्रति व्यक्ति आय में भी अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई है। प्रथम योजना के अच्छे परिणामो के कारण ही शासक दल—कांग्रेस—प्रत्येक राज्य मे बहुमत से विजयी हुआ था, द्वितीय योजना की त्रुटियों और दोषो के कारण उसे एक राज्य—केरल—में पराजय का सामना करना पड़ा। किन्तु तृतीय योजना की नकारात्मक उपलब्धियो के कारण, देश पर बाह्य आक्रमण का खतरा होते हुए भी,

जनता ने उसका साथ नही दिया, जिससे देश के दो-तिहाई राज्यों में उसे मुँह की खानी पड़ी है।

(ख) सामाजिक जीवन :

(१) वर्ण-व्यवस्था—भारतवर्ष मे दीर्घ काल तक वर्ण-व्यवस्था और सयुक्त परिवार समाज-सगठन के आधार स्तम्भ थे। ये दोनो तत्व आज भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम-विभाजन था, इसीलिए शताब्दियो तक उसका टिका रहना संभव हो सका। पर कालान्तर मे जब इस व्यवस्था का आधार जन्म मान लिया गया तो इसमें क्षय के कीटाणु लग गये। प्राचीन काल में जब गाँव एक आर्थिक इकाई था, तब उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप वर्ण-व्यवस्था की नीव पड़ी थी। परन्तु आज की औद्योगिक प्रणाली एव राष्ट्रीय आर्थिक इकाई के सदर्भ में वह अपनी उपयुक्तता और अर्थवत्ता खो बैठी है। इसलिए उसका टूटना अपरिहार्य है।

सन् १६३५ ई० के पूर्व के सुधारवादी आन्दोलनो से जो आघात इसे लगा था, वह क्रमशः उग्रतर होता गया। आधुनिक पाश्चात्य-शिक्षा, स्वाधीनता-आन्दोलन का जनतत्रीय आधार, देश मे नये-नये उद्योग-धन्धो का विकास, जीविकोपार्जन की खोज मे एक बहुत बड़े जन-समुदाय का शहरों की ओर प्रयाण आदि कुछेक ऐतिहासिक तथ्य हैं जो वर्ण-व्यवस्था को प्रभावहीन करने मे योग दे रहे है।

(२) नये वर्गीय समाज—सन् १६३५ के बाद का युग आर्थिक वैषम्य का युग रहा है। आर्थिक वैषम्य से सत्रस्त देश का एक बहुत बड़ा वर्ग जब गाँवो से चलकर शहरो में पहुँचा तो वहाँ आर्थिक आधार पर उनके नये सम्बन्ध विकसित हुए। एक ही ढग से आर्थिक उत्पादन करने वालों के वर्ग बने। समान आर्थिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक समस्याओ से ग्रस्त लोगों ने समाज की स्थापना की। इस प्रकार आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित नये वर्गीय समाज ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था को धकिया दिया।

स्वाधीनता-प्राप्ति के वाद तो राष्ट्रीय सरकार द्वारा इसे समाप्त करने के अनेक प्रयास किये गये। जातिगत भेदभाव को कानूनन अपराध घोषित किया गया। सविधान ने सबको समान मौलिक अधिकार प्रदान किया। परन्तु स्वाधीनता-सग्राम के दौरान देश मे जिस सामाजिक दृष्टिकोण का विकास हुआ था, उसे भाषावार प्रान्तो की रचना के वाद, स्वार्थान्ध नेताओ ने आहत किया है। जातिगत आधार पर वे जनता को वरगला कर अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करने मे तत्पर दिखाई दे रहे है। फलतः जाति-प्रथा पुनर्जीवित हो उठना चाहती है। अतएव जनतान्त्रिक पद्धति मे विश्वास करने वाले भारत के लिए यह अत्यन्त घातक है।

(३) अछूत समस्या—देश में अछूत-समस्या जाति-व्यवस्था के प्रश्न से अटूट रूप से जुडी रही है। सवर्ण हिन्दू सदा से अछूतों पर अन्याय करते चले आ रहे थे। आधुनिक युग मे आकर इस समस्या के निवारण के लिए बहुमुखी प्रयास किये गये। गांधीजी के अछूतोद्धार के प्रयत्नो से इसमें काफी सुधार हुआ। भारतीय सविधान मे भी परिगणित जाति को कुछ समय तक के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। इस प्रकार इस समस्या का समाधान सभी स्तरो पर ढूँढने का प्रयत्न हुआ और हो रहा है, पर उसका विष एकदम समाप्त नही हुआ है। प्रयत्न अब भी अपेक्षित है, पूर्ण समाधान जीवन-दृष्टिकोण के परिवर्तन के विना सभव नही प्रतीत होता।

(४) साम्प्रदायिकता—यो तो भारतवर्ष मे कई जातियाँ—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि—है, परन्तु परस्पर विरोधी सस्कृतियों के कारण हिन्दू और मुस्लिमो मे वार-वार टकराहट होती रही। नेताओं के प्रयत्नो के फलस्वरूप साम्प्रदायिक सौमनस्य स्थापित हुआ और हिन्दुओं एवं मुस्लिमो दोनो ने साथ-साथ स्वाधीनता-संग्राम मे प्राणों की आहुतियाँ भी दी, पर अंग्रेजो की कूटनीति ने सौमनस्य के उस सूत्र को एक ही झटके मे तोडकर विखरा दिया। अंग्रेजो की राजनीतिक चालो के कारण मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की। पाकिस्तान की माँग ने देश के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिकता की आग भडका दी। फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ, पर उतने से ही साम्प्रदायिकता की प्यास नही बुझी। देश के स्वतन्त्र होते ही भीषण नरमेध हुआ। साम्प्रदायिकता के गर्भ से उपजने वाली पाशविकता ने दोनो देशों के मनुष्यों का जी-भर के रक्तपान किया। किन्तु वात यही नही समाप्त हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के वर्षों बाद भी देश मे राष्ट्र-विरोधी, फासिस्ट, शक्तियाँ विद्यमान हैं जो धर्म की आड़ मे देश को टुकडे-टुकडे मे वाँट देने पर तुली हैं। हमारा विश्वास है, इस समस्या का स्थायी समाधान तव तक नही निकल सकेगा, जव तक राजनीतिक दल, विशेषकर सतारूढ़ दल, अपनी तुष्टीकरण की नीति का परित्याग नही करते।

(५) संयुक्त परिवार—सामन्ती युग मे सयुक्त परिवार भारतीय समाज-व्यवस्था का मेरुदण्ड था। इसके मूल मे कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था थी। परन्तु पूँजीवादी युग के आर्थिक वैषम्य ने सयुक्त परिवार को विघटित कर दिया। आज परम्परागत भारतीय परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति का यह सवसे वड़ा दोष है कि उसने शिक्षितो में सफेदपोशी की प्रवृत्ति जगाई। स्पष्ट है कि ऐसे लोगो को खेतो मे काम करना कदापि पसन्द नही। वे कुछ ऐसा कार्य करना चाहते हैं, जिससे उनकी सफेदपोशी वनी रहे और जीविका भी चलती रहे, इसके लिए सवसे उपयुक्त साधन है 'नौकरी'। जव परिवार के दस सदस्य नौकरी की तलाश मे भिन्न-भिन्न स्थानों पर चले गये तो संयुक्त परिवार स्वतः विखर गया। दूसरे, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो के विकास के कारण आज

जनता ने उसका साथ नही दिया, जिससे देश के दो-तिहाई राज्यो में उसे मुँह की खानी पड़ी है।

(ख) सामाजिक जीवन :

(१) वर्ण-व्यवस्था—भारतवर्ष में दीर्घ काल तक वर्ण-व्यवस्था और सयुक्त परिवार समाज-संगठन के आधार स्तम्भ थे। ये दोनों तत्व आज भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सामाजिक जीवन को प्रभावित कर रहे है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम-विभाजन था, इसीलिए शताब्दियो तक उसका टिका रहना संभव हो सका। पर कालान्तर मे जब इस व्यवस्था का आधार जन्म मान लिया गया तो इसमे क्षय के कीटाणु लग गये। प्राचीन काल मे जब गाँव एक आर्थिक इकाई था, तब उसकी आवश्यकताओ के अनुरूप वर्ण-व्यवस्था की नीव पड़ी थी। परन्तु आज की औद्योगिक प्रणाली एवं राष्ट्रीय आर्थिक इकाई के सदर्भ मे वह अपनी उपयुक्तता और अर्थवत्ता खो बैठी है। इसलिए उसका टूटना अपरिहार्य है।

सन् १६३५ ई० के पूर्व के सुधारवादी आन्दोलनों से जो आघात इसे लगा था, वह क्रमशः उग्रतर होता गया। आधुनिक पाश्चात्य-शिक्षा, स्वाधीनता-आन्दोलन का जनतन्त्रीय आधार, देश में नये-नये उद्योग-धन्धों का विकास, जीविकोपार्जन की खोज में एक बहुत बड़े जन-समुदाय का शहरों की ओर प्रयाण आदि कुछेक ऐतिहासिक तथ्य है जो वर्ण-व्यवस्था को प्रभावहीन करने में योग दे रहे है।

(२) नये वर्गीय समाज—सन् १६३५ के बाद का युग आर्थिक वैषम्य का युग रहा है। आर्थिक वैषम्य से सन्त्रस्त देश का एक बहुत बड़ा वर्ग जब गाँवो से चलकर शहरो में पहुँचा तो वहाँ आर्थिक आधार पर उनके नये सम्बन्ध विकसित हुए। एक ही ढग से आर्थिक उत्पादन करने वालो के वर्ग बने। समान आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओ से ग्रस्त लोगो ने समाज की स्थापना की। इस प्रकार आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित नये वर्गीय समाज ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था को धकिया दिया।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद तो राष्ट्रीय सरकार द्वारा इसे समाप्त करने के अनेक प्रयास किये गये। जातिगत भेदभाव को कानूनन अपराध घोषित किया गया। संविधान ने सबको समान मौलिक अधिकार प्रदान किया। परन्तु स्वाधीनता-संग्राम के दौरान देश मे जिस सामाजिक दृष्टिकोण का विकास हुआ था, उसे भाषावार प्रान्तो की रचना के बाद, स्वार्थान्ध नेताओ ने आहत किया है। जातिगत आधार पर वे जनता को बरगला कर अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करने मे तत्पर दिखाई दे रहे है। फलतः जाति-प्रथा पुनर्जीवित हो उठना चाहती है। अतएव जनतान्त्रिक पद्धति मे विश्वास करने वाले भारत के लिए यह अत्यन्त घातक है।

(३) अछूत समस्या—देश में अछूत-समस्या जाति-व्यवस्था के प्रश्न से अटूट रूप से जुड़ी रही है। सवर्ण हिन्दू सदा से अछूतों पर अन्याय करते चले आ रहे थे। आधुनिक युग मे आकर इस समस्या के निवारण के लिए वहुमुखी प्रयास किये गये। गांधीजी के अछूतोद्धार के प्रयत्नो से इसमे काफी सुधार हुआ। भारतीय सविधान मे भी परिगणित जाति को कुछ समय तक के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी है। इस प्रकार इस समस्या का समाधान सभी स्तरों पर ढूँढने का प्रयत्न हुआ और हो रहा है, पर उसका विष एकदम समाप्त नही हुआ है। प्रयत्न अव भी अपेक्षित है, पूर्ण समाधान जीवन-दृष्टिकोण के परिवर्तन के विना संभव नही प्रतीत होता।

(४) साम्प्रदायिकता—यो तो भारतवर्ष मे कई जातियाँ—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिक्ख आदि—है, परन्तु परस्पर विरोधी सस्कृतियो के कारण हिन्दू और मुस्लिमो मे बार-बार टकराहट होती रही। नेताओं के प्रयत्नो के फलस्वरूप साम्प्रदायिक सौमनस्य स्थापित हुआ और हिन्दुओ एवं मुस्लिमों दोनो ने साथ-साथ स्वाधीनता-सग्राम मे प्राणो की आहुतियाँ भी दी, पर अंग्रेजों की कूटनीति ने सौमनस्य के उस सूत्र को एक ही झटके मे तोडकर बिखरा दिया। अग्रेजो की राजनीतिक चालो के कारण मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की। पाकिस्तान की माँग ने देश के विभिन्न भागो मे साम्प्रदायिकता की आग भडका दी। फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ, पर उतने से ही साम्प्रदायिकता की प्यास नही बुझी। देश के स्वतन्त्र होते ही भीषण नरमेध हुआ। साम्प्रदायिकता के गर्भ से उपजने वाली पाशविकता ने दोनो देशो के मनुष्यों का जी-भर के रक्तपान किया। किन्तु बात यही नही समाप्त हुई। स्वाधीनता-प्राप्ति के वर्षों बाद भी देश मे राष्ट्र-विरोधी, फ़ासिस्ट, शक्तियाँ विद्यमान हैं जो धर्म की आड़ मे देश को टुकडे-टुकडे मे बाँट देने पर तुली है। हमारा विश्वास है, इस समस्या का स्थायी समाधान तब तक नही निकल सकेगा, जब तक राजनीतिक दल, विशेषकर सतारूढ़ दल, अपनी तुष्टीकरण की नीति का परित्याग नही करते।

(५) संयुक्त परिवार—सामन्ती युग मे सयुक्त परिवार भारतीय समाज-व्यवस्था का मेरुदण्ड था। इसके मूल मे कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था थी। परन्तु पूँजीवादी युग के आर्थिक वैषम्य ने सयुक्त परिवार को विघटित कर दिया। आज परम्परागत भारतीय परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति का यह सवसे वडा दोष है कि उसने शिक्षितो मे सफेदपोशी की प्रवृत्ति जगाई। स्पष्ट है कि ऐसे लोगो को खेतो मे काम करना कदापि पसन्द नही। वे कुछ ऐसा कार्य करना चाहते हैं, जिससे उनकी सफेद-पोशी बनी रहे और जीविका भी चलती रहे, इसके लिए सवसे उपयुक्त साधन है 'नौकरी'। जव परिवार के दस सदस्य नौकरी की तलाश मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर चले गये तो संयुक्त परिवार स्वतः विखर गया। दूसरे, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो के विकास के कारण आज

आधुनिक परिवार सिमट कर इतना छोटा हो गया है कि उसके अन्तर्गत पति, पत्नी और नाबालिग बच्चों के अतिरिक्त दूसरो के लिए स्थान नहीं। परन्तु यह स्थिति शहरी मध्यवर्गीय परिवार तक ही सीमित है, गाँवों मे तो आज भी पारिवारिक एकता के प्रति अपूर्व निष्ठा बनी हुई है।

(६) **सामाजिक जागरण**—सन् १९३५ से १९५७ तक अर्थात् प्रथम पंच-वर्षीय योजना की समाप्ति तक भारतीय समाज, निस्सन्देह प्रगति और सुधार की ओर बढा है। परन्तु सन् १९५७ से १९६८ के बीच अर्थात् दूसरे और तीसरे योजना-काल में समाज मे गतिरोध आया है, सांस्कृतिक दृष्टि से देश का विघटन हुआ है, साहित्य मे प्रगतिवादी आन्दोलन का ह्रास तथा प्रयोगवादी आन्दोलन का चरम विकास दिखाई देता है। और उसमे वैयक्तिक मूल्य, अनास्था का स्वर और यौन-उच्छृङ्खलता के दर्शन हो रहे है। यद्यपि देश समाजवादी समाज-रचना के नारे से आगे बढ़कर जनतांत्रिक समाजवाद के नारे तक पहुँचा है किन्तु, वास्तव में, आज हमारा समाज अत्यन्त भ्रमित अवस्था मे है। यही कारण है कि सर्वत्र सामाजिक प्रतिगामिता पुनः दिखाई दे रही है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है कि आलोच्य काल के प्रारम्भिक वर्षों में देश मे सर्वव्यापी जागृति आई। लोगो मे परम्परागत सामाजिक मान्यताओ के प्रति अविश्वास उत्पन्न हुआ। प्रगतिशील विचारो से समन्वित व्यक्तियो ने सामाजिक रूढ़ियों को तोडा और नये आदर्श स्थापित किये। समाज में प्रचलित कुरीतियों पर तीव्र प्रहार हुए। बाल-विवाह का निषेध हुआ, विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरण प्रस्तुत किये गये, वेश्या-वृत्ति को कुत्सित और घृणित बताया गया तथा दहेज-प्रथा का विरोध हुआ। उच्च शिक्षा के लिए नारी-वर्ग मे जागरण आया।

(७) **नारी-समस्या**—पुरुष-प्रधान समाज मे नारी सदियों से उपेक्षित थी। आर्थिक परावलम्बन का अभिशाप वह निरन्तर झेलती रही। पुरुष ने नैतिकता और सामाजिक मर्यादा का सारा दायित्व जैसे उसी के कन्धों पर रख दिया था। आधुनिक युग मे सामाजिक सुधारों और नव-शिक्षा के फलस्वरूप उसे पहली बार अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का बोध हुआ। विवाह के क्षेत्र में उसने बाह्य दबावो के सामने समर्पण करने से इन्कार किया और विवाह को स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्ध की परिणति माना। 'हिन्दू कोड-बिल' और उत्तराधिकार-कानून (इनहेरीटेंस लॉ) ने भी नारी-पुरुष के वर्गीय भेद को समाप्त किया है। आज नारी के सामने पुरुष की ही तरह वैवाहिक जीवन की विसंगतियो से मुक्ति पाने के लिए तलाक का मार्ग खुला हुआ है। उच्च शिक्षा ग्रहण कर नारी राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में अग्रसर हुई है। सन् १९३५ से लेकर १९५७ ई० तक का इतिहास इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। वस्तुतः आज

का समस्त नारी-नेतृत्व इसी युग मे अस्तित्व मे आया है। स्वर्गीया सरोजिनी नायडू, श्रीमती अरुणा आसफ अली, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित और वर्तमान प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी इसी युग की देन है।

लेकिन सन् १९५७ ई० के बाद की सामाजिक परिस्थिति यह बतलाती है कि, नारी पश्चिमी सभ्यता की चकाचौध मे खो गयी है। वह फैशनपरस्त बनना चाहती है। उसमे वह संघर्षशीलता एवं नेतृत्व की प्रवल आकाक्षा नही रही, जो पहले की नारी में थी। यह विडम्बना ही है कि इक्कीस वर्षों की आजादी के बाद भी सामान्य श्रमिक या मध्यवर्गीय नारी-नेतृत्व में नही आ सकी है। हाँ, सन् १९६७ में हुए चौथे आम-चुनाव के बाद देश मे एक नया नारी नेतृत्व दिखाई पडा है, परन्तु वह टूटती सामन्तवादी व्यवस्था की ही एक मजबूत कड़ी है। जयपुर की महारानी गायत्री देवी तथा ग्वालियर की महारानी विजया राजे सिंधिया अभिजातवर्गीय नेत्रियाँ है।

(ग) राजनीतिक घटनाएँ :

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक तीस वर्षो मे महात्मा गांधी का विराट व्यक्तित्व भारत के राजनीतिक क्षितिज को पूर्णतः आच्छादित किये हुए था। उनके नेतृत्व में संचालित अहिंसात्मक आन्दोलनो के द्वारा देश स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील था। एक तरह से सम्पूर्ण देश की गाधीजी एवं कांग्रेस में गहरी निष्ठा थी। पर शिक्षित नवयुवको का एक छोटा-सा ऐसा वर्ग भी था, जो गाधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलनो की तत्कालीन असफलता से क्षुब्ध था और भीतर ही भीतर सघर्ष की उस मानसिक प्रक्रिया से गुजर रहा था, जो मनुष्य को सर पर कफन बाँध कर क्रांतिकारी वन जाने के लिए विवश कर देती है। ये क्रांतिकारी सशस्त्र डकैती और राजनीतिक हत्याओ का सहारा लेकर देश को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना चाहते थे। उद्देश्य तो गांधीजी और काग्रेस का भी यही था, पर मार्ग दोनो के भिन्न थे। क्रान्तिकारियों की सारी गतिविधियाँ सरकार की दृष्टि से बचने के लिए अत्यन्त गोपनीयता से संचालित होती थी, इसलिए जन-सामान्य, सहानुभूति के बावजूद, उन्हे भली-भाँति समझ नही पा रहा था। क्रातिकारियो पर रूस मे जारशाही के विरुद्ध चलने वाले वोल्शैविक आन्दोलन का भी प्रभाव था। जव कालान्तर मे वे क्रांतिकारी, जो सामाजिक चेतना से सम्पन्न थे, साम्यवादी दल मे सम्मिलित हो गये तो, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के वाद भारत के राजनीतिक मच से उनका पूर्णतः लोप ही हो गया।

१९३६ ई० में लखनऊ मे होने वाले काग्रेस अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से पंडित नेहरू ने समाजवाद को अपने राजनीतिक विचारों का प्रमुख आधार घोषित किया। १९३७ ई० के आम-चुनाव मे कांग्रेस की भारी विजय हुई, जिससे लगभग आठ प्रान्तों

का शासन-सूत्र उसके हाथ मे आ गया। १६३६ ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमे ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी सम्मिलित कर लिया। कांग्रेस ने इसकी प्रतिक्रिया मे प्रान्तीय मन्त्रिमडलों से त्यागपत्र दे दिया, क्योकि उससे अंग्रेज सरकार ने पूछने तक की शिष्टता नही दिखाई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध मे ब्रिटेन द्वारा भारत के भी सम्मिलित कर लिये जाने की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों मे भिन्न-भिन्न रूप मे हुईं। काग्रेस ने दो शर्तों पर सहयोग देना स्वीकार किया। पहली यह कि अग्रेज सरकार वचन दे कि युद्धोपरान्त भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र कर दिया जायेगा। दूसरी यह कि युद्ध के दौरान देश के आन्तरिक प्रशासन मे भारतीयो को भी स्थान दिया जायेगा।

गाधीजी ब्रिटिश सरकार को नैतिक समर्थन देने के पक्ष में थे, सक्रिय सहयोग देने के पक्ष मे नही; क्योकि युद्ध में सक्रिय सहयोग उनकी अहिंसावादी नीति के विरुद्ध पड़ता था। कम्युनिस्ट पार्टी तथा रायवादी दल युद्ध मे रूस के सम्मिलित होने के कारण मित्र-राष्ट्रों की सक्रिय सहायता करना चाहते थे। इस तरह राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच उन्होने अन्तर्राष्ट्रीयता को वरीयता प्रदान की। क्रान्तिकारी दल ने देश को शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्र करने के उद्देश्य से इस युद्ध से पूरा लाभ उठाना चाहा। 'ब्रिटेन का शत्रु, भारत का मित्र' की नीति अपनाते हुए उसने जर्मनी, जापान आदि का साथ देकर ब्रिटिश शासन के मूलोच्छेद का निश्चय किया। 'आजाद हिन्द फौज' की स्थापना और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का जापान जाकर उनसे सामरिक सहायता लेना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

सघर्ष की ऐसी स्थिति में ब्रिटेन ने भारत को मार्च '४२ मे 'क्रिप्स मिशन' भेजा। मिशन के प्रस्ताव इतने उलझे हुए थे कि भारतीय नेताओ से बातचीत के बाद वह पूर्णतः असफल हो गया। क्रिप्स को ब्रिटेन वापस जाना पड़ा। मिशन की असफलता के बाद गांधीजी के नेतृत्व मे काग्रेस का व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ। अब तक समझौते की बाते इतनी अधिक और निरर्थक हो चुकी थी कि जनता एवं कांग्रेस के नेता उससे बिल्कुल तङ्ग आ गये थे। अब और अधिक समझौता-वार्ता मे उनकी आस्था नही रह गई थी। इसलिए अगस्त, सन् १६४२ में अखिल भारतीय काग्रेस महासमिति के बम्बई अधिवेशन मे 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित हुआ। इस प्रस्ताव मे स्पष्ट रूप से 'पूर्ण स्वतन्त्रता' की माँग की गयी। दूसरे ही दिन, काग्रेस के सभी नेता गिरफ्तार कर लिए गये। जनता नेता-विहीन हो गई। जनता एक तो पहले से ही विदेशी सरकार से क्रुद्ध और बोखलाई हुई थी, ऊपर से नेताओं की गिरफ्तारी ने भभकती आग मे घी का काम किया। सम्पूर्ण भारत मे भयानक रूप से आन्दोलन शुरू हो गये और सर्वत्र तोड-फोड एव ध्वस की घटनाएँ हुईं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने

बड़ी निर्ममता से इसका दमन किया, पर आन्दोलन ने अग्रेजों की कमर तोड दी। उन्हे सोचने पर विवश होना पडा कि यह किसी एक व्यक्ति या वर्ग-विशेष का आन्दोलन नही है, अपितु सम्पूर्ण भारतीय जनता का आन्दोलन है। ऐसी स्थिति मे बहुत समय तक यहाँ टिक पाना, शायद सम्भव नही। वस्तुतः सन् १९४२ का यह आन्दोलन साम्राज्यवादी शोषण और अत्याचार के विरुद्ध भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना का विद्रोहात्मक विस्फोट था। इसीलिए इसे आन्दोलन न कहकर जनक्राति कहते हैं। यद्यपि सन् १९४२ की जनक्राति दबा दी गई थी, लेकिन उसकी चिनगारियाँ भीतर-ही-भीतर सुलग रही थी। १८ फरवरी, १९४६ को, भारतीय जन-मानस मे पलने वाली चिनगारी नाविक-विद्रोह के रूप मे ज्वालामुखी बनकर फूटी। इस तरह सन् '४२ की जनक्रांति, नेताजी सुभाष और उनकी आजाद हिन्द फौज तथा नाविक-विद्रोह ने अंग्रेजो के मन मे भय की भावना भर दी, जिससे भारत छोडने का निर्णय कर लेना उनके लिए अनिवार्य हो गया।

जब भारत मे स्वाधीनता-आन्दोलन उग्र रूप धारण करने लगा तो अग्रेजो ने साम्प्रदायिक विद्वेष को भडकाकर भारतीय जनशक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया। अंग्रेजो की नीति थी—'फूट डालो और राज्य करो'। शुरू से ही उन्होने इसे राजनीतिक मंत्र के रूप मे स्वीकार कर लिया था। अतः आन्दोलन के तीव्र होते ही उन्होने उक्त मत्र को पूरे वेग से चलाया और वह कारगर भी सिद्ध हुआ। मार्च, सन् '४० मे लाहौर मे मुहम्मद अली जिन्ना के प्रयत्नो से मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की। परिणामस्वरूप हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच की दरार और भी चौडी हो गई। सन् १९४६ ई० मे इग्लैंड से 'केबिनेट मिशन' आया, जिसने पूर्व और पश्चिम के दो हिस्सो को मुस्लिम-बहुल और शेष हिन्दुस्तान को हिन्दू-बहुल प्रदेश घोषित किया। सन् १९४६ ई० मे चुनाव हुए। अग्रेजों ने अस्थायी सरकार बनाने के लिए दोनो दलों को आमंत्रित किया जिसमे पहले तो मुस्लिम लीग सम्मिलित न हुई परन्तु जब प० नेहरू के नेतृत्व में सरकार बनी तो मुस्लिम लीग ने अवरोध डालने की नीति अपनाई। सन् १९४६ मे ही सुहरावर्दी के मुख्यमंत्रित्व मे कलकत्ता में लोमहर्षक नरमेध हुआ, जिसके पीछे लीगी सरकार का पूरा हाथ था। कलकत्ता के अतिरिक्त नोआखाली को मुसलमानो ने अपना दूसरा लक्ष्य बनाया। वहाँ भी भीषण नर-सहार हुआ, जिसकी प्रतिशोधात्मक प्रतिक्रिया बिहार मे हुई। दगे इतने तीव्र होते गए कि नेहरू सरकार के लिए उन पर नियन्त्रण पाना कठिन हो गया। विवश होकन् ३ जून, १९४७ को पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली गयी। फलतः १५ अगस्त, १९४७ को देश विभक्त होकर स्वाधीन हुआ।

अभी स्वतन्त्रता मिली भी नही थी कि पजाब मे साम्प्रदायिक कटुता विष

उगलने लगी। हत्याकाण्ड शुरू हो गये थे। साम्प्रदायिक तनाव इतने बढ़ गये थे कि स्वतन्त्रता की घोषणा होते ही हजारों-लाखों की संख्या मे लोग अपनी प्राण-रक्षा के लिए पाकिस्तान से भारत आये। आने वालो की संख्या इतनी बड़ी थी कि सरकार के लिए उनके पुनर्वास और रोटी की व्यवस्था करना अत्यन्त जटिल बन गया। उक्त कारणो से उग्र हिन्दू-समुदाय इतना विक्षुब्ध हो उठा कि वह अपना सन्तुलन खो बैठा, जिसका प्रमाण गांधीजी की हत्या के रूप मे मिलता है। ३० जनवरी, सन् १६४८ को उस अहिसा-व्रती का अंत हिंसा के हाथो हुआ।

२६ जनवरी, १६५० ई० को स्वतन्त्र भारत का संविधान देश के सम्मुख आया, जिसके अन्तर्गत भारत को सघीय गणतंत्र घोषित किया गया। इस दिन भारत विश्व के राजनीतिक मानचित्र पर संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र बनकर उदित हुआ। स्वतंत्र देश के प्रथम प्रधान मत्री प० नेहरू के गहरे लोकतान्त्रिक विश्वासो ने उन्हे चीन तथा अन्य समाजवादी देशो की यात्रा के लिए प्रेरित किया। उक्त समाजवादी देशों की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि वहाँ से लौटने के बाद सन् १६५५ मे उन्होंने अवाड़ी कांग्रेस अधिवेशन मे भारत के लिए समाजवादी समाज-व्यवस्था की स्पष्ट घोषणा की। इससे पहले ही सन् १६५३ ई० मे अमेरिका और रूस की अणुबम से आगे बढकर उद्जन बम की उपलब्धियो ने राष्ट्रो के बीच व्याप्त तनावों को और भी बढा दिया था। विश्व के दो प्रमुख शक्ति-शिविरों के बीच का शीत-युद्ध और गहराता चला जा रहा था, जिससे तृतीय विश्वयुद्ध की संभावनाएँ विकराल रूप धारण कर विश्व-मन को अधिकाधिक भयभीत करती चली जा रही थी। ऐसा नही कि इससे विश्व के अविकसित या विकासोन्मुख देश ही संत्रस्त थे; बल्कि विकसित, शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र भी इसकी आँच में झुलस रहे थे। इसीलिए विवश होकर २६ अप्रैल, १६५४ को उन्हे जेनेवा-सम्मेलन का आयोजन करना पड़ा। ऐतिहासिक सत्य यह है कि शीत-युद्ध एवं तनावो की विभीषिका से सबसे अधिक पं० नेहरू चिन्तित थे। जेनेवा-सम्मेलन के समय ही उनके प्रयत्नो से एशिया के पाँच राष्ट्रो का सम्मेलन कोलम्बो में हुआ, जिसके निर्णयो की घोषणा का जेनेवा-सम्मेलन की कार्यवाहियो पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडा। जेनेवा-सम्मेलन का आयोजन वियतनाम के प्रश्न पर हुआ था। सम्मेलन के निर्णयो के फलस्वरूप वियतनाम का युद्ध टला और इस प्रकार तीसरा विश्वयुद्ध भी। पर पं० नेहरू के शान्ति-प्रयास यही नही समाप्त हुए। चीन का दौरा कर उन्होंने 'पञ्च-शील' के रूप मे चीन के साथ मैत्री स्थापित की। १८ अप्रैल, १६५५ ई० को इडोनेशिया के बाडुंग नगर मे एक सम्मेलन आयोजित हुआ जिसमें तीस एशियाई-अफ्रीकी देशो ने भाग लिया और पचशील के सिद्धान्तों को व्यापक स्वीकृति प्रदान की। इस सम्मेलन के कारण भारत, इंडोनेशिया, मिस्र आदि की क्रमागत तटस्थता की

विदेश-नीति अधिक सुदृढ़ हुई तथा सम्मेलन मे भाग लेने वाले अन्य राष्ट्रों ने भी इसके बाद से तटस्थता की नीति को ही अपनी विदेश नीति का प्रमुख तत्व स्वीकार किया। पं० नेहरू, नासिर, टीटो और सुकर्णो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में गुटमुक्तता की नीति के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने तटस्थता, विश्व-शान्ति, सहअस्तित्व, स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत देशों के प्रति सहानुभूति तथा सभी देशो के प्रति मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को व्यापक रूप से प्रचारित किया।

इतिहास का व्यग्य देखिए कि जो चीन, पं० नेहरू के साथ, पचशील का जनक माना जाता है, उसी ने २० अक्टूबर, १९६२ को पचशील के सभी राजनीतिक विश्वासों एव मान्यताओ को ठोकर मार कर भारत पर सैनिक आक्रमण कर दिया। भारत को इससे जो क्षति हुई, वह तो हुई ही, पर विश्व की राजनीतिक चेतना की दृष्टि मे सबसे अधिक आहत हुआ 'समाजवाद'। दुनिया की आँखो मे समाजवाद छद्मवेषी सिद्ध हुआ और उस छद्म-वस्त्र के भीतर से झाँकती हुई विस्तारवादी प्रवृत्ति दीख पडी। समाज-वाद और विस्तारवाद के अद्भुत सयोग पर संसार को विश्वास नही हो रहा था, पर इतिहास की सचाई को झुठलाया भी कैसे जा सकता था। वस्तुतः समकालीन राजनीति की सबसे वडी समस्या है चीन। कुछ समय पहले जो परमाणु-परीक्षण-सधि मास्को में हुई थी, उससे विश्व के शाति-प्रेमियों मे कुछ आशा बँधी थी, किन्तु गत कुछ वर्षों के दौरान किये गए चीन के परमाणु-परीक्षणो ने उसे पुनः ध्वस्त कर दिया है। चीन की स्वेच्छाचारी गतिविधियो ने समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय रूप पर धब्बा लगाया है और स्वतः समाजवादी देशो को दो गुटो मे विभक्त कर दिया है।

चीन के अतिरिक्त भारत के लिए दूसरा सरदर्द पाकिस्तान बना हुआ है। सन् १९६५ मे पाकिस्तान ने भारत पर दुबारा बर्बरतापूर्ण आक्रमण किया। निश्चय ही इसका कारण पूंजीवादी देशो के साथ हुई उसकी सैनिक सधियाँ है, जिनके अन्तर्गत उसे शस्त्रास्त्रो की बेहद सहायता मिली थी। लेकिन भारत ने उनका मुँहतोड जवाब दिया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वियतनाम की समस्या ज्यो-की-त्यो बनी है, जो शान्ति के लिए व्यापक खतरा सिद्ध हो रही है।

(घ) सांस्कृतिक मूल्य :

सभी युगो मे मानव-मन और उसके आन्तरिक जगत् के कुछेक नियामक तत्व रहे है। उन्ही तत्वो से परिचालित होकर मनुष्य आचरण और व्यवहार करता है। ये तत्व देश और काल की भिन्नता के आधार पर विभिन्न होते है। इन्ही नियामक तत्वों की बाह्याभिव्यक्ति—चाहे वह आचरण एव व्यवहार के माध्यम से हो या साहित्य तथा अन्य कलाओ के माध्यम से—सस्कृति कहलाती है। हमारे आचरण-व्यवहार एवं

साहित्यिक-कलात्मक अभिव्यक्तियो में हमारे जीवन का विश्वास एवं उसके प्रति दृष्टि-कोण प्रकट होता है। यह जीवन-विश्वास एवं जीवन-दृष्टि और कुछ नही, हमारे आन्तरिक जगत् का नियामक तत्व ही है। इसीलिए ऊपर कहा गया है, जीवन के नियामक तत्वों की वाह्याभिव्यक्ति ही संस्कृति है।

प्राचीन भारतीय मन ही नही, सम्पूर्ण प्राचीन विश्व-मन का नियामक और संचालक तत्व था धर्म; और धर्म का चक्र अवस्थित था ईश्वर की धुरी पर। इसलिए कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राचीन विश्व-समाज का आन्तरिक जगत् ईश्वर को केंद्र मे रखकर चिन्तन-मनन एवं आचरण-व्यवहार करता था। चिन्तन-मनन के इस स्वरूप को आध्यात्मिक चिन्तन का अभिधान प्रदान किया गया। इस जीवन-विश्वास ने नाना कारणो से सामाजिक विषमता को पनपने का अवसर दिया था।

यूरोप में विज्ञान के उदय ने उक्त विश्वास को धक्का पहुँचाया, क्योंकि विज्ञान के मूल मे—आस्था, जो धर्म का मूलाधार है, न होकर—बुद्धि अवस्थित है, जिसका प्रमुख गुण-धर्म है विश्लेषण। और विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के मूल मे प्रमुख रूप से काम करती है कार्य-कारण शृंखला। बुद्धिमूलक विज्ञान द्वारा कार्य-कारण शृंखला मे विश्वास करना क्या था कि धर्म और ईश्वर को धक्का लगा, क्योकि धर्म और ईश्वर पर कार्य-कारण नियम को लागू किया ही नही जा सकता; वहाँ तो आँख मूंद कर विश्वास करना पड़ता है।

विज्ञान ने धर्म और ईश्वर को धक्का पहुँचाया ही था कि १९वी शताब्दी के यूरोप मे एक साथ कई तत्वचिंतक—जिनमें मार्क्स और फ्रायड सर्वप्रमुख हैं—पैदा हुए, जिन्होने धर्म और ईश्वर पर कसकर प्रहार किया। परिणामतः यूरोपीय जीवन से धर्म और ईश्वर का तिरोभाव हो गया और शुद्ध बौद्धिकता ने आकर उनका स्थान ग्रहण कर लिया। भारत की अपेक्षा यूरोप मे धर्म और ईश्वर पर अनास्था एवं बुद्धि पर विश्वास काफी पहले हो गया था क्योकि वहाँ विज्ञान एवं उक्त तत्वचिन्तको का उदय उतना ही पहले हो चुका था। भारतवर्ष मे बौद्धिकता का उदय १९ वी शताव्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, पर वह भी बहुत मामूली तौर पर। २०वी शताव्दी मे आकर उसका व्यापक प्रसार हुआ।

अग्रेजी शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता एव विज्ञान के प्रचार-प्रसार के कारण १९३५ ई० तक आते-आते भारतीय मन भी वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि को पर्याप्त मात्रा मे अंगीकार कर चुका था। तथाकथित धर्म के आरोपित लवादे को उतार फेकने के प्रयत्न भारतीय समाज-सुधारक, तत्वचिन्तक और राजनीतिक नेता इससे काफी पहले से करते आ रहे थे। इस प्रयत्न के मूल मे अवस्थित थी राष्ट्रीय एकता की भावना। मध्यकालीन दकियानूसी

वर्जनामूलक धार्मिक भावना ने भारतीय जनशक्ति को जातियों-उपजातियो मे विभक्त कर अत्यन्त दुर्बल बना दिया था। इस दुर्बलता के रहते ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लड़ना अत्यन्त कठिन था, एक तरह से असंभव था। ब्राह्म-समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि समाज-सुधारक सस्थाओ ने इस तथ्य को लक्षित किया था। महात्मा गांधी के अस्पृश्यता-निवारण एव अछूतोद्धार के प्रयत्नो ने इसमे बहुत बड़ा योगदान दिया और सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई नई अर्थ-व्यवस्था ने। नई अर्थ-व्यवस्था के कारण ग्रामीण अचलो की बहुत बडी जनसख्या को जीविकोपार्जन के लिए नगरो की ओर प्रयाण करना पडा, जहाँ हर आदमी दूसरे से अपरिचित था। इस अपरिचय के वातावरण एव नगरो की जटिल जीवन-समस्याओं ने वर्जना की आधारशिला पर टिकी खानपान और पारस्परिक व्यवहार की प्राचीन दीवारो को एक ही झटके मे धराशायी कर दिया और उस खण्डहर के बीच से अकुरित हुए स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध, जिसके पीछे तथाकथित धर्म के तमाम झाड़-झखाडो से मुक्त होकर वैज्ञानिक दृष्टि काम कर रही थी।

कार्ल मार्क्स (सन् १८१८-१८८३ ई०) के समाज-दर्शन और रूसी जनक्रांति (१९१७ ई०) से स्वस्थ मानवीय सम्बन्धो की स्थापना एवं धार्मिक बाह्याडम्बरो से छुटकारा पाने मे बड़ी सहायता मिली। भारतवर्ष का शिक्षित वर्ग, जो देश का नेतृत्व कर रहा था और जो राष्ट्रीय एव सामाजिक चेतना से समन्वित था, मार्क्स के समाज-दर्शन के प्रति निष्ठावान होता जा रहा था। मार्क्स के समाज-दर्शन और जीवन-पद्धति मे विश्वास करने के कारण यह वर्ग धार्मिक वर्जनाओ के निषेध के लिए खड्गहस्त हो चुका था। मार्क्सवादी जीवन-दर्शन मे विश्वास करने का अर्थ ही था वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि मे आस्था प्रकट करना। सन् १९३६ ई० के आस-पास पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिये गये सार्वजनिक वक्तव्य एव प्रगतिशील लेखक सघ के लखनऊ अधिवेशन मे दिया हुआ प्रेमचन्दजी का अध्यक्षीय भाषण तत्कालीन भारतीय जन-मानस को बड़ी स्पष्टता से प्रतिविम्बित करते हैं।

भारतवर्ष की निषेधमूलक धार्मिकता का आतक काम (सेक्स) के क्षेत्र में सर्वाधिक था। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो को भारतवर्ष सदियो से जिस दृष्टि से देखता चला आ रहा था, उसमे कुण्ठाओं के विकास एवं बद्धमूलता के लिए अत्यधिक अवसर था। पर इससे जो सर्वाधिक क्षति हो रही थी, वह यह कि भारतीय जन-समुदाय का एक बहुत बडा वर्ग—स्त्री-वर्ग—घर की सीमाओ मे बन्द अपनी शक्ति को व्यर्थ बनाने के लिए विवश था। इसी पीठिका पर प्रवेश करता है सिगमण्ड फ्रायड का मनोविश्लेषण शास्त्र। मनोविश्लेषण शास्त्र ने काम (सेक्स) को मुख्य रूप से अपने विवेचन का विषय बनाया।

इससे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर नया आलोक पड़ा। परिणामतः प्राचीन भारतीय स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-परक कट्टरता मे वैयक्तिक स्तर पर शिथिलता आई और इस क्षेत्र मे भी बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता ने अधिकार जमाना शुरू कर दिया। राजनीतिक जागरूकता के कारण कुछ शिक्षित नारियाँ तो सार्वजनिक क्षेत्रो में पहले ही उतर चुकी थीं, पर मनोविश्लेषण शास्त्र के अध्ययन-मनन के कारण स्त्री-वर्ग प्राचीन धार्मिक दकियानूसीपन को झाड़ फेंकने के लिए मानसिक रूप से तैयार हो उठा।

इस प्रकार विज्ञान के उदय, नई अर्थ-व्यवस्था के प्रवर्तन, मार्क्सवादी समाज-दर्शन और जीवन-दृष्टि तथा फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र और काम-दर्शन के कारण अंधविश्वास एव अंधश्रद्धामूलक धार्मिक रूढ़िवादिता का ह्रास होने लगा और उसका स्थान कार्य-कारण शृंखलापरक बौद्धिकता ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यही वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि थी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सविधान ने देश के सभी नागरिको को समान दृष्टि से देखने की घोषणा की। लिंग-भेद, जाति-भेद आदि का सविधान की दृष्टि में कोई महत्व नही रहा। जातीय श्रेष्ठता एवं हीनता को भी अस्वीकारा गया। योग्यता को व्यक्ति की श्रेष्ठता का मापदंड माना गया। शिक्षा का प्रसार बड़ी तीव्रता से किया गया, जिससे किसी भी बात को तर्क के निकष पर परखने की प्रवृत्ति जागी। औद्योगिक प्रगति एव विकास की क्षिप्रता के कारण नगरो में अखिल भारतीय एव अन्तर्राष्ट्रीय बहुजातीय सम्मिलन बड़ी तेजी से हुआ। परिणामतः व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध जातीय आधार पर न होकर, पारस्परिक व्यवहार के स्तर पर हुआ। निश्चय ही इससे मानवीय धरातल पर स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धो का विकास हुआ है और अस्वस्थ, रुग्ण एव क्षयग्रस्त तत्वो का ह्रास।

पर इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष प्राचीनताओ से बिल्कुल विमुक्त हो गया है। इसका कारण भी है कि जिस पश्चिम की धरती ने विज्ञान के उदय और तत्वचिंतको के चिन्तन से अपने अन्दर बौद्धिकता को विकसने का अवसर और स्थान दिया था, उसी को अत्यन्त लोमहर्षक, हृदयविदारक और सर्वग्रासी दो-दो महायुद्ध देखने पड़े। द्वितीय महायुद्ध ने तो उसे स्तभित कर विमूढ़ बना दिया। पश्चिम ने तो ऐसा सर्वसहारक, अविवेकपूर्ण युद्ध कभी नही देखा था। महानाश की इस विभीषिका से पश्चिम का मनुष्य मनुष्यता और इसीलिए जीवन पर से ही विश्वास खो बैठा। जिस पश्चिम ने मानव-मानव को विभक्त करने वाली वर्जनामूलक धार्मिकता का विरोध बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का सहारा लेकर किया था, उसी को जीवन का यह महानाश भी देखना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि जीवन पर से उसका विश्वास ही उठ गया और हुआ जीवन की क्षण-भंगुरता का अत्यन्त प्रखर और गहरा अहसास।

वह क्षण-भंगुरताजनित अविश्वास की पीड़ा से भर उठा, उसे एक भयानक मानसिक दर्द की प्रक्रिया से गुजरना पडा। विज्ञान आदि के उदय के कारण धर्म और ईश्वर पर से तो उसका विश्वास पहले ही उठ चुका था और अब जीवन और मनुष्यता पर से भी उठ गया, और रह गया उसके हाथ शून्य, आधारहीनता—न ईश्वर का आधार और न जीवन-विश्वास का आधार। यही कारण है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद के काल मे वहाँ के जीवन मे अनास्था, अविश्वास, कुंठा, निराशा, घुटन आदि ह्रासशील भाव उग आये। कामू, सार्त्र आदि साहित्यकारों की सर्जनाएँ प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

पश्चिम की देखा-देखी सम्पूर्ण विश्व मे और भारत मे भी कुछ वैसी ही मनः-स्थिति बनी। कुछ तो बनी और कुछ विशेष साहित्यकारो द्वारा बनाकर ओढ़ ली गई। वस्तुतः भारत का सकट वही नही था जो पश्चिम का था। पश्चिम के मन से ईश्वर और जीवन-विश्वास दोनों की धुरी खिसक गई थी। पर भारत के साथ ऐसा नही था, क्योंकि भारतीय मन से ईश्वर का निर्वासन नही हो पाया था। इसके भी कारण हैं। एक तो, भारतवर्ष हमेशा से ईश्वर-परायण रहा है। दूसरे, इस ईश्वर-परायणता से बिल्कुल छूट पाने का जो कोरा बौद्धिक वातावरण पश्चिम मे बन गया था, वह यहाँ अभी नही बन सका था। तीसरे, गांधीजी का राजनीति मे प्रवेश और भारतीय जन-मन पर उनका छा जाना था। गांधीजी ने जहाँ एक ओर धर्म के मिथ्याडम्बर—अस्पृश्यता, ऊँच-नीच की भावना—का विरोध किया, वही धर्म के बुनियादी तत्वों को समझने की प्रेरणा भी दी। इस प्रकार भारतवर्ष बाह्याचरण के स्तर पर तो निषेधात्मकता और वर्जनामूलकता से मुक्त होता गया, पर आन्तरिक स्तर पर ईश्वर-परायण या किसी जगन्नियामिका अदृश्य शक्ति मे विश्वास करने वाला भी बना रहा। तात्पर्य यह कि भारतीय मन धर्म और ईश्वर से पूर्णतः विमुख कभी नही हुआ और इसीलिए धुरीहीन भी नही।

वस्तुतः भारतीय मन का संकट एक और ही प्रकार का सकट था। वह था वरण का संकट, चुनाव का संकट। नवीनता और प्राचीनता के बीच चुनाव का संकट, आधुनिकता और प्राचीनता की टकराहट से उत्पन्न सक्रमण का सकट। और सक्रमण-कालीन परिस्थितियो से जूझते हुए, उसकी व्यथा को झेलते हुए भी भारतीय मन ने अपने हाथ से धार्मिकता और ईश्वर-परायणता का सूत्र खिसकने नही दिया है। आज भी वह उसी मनःस्थिति से जूझ रहा है और आस्था एवं विश्वास का आधार पूर्णतः हाथ से जाने नही दिया है। शायद, इसीलिए जब-तब सुनाई पड़ जाता है कि विश्व की आशाएँ अटकी हैं एशिया पर और उसमे भी भारत पर सर्वाधिक। पर इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय मन पर युद्ध की विभीषका का कोई प्रभाव है ही नही।

है, जरूर है; पर वह वैसा ही नही है जैसा पश्चिम पर है। अणुबम, उद्जनबम, राकेट एव अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो के आविष्कार से भारत कही पश्चिम से अधिक चिंतित है। वह स्पष्ट देख रहा है कि विनाश की चिनगारियाँ भीतर-ही-भीतर उद्वेलित हैं, पता नही कब बाँध तोड़कर विस्फोट कर बैठें। यही सबसे बडी चिन्ता है भारतीय मन की, इसीलिए विश्व के सभी राष्ट्रो से अधिक प्रयत्नशील है वह शान्ति-स्थापना के लिए, मानवता को सर्वनाश से बचाने के लिए।

इस प्रकार सन् १६३५ से लेकर आज तक भारतीय मन की स्थिति रही है, और रहे है उसके नियामक तत्व। इन्ही नियामक तत्वों से परिचालित होकर वह समय-समय पर व्यवहार-आचरण करता रहा है; साहित्यिक-कलात्मक सर्जनाएँ करता रहा है; विश्व-शान्ति के प्रयास करता रहा है, सत्रास, अवसाद, निराशा, घुटन आदि मे पडकर भी उबरता रहा है और जीने का प्रयास करता है।

४. प्रभाव

(क) मार्क्सवादी दर्शन और चिन्तन

अक्तूबर, सन् १६१७ ई० की रूसी जनक्रान्ति और फिर वहाँ पर स्थापित समाजवादी व्यवस्था ने यह सिद्ध कर दिया कि मार्क्सवाद मात्र बौद्धिक दर्शन नही, व्यावहारिक दर्शन भी है। व्यवहार में क्रियान्वित हो जाने के बाद इस जीवन-दर्शन का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विचारको और चिन्तको द्वारा स्वागत हुआ। रूसी क्रांति से प्रभावित होकर भारत मे समाजवादी विचारो का अध्ययन सन् १६२५-३० ई० के आसपास प्रारभ हुआ, किन्तु चिन्तन पर उसका प्रभाव आठ-दस वर्षों के पश्चात् ही पड़ा। इसी समय भारत मे सन् १६३६ ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। फलतः भारतीय साहित्य में समाजवादी विचारो के प्रचार के लिए एक सगठन का सहयोग भी मिल गया। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में कतिपय ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने अपनी सर्जना की आधार-भूमि मार्क्सवादी विचार-दर्शन को बनाया। इन उपन्यासकारो मे यशपाल का नाम शीर्षस्थ है।

मार्क्सवाद का मूलाधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। यह विचार-दर्शन प्रत्येक वस्तु में द्वन्द्वात्मक स्थिति स्वीकार करता है। अर्थात्, परस्पर विरोधी दो तत्वो या शक्तियों के बीच निरन्तर सघर्ष चलता रहता है जिससे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया सदा विकासमूलक होती है और इस प्रकार एक उन्नयन की भूमिका बनती रहती है।

मार्क्स के अनुसार भौतिक जगत् ही सत्य है। मनुष्य की चेतना और बुद्धि भौतिक जगत् से प्रभावित होती है। जैसा ऊपर कहा गया है, भौतिक जगत् प्रतिपल परिवर्तित होता रहता है, इसलिए मनुष्य की चेतना भी बदलती रहती है। जीवन-मूल्यों की शाश्वतता की बात भी, इसीलिए, अर्थहीन है। शाश्वत कुछ भी नही है, और अगर कुछ है तो द्वन्द्वात्मक शक्तियो के सघर्ष से उपजा हुआ मात्र परिवर्तन। परिवर्तन ही जीवन का शाश्वत सत्य है। इसके अलावा और कुछ नही।

इतिहास का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने समाज के विकास-क्रम के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत निष्पत्तियाँ प्रस्तुत की है। उसका कहना है कि आदिकाल से लेकर आज तक का सामाजिक विकास इसी द्वन्द्वात्मक भूमिका पर आधारित है। समाज मे हमेशा दो वर्ग रहे हैं—(१) शोषक, और (२) शोषित। शोषक वर्ग के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध शोषित वर्ग सदा सघर्ष करता है और शोषक वर्ग उतनी ही निर्ममता के साथ इसका दमन भी करता है। बदलते हुए सदर्भों मे शोषक वर्ग प्राचीन पड जाता है और अनिवार्य रूप से विकासशील शक्ति को आगे बढने से रोकना चाहता है; दूसरे शब्दो में प्रतिगामिता का परिचय देता है। परन्तु अपनी जीर्णता, पुरातनता, ह्रासशीलता और मरणोन्मुखता के कारण वह सघर्षरत, आगे बढती हुई प्रगतिशील शक्तियो से अन्ततः पराजित होकर उसके लिए स्थान खाली कर देता है। मार्क्स ने इसी को वर्ग-संघर्ष का नाम दिया है। वर्ग-सघर्ष जब अत्यन्त तीव्र हो उठता है तो समाज मे आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है। इसी को क्रांति कहते हैं। क्राति का मूल लक्ष्य होता है पतनोन्मुख, रुग्ण, प्रतिगामी शक्तियों के हाथ से स्वस्थ, प्रगतिशील शक्तियो के हाथ मे सत्ता का सक्रमण। इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार क्राति विध्वंसात्मक न होकर निर्माणात्मक होती है।

मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य-सर्जना करने वाला कलाकार उक्त बातो को हमेशा ध्यान मे रखता है, इसीलिए वर्ग-सघर्ष का चित्रण उसकी रचना मे अनिवार्य रूप से प्रमुख स्थान पाता है। शोषणमूलक पूंजीवादी व्यवस्था के अत्याचारो और विसंगतियों का यथार्थवादी चित्रण करते हुए समाजवादी रचनाकार उस गहराई तक अपनी दृष्टि ले जाता है, जहाँ पर प्रगतिशील शक्तियों का संघर्ष प्रतिगामी शक्तियो के साथ चलता रहता है। संघर्ष की उस भूमि को देखता और दिखाता हुआ समाजवादी कलाकार शोषित और सर्वहारा वर्ग के पात्रों का निर्माण इस ढग से करता है कि पूंजीवादी व्यवस्था के तमाम उत्पीडनो और दुःख-दर्दों को झेलते हुए तथा टूटते और मिटते हुए भी वे प्रगति की ओर अग्रसर होते रहते हैं। जीवन के अनेकानेक दुःखद संघर्षों से गुजरते हुए भी वे निराशा को पास फटकने नही देते, जीवन से विमुख नही होते और

इस प्रकार जीवन में उनकी गहन आस्था प्रकट होती है। उनकी यह आस्था भविष्यत् की उस दिशा की ओर संकेत करती है जो सभी प्रकार के शोषणों से मुक्त होती है। समाजवादी रचनाकार इसी रचना-कौशल का आश्रय लेता है।

यशपाल मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में विश्वास रखने वाले कलाकार हैं। यशपाल का साहित्यकार 'कम्युनिज्म' की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा का अनुमोदन करता है। उन्होंने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है—"मैं सर्वसाधारण जनता को शोषित और अन्याय-पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय 'कम्युनिज्म' की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ।"[1] इस प्रकार यशपाल का लक्ष्य पीड़ित और दलित मानवता के उद्धार के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। उनके उपन्यास 'डायलेक्टिक्स', वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा-वर्ग की क्रांति की आधार-भूमि पर खड़े हैं। यशपाल के उपन्यासों में पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज-व्यवस्था की परम्परागत नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह का भाव है। उन्होंने युग-जीवन और उसके संघर्षों को इस प्रकार चित्रित किया है कि उनके प्रत्येक उपन्यास में प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील पात्रों के बीच संघर्ष दिखाई देता है। यशपाल ने मनुष्य के भौतिक परिवेश अर्थात् आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों को ही विचार-परिवर्तन एवं जीवन-मूल्यों में परिवर्तन का महत्वपूर्ण कारण माना है और साहित्य, कला, संस्कृति, धर्म, न्याय, नीति आदि को उस पर आश्रित बताया है।

मार्क्सवादी होने के नाते यशपाल साहित्य को सोद्देश्य मानते हैं और कला की सामाजिक उपयोगिता पर बल देते हैं। उनके मतानुसार कोई भी कलाकार सामाजिक यथार्थ से पलायन कर कल्पना-लोक की उडानों के बल पर जीवित नहीं रह सकता। वस्तुतः वे कला को साधन मानते हैं—विचारों के प्रचार का साधन। सच्चे मार्क्सवादी की तरह यशपाल सौन्दर्य का नया मानदण्ड स्वीकार करते हैं। उन्हें वर्तमान जन-जीवन में—समाज के कुरूप और अनगढ़ वर्ग में ही—सौन्दर्य दिखाई देता है। यही कारण है कि उनके साहित्य में निम्न-मध्यवर्ग को गौरवपूर्ण स्थान मिला है। निष्कर्ष यह कि यशपाल की दृष्टि मार्क्सवादी है और उनके साहित्य का विषय सामाजिक यथार्थ।

(ख) कतिपय सम्पर्क-सूत्र

प्रत्येक सम्वेदनशील हृदय पर उसके आभ्यन्तर से मेल खाती हुए पूर्ववर्ती तथा समकालीन चिन्तनधाराओं एवं जीवन-दृष्टियों का प्रभाव पडता है। वैज्ञानिक युग प्रारम्भ होने से पूर्व यह प्रभाव-क्षेत्र देश-विशेष तक ही सीमित था, पर विज्ञान के

---

१. यशपाल : देखा, सोचा और समझा, पृ० १०८

सार्वभौम प्रसार ने उक्त प्रभाव को विश्वव्यापी बना दिया। अब एक देश दूसरे देश के चिन्तनों एव हलचलों से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। फ्रायड, कार्ल मार्क्स, गांधी, कामू, सार्त्र आदि के चिन्तनो का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार इस तथ्य की पुष्टि करता है। यशपाल का जन्म वैज्ञानिक युग के उन्नति काल मे हुआ है, इसलिए उन पर भी देशी-विदेशी चिन्तनधाराओ एव जीवन-दृष्टियो का प्रभाव पडा है।

यशपाल के बाल्यकाल मे पंजाब, जहाँ के वे मूल निवासी है, आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलनो का प्रमुख कार्य-स्थल था, उनकी माँ स्वयं आर्यसमाजी क्रिया-कलापो मे सहानुभूति रखती थी। माँ के आर्यसमाजी विश्वासो का प्रभाव बालक यशपाल के हृदय पर पड़ना स्वाभाविक था। आर्यसमाज प्राचीन दाकियानूसी एवं अतिशय बाह्याडम्बरपूर्ण हिन्दू धर्म के विरुद्ध शुद्धिमूलक एक क्रातिकारी आन्दोलन था। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' का यशपाल ने गम्भीर अध्ययन किया, जिसकी 'दृष्टान्त और प्रश्नोत्तरी शैली' का उनके लेखन पर पडा प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सभवतः यशपाल के हृदय मे क्रांति का प्रथम बीज-वपन यही हुआ।[1]

अध्ययन के लिए जब यशपाल फीरोजपुर छावनी पहुँचे, तब तक ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन के विरुद्ध काग्रेसी आन्दोलन गांधीजी के नेतृत्व मे उग्र रूप धारण कर चुका था। १६२१ ई० के महात्मा गांधी के 'असहयोग आन्दोलन' का यशपाल पर गहरा प्रभाव पडा। वहाँ उन्होने विदेशी कपड़ो की होली जलायी। जब यशपाल को फीरोजपुर शहर में जिला कांग्रेस कमेटी के कार्यालय मे अवैतनिक रूप में कांग्रेसी कार्यक्रमो में सक्रिय भाग लेने का सुयोग मिला, तो उन्होने वहाँ अनेक राजनीतिक पुस्तके पढ़ी। दफ्तर मे कांग्रेस-कार्य के सचालक श्री नन्दगोपालजी से प्रेरित होकर यशपाल ने तिलक, गोखले, पं० मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी आदि के राजनीतिक लेखों और व्याख्यानो तथा स्वामी विवेकानन्द और अरविंद के तत्वचिन्तन के ग्रंथो का अध्ययन किया। इससे उन्हें अपने राष्ट्र की बौद्धिक गरिमा का विश्वास हो गया। इन सभी चिन्तको एव विचारको ने यशपाल को कमोवेश प्रभावित किया है।

गांधीजी के आन्दोलन स्थगित कर देने से यशपाल अत्यन्त क्षुब्ध और तिलमिलाये हुए थे। विक्षोभ की इस मनःस्थिति को लेकर वे लाहौर के नेशनल कालेज के वातावरण मे प्रविष्ट हुए। वहाँ के वातावरण ने उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों को और भी

---

१. श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रथः लेख—'यशपाल के निवन्धो मे व्यंग्य-छटा', पृष्ठ ११७

उकसाया। कालेज के इतिहास और राजनीति के प्राध्यापक पं० जयचन्द्र विद्यालंकार के सान्निध्य से इनकी राजनीतिक चेतना अत्यन्त प्रखर हो उठी, जिसमें और सहयोग दिया सहपाठी भगतसिंह और सुखदेव आदि के साहचर्य ने। कालेज की पढ़ाई के साथ-साथ ये लोग डैनब्रीन की 'माई फाइट फॉर आयरिश फ्रीडम', मैज़िनी और गैरिबाल्डी की जीवनियाँ, फ्रांसीसी क्राति का इतिहास, वोल्तेयर और रूसो के रूढ़ि-विरोधी क्रातिकारी विचार, रूसी क्रांतिकारियों के वृत्तान्त, वीरा फिगनर, क्रोपाटकिन आदि के अतिरिक्त भारत मे सत्याग्रह से भिन्न देश की स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयत्नों का परिचय देने वाली पुस्तके, जिनमे सान्याल दादा की 'बन्दी जीवन', 'रौलेट कमेटी की रिपोर्ट' आदि हैं, बडे शौक से पढ़ा करते थे। उक्त रचनाओ, रचनाकारों एवं क्राति-कारियो की जीवनियाँ पढ़ने का कारण यह था कि यशपाल आदि गाधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलनो की निरर्थकता को अच्छी तरह समझ चुके थे और सशस्त्र क्राति के माध्यम से शोषक, साम्राज्यवादी विदेशी सरकार से देश को शीघ्रातिशीघ्र मुक्त करा लेना चाहते थे। इस सारे अध्ययन का प्रभाव यशपाल पर पडे विना नही रहा।

यहाँ तक का प्रभाव मुख्यतः क्रातिकारी यशपाल पर पड़ा प्रभाव है, पर इसका अर्थ यह नही कि ये जानकारियाँ यशपाल के भीतर पलती हुई मात्र क्रांति की चिनगारियो को ही धधका रही थी, वस्तुतः इनसे उनका ज्ञानवर्द्धन तथा सम्वेदना-विस्तार भी हो रहा था, जिसका प्रतिफलन हम यशपाल के साहित्यिक जीवन मे देखते हैं। सन् १९३२ ई० मे यशपाल गिरफ्तार हो गये, और उन्हे चौदह वर्ष की सजा दी गई; यह अलग वात है कि सात वर्ष वाद ही सन् १९३८ में, प्रान्तो मे काग्रेस सरकारें वन जाने पर, वे मुक्त हो गये। जेल-जीवन के लम्बे समय का उपयोग यशपाल ने गम्भीर अध्ययन और मनन में किया। वही पर वस्तुतः उनके वास्तविक कलाकार-साहित्यकार का जन्म हुआ। अपनी विचारधारा से मेल खाने वाले विश्व के साहित्यकारो की कृतियों के अध्ययन हेतु यशपाल ने वँगला, फ्रेंच, रशियन और इटालियन भाषाएँ सीखी। अंग्रेजी वे पहले से ही जानते थे। इस प्रकार अंग्रेजी साहित्य के सर्जक कलाकार इब्सन, हार्डी, आस्कर वाइल्ड, गाल्सवर्दी, फ्रेंच-साहित्य के लेखक अनातोले फ्रास, वाल्टेयर, विक्टर ह्यूगो, मोपासाँ, वालज़ाक आदि को, रूसी साहित्य के कृतिकार मार्क्स, लेनिन, लियो टाल्स्टाय, तुर्गनेव, चेखोव, मायकोवस्की, गोगोल, शेद्रिन, कुपरिन, गोर्की, शोलोखोव आदि को, इटालियन साहित्य के रचनाकार ग्रीविल दुनंजियो, दाते, वुकोशियो आदि को और वंगला के महान् लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वकिमचंद्र और शरच्चन्द्र आदि को तत्तत् मूल भाषाओ मे पढा। इन लेखकों और साहित्यकारों का प्रभाव यशपाल पर किसी-न-किसी रूप में पड़ा।

प्रसिद्ध उपन्यासकार कुपरिन के उपन्यास 'यामा दि पिट' से प्रभाव ग्रहण कर यशपाल ने 'हलाल का टुकडा' नामक कहानी लिखी, जिसकी मार्मिकता स्वर्गीय राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि मे, 'यामा दि पिट' से भी अधिक है ।[1] टाल्स्टाय के 'वार एण्ड पीस' की वर्णन-शैली का प्रभाव यशपाल के 'देशद्रोही' नामक उपन्यास पर स्पष्टतः देखा जा सकता है । 'देशद्रोही' मे आये हुए वजीरिस्तान, अफगानिस्तान, रूस आदि देशो का प्राकृतिक चित्रण तथा वहाँ के निवासियो के आचार-व्यवहार और रीति-नीति का वर्णन 'वार एण्ड पीस' की ही तरह विश्वासोत्पादक है ।[2] तुर्गनेव के उपन्यास 'ओत्से-सिनी' (पिता-पुत्र) का स्पष्ट प्रभाव यशपाल की क्रातिकारी भावना पर पडा दिखाई देता है ।[3] गाल्सवर्दी की तरह यशपाल ने सामाजिक जीवन को चित्रित किया है । अनातोले फ्रांस की 'थाया' से यशपाल अत्यधिक प्रभावित रहे हैं । इस उपन्यास को उन्होने वार-वार पढ़ा है । जेल जाने से पूर्व इसे अंग्रेजी में पढा था, जेल में फ्रेंच भाषा सीखने पर उसे मूल रूप मे पढा, उसके बाद प्रेमचन्द-कृत उसका हिन्दी अनुवाद 'अहकार' भी पढा । इस उपन्यास को यशपाल ने खूब सराहा और पसन्द किया है, क्योंकि यह मूलतः पूर्वी विचारधारा की कृति है ।[4] अनातोले फ्रास का प्रभाव लेखक यशपाल की अभिव्यक्ति के ढग और विचारधारा दोनो पर देखा जा सकता है । यशपाल विक्टर ह्यूगो के कथानको के गठन के कायल हैं । ग्रीबिल टुनजियो की रोमांटिक प्रवृत्ति ने भी इन्हे प्रभावित किया है । दांते की 'डिवाइन कामेडी', बुकेशियो और मोपासाँ की कहानियाँ भी इन्हे प्रिय रही हैं ।

यशपाल की व्यग्यात्मक शैली पर रूसी साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । मार्क्स, लेनिन, चेखोव, टाल्स्टाय और तुर्गनेव की प्रगतिशील तर्क-शैली के वहुत से उपकरण यशपाल के साहित्य मे मिलते हैं । गोगोल, शेद्रिन, चेखोव, मायाको-वस्की आदि रूसी साहित्यकारो की तरह यशपाल समाजवादी चेतना को जगाने मे प्रयत्नशील हैं ।

---

१. श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थः लेख—'जीवन और व्यक्तित्व'; प्रकाशवती पाल, पृष्ठ ११

२. श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ लेख—'मै इनसे मिला'; पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', पृ० ३०

३. यशपाल : दादा कामरेड, 'दो शब्द' से, पृ० ७

४. श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थः लेख—'मैं इनसे मिला' ; पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', पृ० ३० ·

हिन्दी लेखकों में प्रेमचन्द, उग्र, अज्ञेय, नागार्जुन, रांगेय राघव आदि यशपाल को अच्छे लगे हैं। प्रेमचन्द को सप्रयोजन लिखने की प्रवृत्ति और कथा-कौशल का यशपाल के मन में बहुत आदर है, अतएव इसका प्रभाव भी उनके ऊपर हो सकता है। प्रेमचन्द की परम्परा निबाहने का उत्तरदायित्व यद्यपि यशपाल ने अपने ऊपर नहीं लिया है और उनकी सप्रयोजन रचना-वृत्ति का भी अनुकरण उन्होंने सचेत रूप मे नही किया है, फिर भी दोनों की रचनाओं में सादृश्य स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में यशपाल का कथन स्वयमेव द्रष्टव्य है—"हो सकता है, उनकी (प्रेमचन्द) सशक्त शैली ने अचेतन रूप मे मुझे प्रभावित किया हो। परन्तु उनके और मेरे आदर्शों में भेद स्पष्ट है। मेरे विचार मे वह पाठक की सहृदयता को छूना चाहते हैं और मैं न्याय-बुद्धि को।"[१] दूसरी तरफ उग्रजी के सम्पादन में प्रकाशित 'मतवाला' को विद्यार्थी-जीवन में ही पढ़कर यशपाल का कलाकार उग्रजी की तरह लिखने के सपने सँजोने लगा था। कालान्तर मे ये सपने निरर्थक भी नही गये। यशपाल के साहित्यकार ने अपने कथन मे वही चुटीलापन, चुभनशीलता और वेधकता उत्पन्न कर ली, जो उग्रजी में थी। यशपाल को इस बात का एहसास है कि उनकी तीखी-कडवी बातें श्रोता-पाठक को मर्माहत कर देती है, जिसका आंशिक उत्तरदायित्व वे उग्रजी पर ही डालते हैं। 'मैं कभी-कभी कुछ कड़ी बाते लिख जाता हूँ। मेरी ऐसी प्रवृत्ति का कुछ उत्तरदायित्व उग्रजी को अपनाना चाहिए।"[२]

स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के जो रूप यशपाल के उपन्यासों में दृग्गोचर होते हैं, लगता है फ्रायड का काम-सिद्धान्त कही-न-कही लेखक के मन में कार्यरत है। वस्तुतः मार्क्स और फ्रायड दो ऐसे विचारक है, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व की चिन्तनधारा को किसी-न-किसी रूप मे प्रभावित किया है। मार्क्स का चिन्तन जीवन के मात्र सामाजिक रूप का विश्लेषण करने के कारण उसके केवल बाह्य—भौतिक—पक्ष से ही सम्बद्ध होकर रह जाता है और फ्रायड सिर्फ मन का विश्लेषण करने के कारण अन्तश्चेतना तक ही सीमित रह गया है। पर जीवन न सिर्फ बाहर है और न केवल भीतर ही, वह तो—अन्तर्बाह्य दोनों का अद्भुत समन्वित रूप है। इसलिए दोनो पहलुओं का एक साथ ही विश्लेषण जीवन का समग्र विश्लेषण होगा। इसके बिना जीवन के एकांगी चित्रण के दोष से कोई भी लेखक मुक्त नही हो सकता। यशपाल ने इस वास्तविकता को भली भाँति पहचाना। इसीलिए एक ओर वे जहाँ मार्क्सवादी दृष्टि से जीवन के बाह्य—सामाजिक—रूप का चित्रण करते हैं, वही दूसरी ओर फ्रायड का सहारा लेकर व्यक्ति

१. 'माध्यम', नवम्बर, १६६८; मथुरेश, 'यशपाल : कुछ पत्र' पृ० ३५

२. यशपाल : सिंहावलोकन, भाग २, पृ० १८४

की आन्तरिक दुनिया—मानस—का भी विश्लेषण करते हैं। बाह्याभ्यन्तर दोनो का समन्वित विश्लेषण करना ही वास्तविक जीवन—यथार्थ—का विश्लेषण करना है। जीवन का समग्रता मे विश्लेषण कर पाने की यशपाल की सफलता का यही मर्म है। शैल, चंदा, सोमा, विनी, डॉ० खन्ना, हरीश, फेटम आदि पात्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यशपाल के कलाकार के निर्माण में मार्क्स और फ्रायड का योगदान निर्भ्रान्ति रूप में पर्याप्त है, परन्तु उनके वैयक्तिक संस्कार भी इस दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

(ग) सम-सामयिक जीवन

मार्क्सवादी कलाकार के लिए सामयिक जीवन का गहन बोध एक अनिवार्यता है। मार्क्सवादी लेखक इसीलिए प्रगतिशील साहित्यकार कहलाता है क्योंकि वह युग-जीवन को व्यापक सामाजिक सदर्भ मे ग्रहण कर उसे अपनी रचनाओ मे मूर्त करता है। प्रगतिशील कथाकार सम-सामयिक जीवन को न केवल एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में देखता है, वरन् उसे बदलने का प्रयास करते हुए भावी दिशा का निर्देश भी करता है। सम-सामयिक जीवन पर प्रभाव डालने वाली समस्त घटनाएँ और स्थितियाँ इनकी सजग दृष्टि से छूट नही पाती। इस वर्ग के लेखक अतीतकालीन सामन्ती व्यवस्था का, वर्तमान पूंजीवादी शोषण का तथा इनसे सघर्ष करने वाले विशाल शोपित जन-समुदाय का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते है। इन कथाकारो की कृतियो मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से जूझने वाली साहसी भारतीय जनता, युग और समाज की विषमताओ की चक्की मे पिसता हुआ निम्न-मध्य वर्ग, पूंजीवादी और सामन्तवादी शक्तियो से संघर्ष करता हुआ श्रमिक और किसान, सामन्तों और पूंजीपतियो की भोगपरक मनोवृत्ति से त्रस्त भारतीय नारी, जाति-व्यवस्था का अभिशाप ढोने वाले और उसे समूल उखाड़ फेकने के लिए कटिबद्ध अछूत आदि अपने दु:ख-दैन्य के साथ भविष्यत् के प्रति आशापूर्ण कामना लिये हुए प्रकट हुए हैं। आधुनिक साहित्य मे—विशेषकर औपन्यासिक कृतियो में—आर्थिक विषमता और तज्जन्य वर्गीय सघर्ष के मर्मस्पर्शी चित्र अकित हुए हैं। आज के युग का यह सबसे बड़ा सत्य है कि आर्थिक संकट पूरी भीषणता के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। देश का जन-सामान्य इससे बुरी तरह घुट रहा है। घुटनजन्य इस दुरवस्था और मनोव्यथा को आज के उपन्यासकारो ने जितनी जीवंतता और यथा-तथ्यता से मूर्त किया है, वह साहित्य की किसी भी अन्य विधा में दुर्लभ है। यथार्थ-अकन के अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण उपन्यास आज के युग का सच्चा प्रतिनिधि बन गया है।

यशपाल का पहला उपन्यास 'दादा कामरेड' सन् १६४१ मे प्रकाशित हुआ; किन्तु सन् १६३० से लेकर १६६० ई० तक के बीच देश मे घटित लगभग सभी प्रमुख राजनीतिक घटनाएँ उनके उपन्यासों में कथानक की पृष्ठभूमि बनकर आई है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन, द्वितीय महायुद्ध, अगस्त सन् १६४२ ई० की जनक्रांति, नौसैनिक विद्रोह, आजाद हिन्द फौज, श्रमिकों की ऐतिहासिक हड़ताले, जन-सामान्य के नेतृत्व को प्राप्त करने के लिए विह्वल काग्रेसी, समाजवादी और साम्यवादी कार्यकर्ताओ की परस्पर स्पर्धा, कृषक-वर्ग का जाग्रत अभियान, देश की राजनीति मे मुस्लिम लीग का अराष्ट्रीय रोल, भारत का बँटवारा, पूँजीपति वर्ग का भोग-विलासमय कुत्सित जीवन—इन सारी-की-सारी घटनाओ को यशपाल ने अपने उपन्यासो के कथानको मे उरेहा है।

'दादा कामरेड' मे यशपाल ने देश की आजादी के लिए आतंकवादी क्रातिकारी दल की ऐतिहासिक भूमिका का उल्लेख करते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि बदली हुई परिस्थितियो मे क्रांतिकारी आन्दोलन की आवश्यकता न रही, इसीलिए इसका साम्यवादी दल मे विलय हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उपयुक्त अवसर देखकर सन् १६४२ ई० मे कांग्रेस ने अंग्रेजो के विरुद्ध 'भारत छोडो' प्रस्ताव पारित किया। चूँकि महायुद्ध मे साम्राज्यवादी ब्रिटेन और पूँजीवादी अमेरिका फासिस्ट शक्तियो के विरुद्ध समाजवादी देश रूस की सहायता कर रहे थे, इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी फासिस्ट देशो के विरोध के नाम पर अंग्रेजो का साथ दिया। काग्रेस अंग्रेजों का विरोध कर रही थी और कम्युनिस्ट पार्टी समर्थन, इसलिए काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की परस्पर टकराहट अवश्यभावी थी। कम्युनिस्टो ने देश की जनता को भी 'भारत छोडो' आन्दोलन मे सम्मिलित न होने का परामर्श दिया। 'देशद्रोही' उपन्यास मे लेखक ने कम्युनिस्ट पार्टी की तत्कालीन नीतियों और कार्यों के स्पष्टीकरण का प्रयास किया है।

'पार्टी कामरेड' में यशपाल ने १६४६ ई० के 'आम-चुनाव' और बम्बई के 'नाविक-विद्रोह' को पृष्ठभूमि के रूप मे स्वीकार किया है। 'नाविक-विद्रोह' को जनता का समर्थन प्राप्त था, परन्तु कांग्रेस उसका विरोध कर रही थी। कम्युनिस्ट पार्टी 'विद्रोह' के पक्ष मे थी। 'पार्टी कामरेड' मे लेखक ने काग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियो और कार्य-पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अपनी सहानुभूति कम्युनिस्ट पार्टी को दी है।

'मनुष्य के रूप' उपन्यास मे प्रसगवश काग्रेस आन्दोलन के चित्रण, बर्मा के मोर्चे पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध 'आजाद हिन्द फौज' की लड़ाई आदि राजनैतिक घटनाओ को स्थान मिला है।

विश्व राजनीति मे बीसवी सदी के छठे दशक मे दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी। सन् १९५२ ई० में वियना में 'विश्व शाति कांग्रेस' की बैठक हुई और सन् १९५५ ई० मे जकार्ता मे 'बाडुग सम्मेलन' सम्पन्न हुआ। दोनो का मूल उद्देश्य एक ही था। विश्व की दो महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध छिडा हुआ था और तृतीय विश्वयुद्ध की सभावना प्रबलतर होती जा रही थी। अतएव राजनीतिज्ञो के सामने सबसे प्रमुख समस्या शांति-स्थापना की थी। 'विश्व शांति काग्रेस' मे यशपाल ने स्वयं भाग लिया था और 'बाडुग सम्मेलन' मे सम्मिलित होने वाले तीस एशियाई-अफ्रीकी देशो ने एक-एक करके पचशील के सिद्धान्तो को मान्यता प्रदान की थी। 'अमिता' उपन्यास के कथा-सयोजन पर इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की पूर्ण छाप दिखाई देती है। उपन्यास का मूल स्वर युद्ध की सभावना को रोककर शांति स्थापित करना है।

'झूठा-सच' में पन्द्रह वर्षो—लगभग १९४३ ई० से लेकर १९५८ ई० तक का भारत अपनी समग्रता मे साकार हो उठा है। विभाजन के पहले से लेकर बाद तक के देश के यथार्थ जीवन को यह औपन्यासिक कृति व्यापक फलक पर मूर्त करती है। "विभाजन के पूर्व की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियाँ, साम्प्रदायिक दंगों के मार्मिक चित्र, स्वतन्त्रता के तथाकथित उल्लासमय वातावरण के बीच आदर्शों का भयानक विघटन, नैतिक मान्यताओं का स्खलन, राजनीतिक दाँव-पेच, समाज-सुधारको के हथकण्डे, नंगी नारियों के जुलूस, मानवीय शक्तियो को दबाने के लिए विह्वल पाशविकता के क्रूर पजे, मेहनतकश जनता का आत्म-बलिदान, अपनी जन्मभूमि को छोडकर एक अनिश्चित भविष्य की ओर लाखो नर-नारियो का सामूहिक प्रयाण—सब कुछ इस उपन्यास मे एक समर्थ यथार्थवादी कलाकार की सधी तूलिका से अकित हुआ है।"[1] इस प्रकार ऐतिहासिक, पौराणिक उपन्यासों को छोडकर उनके द्वारा रचे गये राजनीतिक, सामाजिक उपन्यासो के बल पर यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि यशपाल सम-सामयिक जीवन के कलाकार हैं और उनमें युग-बोध प्रबल है।

—:o:—

---

१. डॉ० शिवकुमार मिश्र : प्रगतिवाद, पृ० ७६

अध्याय चार :: कथा

मार्क्सवादी कथा

मार्क्सवादी कथा-संयोजन के कुछ अपने वैशिष्ट्य होते है। जनवादी होने के कारण मार्क्सवादी कलाकार कथा का निवन्धन करते समय अपनी दृष्टि सामाजिक समस्या के उस पहलू पर सतत बनाये रहता है, जहाँ शोषण का चक्र समाज के एक वर्ग को नारकीय यातना झेलने के लिए, अमानवीय जीवन जीने के लिए विवश किये रहता है। यही कारण है कि मार्क्सवादी कथा मे एक ओर शोषित वर्ग होगा तो दूसरी ओर वह वर्ग, जो शोषण को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। उसका यह अधिकार उसके हाथ से निकल न जाये, इसके लिए वह अनेक प्रकार के पाखण्डो का सहारा लेता है। ईश्वर और धर्म शोषको के प्रपचों के सबसे शक्तिशाली हथियार होते हैं। शोषितो को आन्दोलन और क्रांति से रोकने के लिए उनका तर्क होता है, 'यह तो ईश्वरीय विधान है। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है। हमने पूर्वजन्म मे सत्कर्म किये थे, जिसके पुरस्कार-स्वरूप हमें यह सुख-सुविधासम्पन्न जीवन मिला है। जो कोई भी सत्कर्म करेगा, उसके लोक-परलोक दोनों बनेंगे।' नमकहलाली, स्वामिभक्ति, सेवा, त्याग आदि को वे सत्कर्म बताते है और इस प्रकार शोषितों की असतोषजन्य मानसिक ज्वाला को छीटे मारकर शांत कर देते हैं या करने का षड्यंत्र रचते है। इसी क्रम में वे स्वतः सेवा, त्याग आदि का तथाकथित उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ब्राह्मण-पूजा, दान-दक्षिणा, भगवद्-भजन, सत्यनारायण की कथा, निःशुल्क औषधालय तथा पाठशालाएँ खोलने का ढोग करने लगते है। परिणामतः अशिक्षित जनता उनके इस चक्रव्यूह में फँस जाती है। ये वस्तुतः मार्क्सवादी कथा की कथा-रूढ़ियाँ हैं।

यशपाल मार्क्सवादी कलाकार है, इसलिए उनके भी उपन्यास-साहित्य का कथा-सयोजन इसी भाँति हुआ है। यशपाल मे उक्त सभी कथा-रूढ़ियाँ विद्यमान है।

(क) कथा-प्रयोजन

यशपाल उपन्यास-रचना को कला-सर्जना मानते है, पर कला को कला के लिए न मानकर, वे उसे जीवन को सुन्दर बनाने और सामर्थ्य प्रदान करने वाला साधन मानते हैं। उनका मत है कि कला का प्रयोग जीवन में किसी-न-किसी प्रयोजन से होता है। मार्क्सवादी दर्शन की प्रतिवद्धता के कारण यशपाल समाज में चलने वाले शोषण

के सबसे बड़े शत्रु है—वह शोषण चाहे पूँजीपतियो द्वारा सर्वहारा वर्ग का हो या पुरुष द्वारा नारी का। कोई भी मार्क्सवादी कलाकार समता-मूलक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता है, जिसके लिए शोषणमूलक समाज-व्यवस्था का निर्मूलन आवश्यक होता है। यशपाल मार्क्सवादी कलाकार हैं, इसलिए उनके साहित्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन है — समाज से शोषण का अन्त। उनके सभी उपन्यासों का प्रयोजन यही है। पर शोषण का अन्त, यशपाल के अनुसार, तब तक पूर्णतः संभव नही, जब तक समाज की जीवन-दृष्टि वैज्ञानिक चिंतन की पीठिका पर आधारित न हो जाये। शोषक-वर्ग अपना शोषण-क्रम वनाये रखने के लिए परम्परागत नैतिकता और न्याय, कर्मकाण्ड और धर्म तथा ईश्वर आदि का सहारा लेकर समाज को दिग्भ्रांत करने का हर सभव प्रयास करता है। ये शोषक-वर्ग के सबसे बडे शोषण-अस्त्र हैं। इन सहारक अस्त्रो का मुलम्मा उतार फेकने और उन्हे शोषको का हथकडा सिद्ध करने के लिए यशपाल साहित्य-सर्जना करते है। इस प्रकार वे समाज की वास्तविकता, उसकी कुरूपता, विसगतियो और अन्तर्विरोधो का चित्रण करते है। पर इन चित्रणो का प्रयोजन होता है समाज को उसका कुत्सित, नगा चित्र दिखाना ही, जिससे वह अपना वास्तविक धिनौना रूप पहचान कर उससे मुक्ति पाने का प्रयास करे। पर कभी-कभी उन्हे लगता है कि हमारा समाज अपनी निद्रागत जडता के कारण इन बातो को सुन सकने की शक्ति खो बैठा है। ऐसी स्थिति मे वे झल्ला कर पूरी निर्ममता से उस पर व्यग्यात्मक प्रहार करते है। यशपाल के साहित्य मे ऐसे ही प्रसंगो को देखकर स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव ने 'न्याय का सघर्ष' की भूमिका मे लिखा है – "लेखक (यशपाल) ने आत्मविस्मृत समाज को अपनी कलम की नोक से गुदगुदा कर जगाने की चेष्टा की है और समाज को करवट वदलते न देखकर कई जगह उसने कलम की नोक समाज के शरीर में गडा दी है।" मार्क्सवाद सामाजिक समता मे सौदर्य देखता है। मार्क्सवादी आग्रह के कारण यशपाल के साहित्य का मुख्य प्रयोजन सामाजिक समता की स्थापना है, जिसके लिए वे वर्तमान सामाजिक वैषम्य और शोषण का अत अनिवार्यतः अपेक्षित मानते है।

(ख) कथाओं के प्रेरणा-स्रोत

प्रत्येक लेखन का कोई-न-कोई प्रेरणा-स्रोत होता है। यशपाल का मुख्य-प्रेरणा-स्रोत वह समाज है जो मान्यताओं के स्तर पर प्राचीनता से चिपका हुआ है किन्तु परिवर्तित भौतिक-आर्थिक परिस्थितियो मे वदला हुआ जीवन जी रहा है। समाज की यह अन्तर्विरोधात्मक स्थिति है, जिसमे अनेक प्रकार की विसंगतियाँ, छद्म, प्रवचनाएँ और मिथ्याडम्बर समाये हुए है। मार्क्सवादी होने के कारण यशपाल जीवन

को उस रूप मे स्वीकारते है, जिस पर कृत्रिमता का मुलम्मा न हो, किसी भी प्रकार का आरोपण न हो, विसगतियो का लदाव न हो, सडी-गली रूढ़ियों का बंधन न हो, निर्जीव परम्परावाद का कसाव न हो तथा अधविश्वासों और दकियानूसीपन का घातक षड्यंत्र न हो। पर स्थिति यह है कि आज के जीवन मे ये सारी अस्वस्थ और हानिकर प्रवृत्तियाँ प्रतिपद दृष्टिगोचर होती हैं। समाजवादी यशपाल यह सब देखकर तिलमिला उठते है। यशपाल ने स्वत: लिखा है – "मैं अनुभव करता हूँ कि अमुक प्रश्न उठाया जाना चाहिए, या अमुक समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए या मेरे विचार में यह उत्तर होना चाहिए और मैं अपने साथियों, अपने समाज को वह बात सुनाने या सुझाने की आवश्यकता अनुभव कर लिखना जरूरी समझता हूँ। ऐसे प्रश्न, समस्याएँ और बाते मुझे इतनी अधिक दिखाई देती है कि लिखना मुझे सदा ही आवश्यक और स्वाभाविक जान पडता है।"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि यशपाल के लेखन का प्रेरणा-स्रोत समाज है, उसकी बहुविध समस्याएँ और प्रश्न है। मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के कारण वे सचेतनतापूर्वक सप्रयोजन लिखते है।

अपने उपन्यास-लेखन के ढंग के बारे मे एक बार प्रश्न किये जाने पर यशपाल ने उत्तर मे कहा था— "उपन्यास के लिए तो केवल 'आइडिया' आना चाहिए, पात्र मैं स्वय गढ़ लेता हूँ।"[२] स्पष्ट है कि यह 'आइडिया' या विचार यशपाल-जैसे मर्क्सवादी लेखक को भौतिक जीवन और समाज से ही मिलेगे।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी लेखक की कलाकृति पढ़कर यशपाल अनुभव करते है कि लेखक कुछ व्यक्त करना चाह रहा है, पर ठीक तरह से व्यक्त कर नही पा रहा है, इसीलिए उसी बात को ठीक से व्यक्त करने के लिए भी यशपाल लिखते है। कभी-कभी किसी लेखक की कथा के 'आइडिया' से मिलता-जुलता 'आइडिया' सूझ जाता है, तब भी वे लिखते हैं। तात्पर्य यह कि उनके लेखक का प्रेरणा-स्रोत यदाकदा दूसरे व्यक्ति का लेखन भी होता है।[३] पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के 'मैं इनसे मिला' लेख मे यह बात यशपाल ने स्वीकार की है— "लिखने की प्रेरणा के लिए मुख्य स्रोत, समाज के प्रति मेरा देय है। समाज का अग होने के नाते अपने जीवन मे या अपने आसपास मैं जो अन्तर्विरोध देख पाता हूँ, उसकी ओर विद्रूपमय लक्ष्य करने के लिए लिखता हूँ। कुछ हद

---

१. यशपाल : देखा, सोचा, समझा, पृ० ६३-६४

२. श्री यशपाल अभिनंदन ग्रथ : निवन्ध : 'मैं इनसे मिला', लेखक—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', पृ० २८

३. वही, पृ० २८

तक मेरी चित्रकारी कर सकने की अतृप्त प्रवृत्ति का भी इसमें सहयोग है। कोई मार्मिक घटना या अभिव्यक्ति देख-सुन पाता हूँ, तो उसे शब्दो मे चित्रित करने का यत्न करता हूँ।"

(ग) कथा-संदर्भ

यशपाल के सभी उपन्यास अपने-अपने समय के संदर्भों से जुडे हुए हैं। कोई राजनीतिक सदर्भ लिये हुए हैं तो कोई ऐतिहासिक। किसी मे सामाजिक सदर्भ है तो किसी मे राजनीतिक-सामाजिक दोनो।[1]

(घ) यथार्थ : सामाजिक और वैयक्तिक

यथार्थ का अर्थ है—जीवन-वास्तव। जीवन के दो रूप होते है—(१) बाह्य, और (२) आभ्यन्तर। जीवन न सिर्फ बाहर होता है और न केवल भीतर। वह 'बाहर' और 'भीतर' दोनो का एकीकरण होता है। जिस तरह 'बाहर' अर्थात् स्थूल जगत् में अच्छा-बुरा सब-कुछ देखने को मिलता है, उसी प्रकार भीतर भो न सब कुछ अच्छा होता है और न सब बुरा ही। इसलिए जीवन-वास्तव अर्थात् यथार्थ के चित्रण का अर्थ होता है वाह्याभ्यन्तर के सभी रूपो—उज्ज्वल और अधकारमय, सत्-असत्, बुरा-भला, पाप-पुण्य आदि सभी—का चित्रण। किसी भी एक के अभाव मे चित्र निश्चय ही एकांगी और अधूरा रह जायेगा। सच्चे यथार्थवादी के लिए दोनों मे से किसी की भी उपेक्षा सभव नही।

इतिहास ने अभी तक यही सिद्ध किया है कि मनुष्य, जीवन के हर क्षेत्र में, अतिवादी रहा है : या तो इस छोर पर या उस छोर पर। साहित्य के क्षेत्र मे भी उसने अतिवादिता का परिचय दिया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग के दो प्रमुख चिन्तको—मार्क्स और फ्रायड—ने जीवन को दो बिल्कुल भिन्न कोणों से देखा। मार्क्स ने जीवन को सामाजिक परिवेश में, उसके शुद्ध बाह्य रूप मे देखा और फ्रायड ने शुद्ध आभ्यन्तर रूप मे। मार्क्स ने समाज का और फ्रायड ने मानव-मन का वैज्ञानिक अध्ययन किया है। मार्क्स के चिन्तन के केंद्र में समाज विद्यमान है और फ्रायड के चिन्तन-केंद्र मे व्यक्ति। इसीलिए मार्क्स का चिन्तन समाज-दर्शन कहलाता है, जबकि फ्रायड का मानस-दर्शन या मनोविश्लेषणशास्त्र। मार्क्स के अनुसार व्यक्ति की चेतना का स्वतः मे कोई रूप नही होता, वह समाज की भौतिक-आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार रूप ग्रहण करती है। अतएव व्यक्ति अपनी समग्रता मे समाज-सापेक्ष होता है। निस्सन्देह व्यक्ति भी समाज को प्रभावित और परिवर्तित करता है, पर यह परिवर्तन करने की प्रेरणा भी व्यक्ति को बदली हुई भौतिक-

---

१. विस्तारपूर्वक इस पर आगे विचार किया गया है।

आर्थिक परिस्थितियाँ ही देती हैं। फ्रायड का कहना है कि मन—व्यक्ति का चेतन मन—जिसका समाज से सम्बन्ध होता है, व्यक्ति के जीवन मे कोई अर्थ रखता ही नही। व्यक्ति का सारा जीवन तो सचालित होता है उसके अचेतन से, जिस पर न समाज का नियन्त्रण रहता है, और न स्वयं उस व्यक्ति का ही, जिसका वह (अचेतन) मन होता है। इसलिए व्यक्ति के जीवन मे अचेतन मन की भूमिकाओं का ही सर्वाधिक महत्व है।

इन दोनों मनीषियो के चिन्तनो को आधार बनाकर हिन्दी कथा-साहित्य मे प्रेमचन्द के बाद यथार्थ की दो प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हुईं—एक, सामाजवादी यथार्थ की; और दूसरी, वैयक्तिक (मनोविश्लेषणवादी) यथार्थ की। यशपाल मार्क्सीय समाजवादी यथार्थ से प्रभावित सर्जक कलाकार हैं। मार्क्स के समाजवादी यथार्थ से कुछ मिलती-जुलती पर कुछ भिन्न भी एक और सामाजिक यथार्थ की धारा हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई, जो प्रेमचन्द के समय से ही चली आ रही है।

प्रेमचन्द से भिन्न यशपाल समाजवादी कलाकार है। उनके अनुसार वर्तमान सामाजिक जीवन की तमाम विसगतियो, अन्तर्विरोधो और समस्याओ का समाधान समाजवादी समाज की स्थापना से ही संभव है। समाजवादी कलाकार के अनुसार सामाजिक यथार्थ सिर्फ उतना ही नही है, जो समाज की सतह पर उतराई हुई समस्याओं के रूप मे दिखता है, वल्कि वह सघर्ष कही अधिक सामाजिक सत्य है जो सतह के नीचे गहराई मे क्षयशील और प्रगतिशील शक्तियो के बीच अनवरत रूप से चल रहा है। सतह पर उतराये हुए यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ सतह के नीचे गहराई मे चलने वाले द्वन्द्व या संघर्प का चित्रण करना समाजवादी कलाकार अपना प्रमुख लक्ष्य मानता है। ह्रासशील शक्तियों को अनावृत करके प्रगतिशील शक्तियो को सहानुभूति देने और उनका समर्थन करने मे समाजवादी कलाकर सर्जनात्मकता की चरितार्थता मानता है। इसके विना उसकी दृष्टि मे साहित्य-सर्जना निरर्थक है। वास्तविक यथार्थ यशपाल इसे ही मानते हैं।

(ङ) भौतिक परिस्थितियों का व्यक्ति पर दुर्निवार प्रभाव

मार्क्सवाद व्यक्ति को सामाजिक संदर्भ मे देखता है। इतिहास का विश्लेषण करके मार्क्स ने यह सिद्ध किया है कि जिस दिन से समाज की स्थापना हुई, उसी दिन से व्यक्ति के जीवन, उसके सारे व्यापारो और क्रिया-कलापों का समाज के सदर्भ में मूल्यांकन होने लगा। व्यक्ति-जीवन समाज-सापेक्ष हो गया। इसीलिए मार्क्सवाद की मान्यता है कि व्यक्ति समाज की एक इकाई है, समाज-रूपी विराट यन्त्र का एक पुर्जा है। समाज-निरपेक्ष व्यक्ति का उसकी दृष्टि मे कोई महत्व नही।

इतिहास के ही विश्लेषण के आधार पर मार्क्स ने यह भी सिद्ध किया है कि समाज की भौतिक परिस्थितियां ही व्यक्ति की चेतना का निर्माण करती हैं। समाज की भौतिक

परिस्थितियाँ जैसी होती है, व्यक्ति की चेतना, उसकी मान्यताएँ, धारणाएँ, विचार और आदर्श भी वैसे ही बनते है। समाज की भौतिक परिस्थितियाँ रूप ग्रहण करती हैं उत्पादन के साधन और वितरण के अनुसार। जब-जब उत्पादन के साधन और वितरण मे परिवर्तन आता है, तब-तब समाज की भौतिक परिस्थितियाँ अनिवार्य रूप से बदलती हैं और भौतिक परिस्थितियो मे परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति की चेतना, उसकी धारणाएँ, मान्यताएँ, जीवन-दृष्टि मे भी परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिए, सामन्ती युग के व्यक्ति की जीवन-दृष्टि उस युग के उत्पादन के साधन और वितरण के अनुसार थी। पूँजीवादी युग मे, जब कि उत्पादन के साधन और वितरण के आधार बदल गये, व्यक्ति की जीवन-दृष्टि वही नही रही, जो सामन्ती युग के व्यक्ति की थी। तात्पर्य यह कि उत्पादन के साधन और वितरण की व्यवस्था समाज की भौतिक परिस्थितियो मे परिवर्तन ला देती है, और भौतिक परिस्थितियो का परिवर्तन, व्यक्ति की जीवन-दृष्टि मे परिवर्तन का कारण होता है। दूसरे शब्दों मे, समाज की भौतिक परिस्थितियो का व्यक्ति पर दुर्निवार प्रभाव पड़ता है।

मार्क्सवादी होने के कारण यशपाल की भी यही मान्यता है। अपने सभी उपन्यासो मे यशपाल ने वह बात तर्क के साथ सिद्ध की है। 'अमिता' मे चित्रित व्यक्तियों की जीवन-दृष्टि वही नही है जो 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' और 'झूठा सच' के व्यक्तियो की है। इसका कारण क्या है ? मात्र भौतिक परिस्थितियो का परिवर्तन। एक ही उपन्यास मे चित्रित ग्रामीण जनता और नगर-निवासियो के जीवन-विश्वासों में भी अन्तर दिखाई पडता है। क्यो ? इसलिए कि गाँवो और नगरो की भौतिक परिस्थितियो मे अन्तर है। इससे भी आगे बढ़कर यह देखने को मिलता है कि एक ही व्यक्ति जब गाँव मे है तो उसकी जीवन-दृष्टि कुछ है और नगर मे पहुँच जाने के बाद उसमें आमूल परिवर्तन आ जाते है। सोमा, धर्नसिंह आदि इसके उदाहरण हैं। 'झूठा सच' तो जैसे इस बात की वास्तविकता को अपने प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित किये हुए है। देश-विभाजन के पूर्व विस्थापितो की जो मान्यताएँ, धारणाएँ, आचार-विचार, नैतिक विश्वास और जीवन-मूल्य थे, वे विभाजन के बाद भी क्या बने रह सकते थे ? जब उनकी भौतिक परिस्थितियो की बुनियाद ही बदल गई, तब उनका बने रहना कैसे संभव होता ?

सब मिलाकर यह कि यशपाल की यह अटूट मान्यता है कि भौतिक परिस्थितियो का व्यक्ति पर दुर्निवार प्रभाव पडता है।

(च) अर्थ-शक्ति और सामाजिक सम्बन्ध

मार्क्स के चिन्तन और समाज-दर्शन के अनुसार सामाजिक जीवन की सबसे

इन सारे क्रांतिकारी परिवर्तनो में यशपाल के विश्वास का एकमात्र उद्देश्य है—जीवन सहज और स्वस्थ हो, किसी प्रकार के मिथ्या आरोपण और परम्परावाद के कारण वह असहज, अस्वाभाविक और अस्वस्थ न होने पाये।

(ज) प्रगतिशील शक्ति बनाम प्रतिगामी शक्ति

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ससार के प्रत्येक पदार्थ मे द्वन्द्वात्मक स्थिति स्वीकार करता है। द्वन्द्वात्मकता के परिणामस्वरूप परिवर्तन का क्रम अनवरत रूप से चलता रहता है। यही स्थिति समाज की भी है। समाज अनुक्षण परिवर्तित इसलिए होता रहता है क्योकि उसमे सदा दो शक्तियो—प्रतिगामी और प्रगतिशील—के बीच द्वन्द्व चलता रहता है। आदिकाल से लेकर आज तक के समाज का ऐतिहासिक विश्लेपण करके मार्क्स ने यह बात सिद्ध की है। इतिहास इस वात का साक्षी है कि समाज में सैकडो वार परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तन तो रोज ही होता है, इसलिए उनकी संख्या उतनी ही होगी जितने क्षण आदिकाल से लेकर आज तक गुजरे होंगे। पर यह प्रतिपल का परिवर्तन अपने स्वभाव मे परिमाणात्मक होने के कारण लक्षित नही होता। लक्षित वह तब होता है जब गुणात्मक होता है। गुणात्मक परिवर्तन—क्रांति—भी, इतिहास के साक्ष्य पर कहा जा सकता है, अनेक वार हुआ है।

मार्क्सवादी कलाकार मार्क्स के इस द्वन्द्वमूलक परिवर्तन को स्वीकार करता है। मार्क्स की तरह यशपाल भी यह स्वीकार करते हैं कि समाज में प्रतिगामी और प्रगतिशील शक्तियो के वीच सदा संघर्ष चलता रहता है। प्रतिगामी शक्तियाँ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रगतिशील शक्तियो को स्थापित नही होने देना चाहती, पर प्रगतिशील शक्तियाँ परिवर्तन के क्रम मे वदल गये समाज को नये ढंग से रूपायित करने के लिए प्रतिगामी, पुरानी, सड़ी-गली शक्तियो से टक्कर लेती रहती हैं। कभी-कभी प्रतिगामी शक्तियाँ प्रगतिशील शक्तियो को व्यर्थ भी बनाती-सी दिखाई पडती हैं, पर वस्तुतः परिवर्तन का क्रम रुकता नही। हाँ, उसकी गति मंद अवश्य पड़ जाती है। प्रकृति के सतत परिवर्तन मे विश्वास करने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी कलाकार का यह कर्तव्य होता है कि अपनी कला के माध्यम से वह समाज के सामने परिवर्तन में अवरोधक प्रतिगामी, जीर्ण एव मरणशील शक्तियो का पर्दाफाश कर प्रगतिशील, नूतन एवं जीवन्त शक्तियो को उद्घाटित करे, ताकि समाज दोनो की परख कर जीर्ण-शीर्ण तथा ह्रासशील से हटकर जीवन्त और प्रगतिशील को स्वीकार करे। यशपाल का सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ इसी एक वात का चित्र है।

(झ) घटना के वलात् मोड़

यशपाल का लेखन सोद्देश्य और सप्रयोजन होता है। अपने उपन्यासो के माध्यम

से वे अपना उद्देश्य समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। सजग कलाकार का यह बहुत बडा दायित्व होता है कि वह अपने उद्देश्यो की अभिव्यक्ति या व्यजना इस प्रकार करे, जिससे कथा की स्वाभाविकता, उसका सहज प्रवाह और विश्वसनीयता प्रतिहत न हो। यद्यपि यशपाल अपनी बात किस्सागोई शैली मे कहने मे तथा उसकी स्वाभाविकता, विश्वसनीयता और सहज प्रवाह को बनाये रखने मे अत्यन्त दक्ष और पटु है, पर कुछेक स्थल उनके उपन्यासों मे ऐसे है, जहाँ कथा की स्वाभाविकता और इसीलिए विश्वसनीयता के सम्मुख प्रश्नचिह्न लग जाते हैं और स्पष्ट हो जाता है कि कथा को बलात् मोडा गया है। उदाहरणार्थ, यशपाल के उपन्यासो से दो-एक प्रसग यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।

'देशद्रोही' मे व्यापार के सिलसिले मे सात-आठ दिनो के लिए हलद्वानी गये राजाराम तीन ही दिन मे काम समाप्त कर घर वापस चले आये। घर मे चन्दा को न पाकर उन्होने नौकर भजन से उसके विषय मे पूछा। भजन ने उत्तर दिया, "बीबी जी शायद लखनऊ गई हैं।" राजाराम लखनऊ के लिए चल पडते है और वहाँ के मेडिकल कालेज मे जाँच-पडताल करने पर जब ऐसे किसी घायल व्यक्ति के दाखिल होने का पता नही चलता, तो राजाराम के मस्तिष्क मे बिजली-सी कौध जाती है और वे रानीखेत के लिए रवाना हो जाते हैं। राजाराम के मस्तिष्क मे राज का सहसा कौध उठना पाठक की समझ मे नही आता। वह सोचने लगता है कि राजाराम कोई जादू तो नही जानते! या उन्हे कोई देवी-देवता तो इष्ट नही! वस्तुतः राजाराम द्वारा राज और रानीखेत की कल्पना कर लिया जाना, कथा को हठपूर्वक मोड़ना है। यदि राजाराम के ध्यान मे राज न कौध गई होती तो 'देशद्रोही' की कथा यही समाप्त हो जाती। और तब यशपाल अधूरे उपन्यास से वह व्यजना नही कर पाते, जो कर पाये है। कथा की व्यजना है—(१) द्वितीय महायुद्ध के समय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अपनाई गई नीति और अदा की गई भूमिका 'देशद्रोह' की नही थी। (२) पूंजीवादी समाज-व्यवस्था मे जागरूक नारी भी शोषित होने को विवश है। राजाराम यदि रानीखेत न जाते और चन्दा को पीटकर वापस लाकर घर की चहारदीवारी मे बन्द न कर देते तो, पाठक यही समझता कि चन्दा शोषण से मुक्ति पाने के लिए घर छोडकर चली गई। तब इस निष्कर्ष एव मौजूदा समाज-व्यवस्था मे नारी की वास्तविक स्थिति मे कोई मेल न बैठ पाता। दूसरे शब्दों मे, उपन्यास का निष्कर्ष समाज की वास्तविकता से अलग मात्र काल्पनिक हो जाता।

घटना के बलात् मोड का दूसरा उदाहरण 'अमिता' उपन्यास से प्रस्तुत किया जा रहा है। 'अमिता' मे युद्ध की सकट-वेला मे, जबकि महामात्य ने प्रत्येक छोटी बात की जानकारी के लिए गुप्तचरो का जाल बिछा दिया था, दासी हिता बालिका महारानी अमिता को राजप्रासाद से निकालकर शीष दुर्ग तक चली जाती है, पर अत्यन्त सजग और सतर्क महामात्य को इसकी खबर तक नही मिल पाती। साधु-वेशधारी गुप्तचर, महामात्य को

वडी नियामिका शक्ति 'अर्थ' है। अर्थ ही समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्वन्धों की वुनियाद है। आर्थिक स्थिति में परिवर्तन सामाजिक सम्वन्धो में अनिवार्य रूप से परिवर्तन लाता है। मार्क्स के अनुसार भाई-भाई का, पति-पत्नी का, वाप-वेटे का, राष्ट्र-राष्ट्र का सम्वन्ध अर्थ के ही आधार पर वनता-विगडता है। तात्पर्य यह कि सारे सामाजिक सम्वन्ध अर्थ की ही आधारशिला पर अवस्थित है।

मार्क्सवादी यशपाल की भी यही मान्यता है। उनके उपन्यासो मे सामाजिक सम्वन्धो का जो विश्लेपण दिखाई पडता है, वह इसी वात की पुष्टि करता है। सोमा, मनोरमा, प्रेस्थ, जयदेवपुरी आदि का जीवन व्यक्तिगत स्तर पर एक ओर तथा दासो-सामन्तो, मजदूरो-पूंजीपतियों आदि का जीवन सामूहिक स्तर पर दूसरी तरफ इस तथ्य को और भी स्पष्ट करते है। कागडा की निरीह सोमा का जीवन सामाजिक सम्वन्धो के स्तर पर तव वही नही रह जाता, जव वह फिल्म-जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री 'पहाडन' वन जाती है। 'पहाडन' वन जाने के वाद उसकी आर्थिक स्थिति मे क्रातिकारी परिवर्तन आ जाता है, इसीलिए उसके सामाजिक सम्वन्ध भी आमूल वदले हुए दिखाई पडते हैं। प्रेस्थ व्यापार के माध्यम से सम्पत्तिशाली न वन जाता तो क्या वह कभी मद्रदेश (गणराज्य) की मंत्रि-परिषद् का प्रमुख 'मत्रणादाता' वन पाता ? तात्पर्य यह कि 'अर्थ' ही सभी प्रकार के सामाजिक सम्वन्धो के पीछे कार्यरत दिखाई पडता है। आज भी हम सामाजिक जीवन में प्रतिपद इसी सचाई का अनुभव करते हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि मार्क्स की और इसलिए मार्क्सवादी यशपाल की भी यह मान्यता वहुत सही है।

(छ) सेक्स, प्रेम और विवाह

सेक्स जीवन की एक सहजात वृत्ति है। जैसे पेट की भूख जन्मजात है, वैसे ही सेक्स भी। पेट की भूख की तृप्ति जैसे एक अनिवार्यता है, वैसे ही सेक्स की तृप्ति भी। वहुत काल तक क्षुधा की अतृप्ति जैसे जीवन के संकट का कारण वन सकती है, उसी प्रकार सेक्स की अतृप्ति भी जीवन को सकट मे डाल सकती है। मार्क्सवाद स्वस्थ जीवन का समर्थक है, इसलिए सेक्स की पूर्ति को वह अनिवार्यतः अपेक्षित मानता है।

प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन भी सेक्स की पूर्ति आवश्यक मानता है, पर जाने-अनजाने उसने उस पर अनेक प्रकार के अकुश लगा दिये—विवाह उस अंकुश की सवसे प्रवल कड़ी है। धीरे-धीरे भारतीय मानस मे यह विश्वास घर कर गया कि विवाह के विना सेक्स-पूर्ति करना पाप है। अतएव विवाह को एक सामाजिक सस्था की स्वीकृति प्राप्त हो गई। कालान्तर मे सामाजिक स्वीकृति के विना व्यक्ति विवाह करने में भी असमर्थ हो गया। इतना ही होता तव भी स्थिति क्षम्य थी, पर इससे भी आगे वढकर समाज ने अपने हाथ मे यह अधिकार ले लिया कि वह अपनी इच्छा से किसी नारी को

किसी पुरुष के साथ सम्बद्ध करेगा और पुरुष को वह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि पुरुष-सत्ताक समाज में नारी की व्यक्तिगत इच्छा का पहले ही कोई अर्थ नहीं था, पुरुष भी समाज के निर्णयो को मानने के लिए विवश हो गया। वह निर्णय पुरुष के मनोनुकूल हो, न हो; उसे मानना ही पडेगा। न माने तो सेक्स-तृप्ति से वचित रहकर आजीवन असहज और अस्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो।

मार्क्सवादी यशपाल उक्त अस्वस्थता और अस्वाभाविकता को दूर कर जीवन को स्वास्थ्य प्रदान करना चाहते हैं। इस सेक्स-पूर्ति को वे आवश्यक मानते हैं, पर उस ढग से नही, जिस ढग से प्राचीन भारतीय जीवन-विश्वास मानता है। उनकी मान्यता के अनुसार सेक्स-तृप्ति का प्रश्न व्यक्ति की अपनी इच्छा से सुलझाया जाना चाहिए। किसी प्रकार का अकुश उस पर नही लगाया जाना चाहिए। पर इसका तात्पर्य यह नही कि यशपाल उच्छृङ्खलता और अराजकता के समर्थक है। मार्क्सवाद स्वतः उच्छृङ्खलता को अपराध मानता है। यशपाल स्वतन्त्र काम-सम्बन्धो के पक्षधर होकर भी उच्छृङ्खलता के समर्थक नही हैं। यशपाल के उपन्यासो मे यौनाचार-प्रसगो का वर्णन जिस रूप मे हुआ है, वह लेखक का मूल इष्ट नही वरन् बूर्जुआ समाज की असगतियो को दिखाने का एकमात्र साधन है।

जीव-विज्ञान के अनुसार काम एक सहजात वृत्ति है। मार्क्स का समाज-दर्शन वैज्ञानिक पीठिका पर आधारित होने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वैज्ञानिकता का समर्थक है। जीव-विज्ञान ने वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर काम को वैज्ञानिक भूमि पर अवस्थित कर उसकी तृप्ति की अनिवार्यता स्वीकार की है, इसलिए मार्क्सवाद और इसीलिए यशपाल भी काम की तृप्ति आवश्यक मानते हैं।

प्रेम व्यक्ति-विशेष के प्रति सेक्स की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रेम भी सेक्स की ही तरह जीवन की एक अनिवार्यता है (यद्यपि ठीक उसी मात्रा मे नही)। लेकिन विवाह, विशेषकर, परम्परागत विवाह, अपनी रूढियो के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व अपहरण कर लेने वाला विवाह आवश्यक नही। विवाह के बिना भी प्रेम और सेक्स-तृप्ति सभव है। परम्परागत विवाह की प्रथा पूरी किये बिना भी दो व्यक्तियो का पूरे विश्वास और निष्ठा से आजीवन एक साथ रह सकना सभव है। यशपाल इसी प्रकार के नर-नारी सम्बन्ध मे विश्वास करते हैं। वे विवाह के नही, विवाह-प्रथा के विरोधी हैं। बूर्जुआ विवाह-प्रथा को बदली हुई परिस्थितियो मे वे निर्जीव मानते हैं। निर्जीव की उपासना से जीवन के भी निर्जीव हो जाने का भय रहता है। जीवन निष्प्राण न हो जाये, इसलिए यशपाल, आज के सदर्भ मे अर्थहीन हो गई विवाह-प्रथा का विरोध करते हैं।

इन सारे क्रांतिकारी परिवर्तनो में यशपाल के विश्वास का एकमात्र उद्देश्य है—जीवन सहज और स्वस्थ हो, किसी प्रकार के मिथ्या आरोपण और परम्परावाद के कारण वह असहज, अस्वाभाविक और अस्वस्थ न होने पाये।

(ज) प्रगतिशील शक्ति बनाम प्रतिगामी शक्ति

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संसार के प्रत्येक पदार्थ में द्वन्द्वात्मक स्थिति स्वीकार करता है। द्वन्द्वात्मकता के परिणामस्वरूप परिवर्तन का क्रम अनवरत रूप से चलता रहता है। यही स्थिति समाज की भी है। समाज अनुक्षण परिवर्तित इसलिए होता रहता है क्योकि उसमे सदा दो शक्तियो—प्रतिगामी और प्रगतिशील—के बीच द्वन्द्व चलता रहता है। आदिकाल से लेकर आज तक के समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण करके मार्क्स ने यह बात सिद्ध की है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज मे सैकड़ो बार परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तन तो रोज ही होता है, इसलिए उनकी संख्या उतनी ही होगी जितने क्षण आदिकाल से लेकर आज तक गुजरे होंगे। पर यह प्रतिपल का परिवर्तन अपने स्वभाव मे परिमाणात्मक होने के कारण लक्षित नही होता। लक्षित वह तब होता है जब गुणात्मक होता है। गुणात्मक परिवर्तन—क्रांति—भी, इतिहास के साक्ष्य पर कहा जा सकता है, अनेक बार हुआ है।

मार्क्सवादी कलाकार मार्क्स के इस द्वन्द्वमूलक परिवर्तन को स्वीकार करता है। मार्क्स की तरह यशपाल भी यह स्वीकार करते हैं कि समाज मे प्रतिगामी और प्रगतिशील शक्तियो के बीच सदा संघर्ष चलता रहता है। प्रतिगामी शक्तियाँ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए प्रगतिशील शक्तियो को स्थापित नही होने देना चाहती, पर प्रगतिशील शक्तियाँ परिवर्तन के क्रम मे बदल गये समाज को नये ढग से रूपायित करने के लिए प्रतिगामी, पुरानी, सडी-गली शक्तियों से टक्कर लेती रहती हैं। कभी-कभी प्रतिगामी शक्तियाँ प्रगतिशील शक्तियो को व्यर्थ भी बनाती-सी दिखाई पडती है, पर वस्तुतः परिवर्तन का क्रम रुकता नही। हाँ, उसकी गति मद अवश्य पड़ जाती है। प्रकृति के सतत परिवर्तन मे विश्वास करने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी कलाकार का यह कर्तव्य होता है कि अपनी कला के माध्यम से वह समाज के सामने परिवर्तन मे अवरोधक प्रतिगामी, जीर्ण एव मरणशील शक्तियो का पर्दाफाश कर प्रगतिशील, नूतन एव जीवन्त शक्तियो को उद्घाटित करे, ताकि समाज दोनो की परख कर जीर्ण-शीर्ण तथा ह्रासशील से हटकर जीवन्त और प्रगतिशील को स्वीकार करे। यशपाल का सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ इसी एक बात का चित्र है।

(झ) घटना के बलात् मोड़

यशपाल का लेखन सोद्देश्य और सप्रयोजन होता है। अपने उपन्यासो के माध्यम

से वे अपना उद्देश्य समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते है। सजग कलाकार का यह बहुत बड़ा दायित्व होता है कि वह अपने उद्देश्यों की अभिव्यक्ति या व्यजना इस प्रकार करे, जिससे कथा की स्वाभाविकता, उसका सहज प्रवाह और विश्वसनीयता प्रतिहत न हो। यद्यपि यशपाल अपनी बात किस्सागोई शैली मे कहने मे तथा उसकी स्वाभाविकता, विश्वसनीयता और सहज प्रवाह को बनाये रखने मे अत्यन्त दक्ष और पटु है, पर कुछेक स्थल उनके उपन्यासो मे ऐसे हैं, जहाँ कथा की स्वाभाविकता और इसीलिए विश्वसनीयता के सम्मुख प्रश्नचिह्न लग जाते है और स्पष्ट हो जाता है कि कथा को बलात् मोडा गया है। उदाहरणार्थ, यशपाल के उपन्यासो से दो-एक प्रसग यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं।

'देशद्रोही' में व्यापार के सिलसिले मे सात-आठ दिनो के लिए हलद्वानी गये राजाराम तीन ही दिन मे काम समाप्त कर घर वापस चले आये। घर मे चन्दा को न पाकर उन्होने नौकर भजन से उसके विषय मे पूछा। भजन ने उत्तर दिया, "बीबी जी शायद लखनऊ गई है।" राजाराम लखनऊ के लिए चल पडते है और वहाँ के मेडिकल कालेज मे जाँच-पड़ताल करने पर जब ऐसे किसी घायल व्यक्ति के दाखिल होने का पता नही चलता, तो राजाराम के मस्तिष्क मे बिजली-सी कौंध जाती है और वे रानीखेत के लिए रवाना हो जाते हैं। राजाराम के मस्तिष्क मे राज का सहसा कौंध उठना पाठक की समझ मे नही आता। वह सोचने लगता है कि राजाराम कोई जादू तो नहीं जानते! या उन्हे कोई देवी-देवता तो इष्ट नही! वस्तुतः राजाराम द्वारा राज और रानीखेत की कल्पना कर लिया जाना, कथा को हठपूर्वक मोडना है। यदि राजाराम के ध्यान मे राज न कौंध गई होती तो 'देशद्रोही' की कथा वहीं समाप्त हो जाती। और तब यशपाल अधूरे उपन्यास से वह व्यजना नही कर पाते, जो कर पाये है। कथा की व्यजना है—(१) द्वितीय महायुद्ध के समय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अपनाई गई नीति और अदा की गई भूमिका 'देशद्रोह' की नही थी। (२) पूँजीवादी समाज-व्यवस्था मे जागरूक नारी भी शोषित होने को विवश है। राजाराम यदि रानीखेत न जाते और चन्दा को पीटकर वापस लाकर घर की चहारदीवारी मे वन्द न कर देते तो, पाठक यही समझता कि चन्दा शोषण से मुक्ति पाने के लिए घर छोडकर चली गई। तब इस निष्कर्ष एव मौजूदा समाज-व्यवस्था मे नारी की वास्तविक स्थिति मे कोई मेल न बैठ पाता। दूसरे शब्दो मे, उपन्यास का निष्कर्ष समाज की वास्तविकता से अलग मात्र काल्पनिक हो जाता।

घटना के बलात् मोंड का दूसरा उदाहरण 'अमिता' उपन्यास से प्रस्तुत किया जा रहा है। 'अमिता' मे युद्ध की सकट-बेला मे, जबकि महामात्य ने प्रत्येक छोटी बात की जानकारी के लिए गुप्तचरो का जाल बिछा दिया था, दासी हिता बालिका महारानी अमिता को राजप्रासाद से निकालकर श्रीष दुर्ग तक चली जाती है, पर अत्यन्त सजग और सतर्क महामात्य को इसकी खबर तक नही मिल पाती। साधु-वेशधारी गुप्तचर महामात्य को

हर बात की सूचना देते हैं, सिर्फ इसी बात की नहीं दे पाते। पाठक को तुरंत खटकता है कि लेखक ऐसा बलात् करवा रहा है। सच ही, यदि लेखक ऐसा हठात् न करवाता तो अमिता श्रीष दुर्ग तक न पहुँच पाती, अपनी माता से न मिल पाती और फिर वे श्रीष दुर्ग से राजप्रासाद में न लाई जाती। राजप्रासाद मे न आने पर उन्हें मुंडीधर्म के सर्वश्रेष्ठ अधिप्ठान महास्थविर के युद्ध से भयभीत होकर पलायन कर जाने का समाचार भी न मिल पाता। बौद्धधर्म में अंधश्रद्धा रखने वाली महारानी का अविवेकपूर्ण विश्वास इस समाचार से हिल उठता है। बौद्धधर्म पर से रानी का विश्वास हिलाकर लेखक ने पलायनवादी बौद्धधर्म पर प्रहार किया है। मार्क्सवादी होने के नाते यशपाल भौतिक जीवन में विश्वास करते है परन्तु बौद्धधर्म भौतिकता का कट्टर विरोधी है। इसलिए यशपाल ने उस पर मर्मान्तिक चोट की है। महारानी श्रीष दुर्ग से राजप्रासाद मे न लौटाई गई होतीं, तो यशपाल यह चोट न कर पाते और तब भौतिकवादी उद्देश्य की व्यजना भी न हो पाती (यद्यपि यह सच है कि बौद्धधर्म पर प्रहार करना कथा का आनुषंगिक उद्देश्य ही है)।

कहने का तात्पर्य यह कि यशपाल के उपन्यासो मे ऐसे कई प्रसंग हैं जो बलात् सयोजित मालूम पडते हैं और कथा के स्वाभाविक और विश्वसनीय विकास मे बाधक सिद्ध होते हैं।

(२) कथा-संयोजन का विकास-क्रम

(१) 'दादा कामरेड' (सन् १९४१)

कथा-संदर्भ—यशपाल के उपन्यासो का मूल कथ्य राजनीतिक और सामाजिक है जो कही-कही इतिहास के सदर्भ मे प्रस्तुत होता रहा है। 'दादा कामरेड' यशपाल का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है। स्वाधीनता-पूर्व क्रातिकारी आन्दोलन का वैफल्य उपन्यास की कथा का मूलस्रोत है। आतकवादियो का आन्दोलन पारस्परिक मतभेदो के कारण समाप्त हो गया और अत मे उनमें एक वर्ग, सामाजिक चेतना से सम्पन्न होकर, साम्यवाद की ओर झुक गया। इस वर्ग के मतानुसार देश की स्वाधीनता का अर्थ सामान्य जनता के शोषण का अत है जिसे साम्यवादी क्रांति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'दादा कामरेड' का नायक हरीश इसी वर्ग का प्रतिनिधि है।

कथा-विवेचन—'दादा कामरेड' राष्ट्रीय संघर्ष की कथा है। यह सघर्ष अंग्रेजी साम्राज्यवाद और उसकी सहायक शक्तियों—पूंजीपति, सामन्त, जमीदार, पुलिस आदि तथा संघर्षशील भारतीय राष्ट्रीय शक्तियो के बीच दिखाई देता है। संघर्षशील भारतीय राष्ट्रीय शक्तियो के भी मूलतः दो रूप दिखाई पड़ते हैं—(१) भारतीय क्रांतिकारी दल, और (२) गांधीवादी सुधारवादी वर्ग। प्रस्तुत उपन्यास मे संघर्ष मुख्यतः भारतीय

क्रांतिकारी दल और अंग्रेजी साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी शक्तियो के बीच चित्रित हुआ है। भारतीय क्रांतिकारी दल भी दो उपवर्गों में बँटा दिखाई देता है। एक वर्ग वह था जो समाजवादी दृष्टि से सम्पन्न था और जिसका नेतृत्व हरीश के रूप में लेखक स्वयं करता है। क्रांतिकारी दल के विस्फोटक वर्ग के नेता चंद्रशेखर आजाद के रूप में उपन्यास की कथा में दादा दिखाई देते हैं।

उपन्यास के आरंभ में क्रातिकारी दल की विस्फोटक शक्तियाँ ही अधिक प्रबल हैं। कथा का नायक हरीश भी इन शक्तियो के साथ सशस्त्र डकैती, आगजनी और राजनीतिक हत्याओं आदि में सक्रिय भाग लेता है। परन्तु समाजवादी चेतना से सम्पन्न होने के कारण धीरे-धीरे उसकी आस्था डकैती, हत्या और लूटपाट से उठ जाती है। उसने देखा कि इन छिटपुट घटनाओ से पार्टी को भले ही कुछ आर्थिक लाभ हो जाये, पर इनके द्वारा न तो पार्टी जनता के सम्पर्क मे आ सकती है और न ही वह गरीब मजदूर वर्ग की कोई भलाई कर सकती है। परन्तु अपने इस दृष्टिकोण को पार्टी की केन्द्रीय सभा मे रखने के कारण वह उलटे लाछित होता है और दादा के कोप का भाजन बनता है। हरीश जानता है कि उसे किसी भी क्षण 'शूट' किया जा सकता है, पर सामान्य जनता को शोषण, अन्याय और अत्याचार के प्रति जागरूक करने के प्रयास में वह अपने चेहरे को बिगाड लेता है। व्यापारियों और पूंजीपतियो के शोषण से मजदूरों को मुक्ति दिलाने के लिए वह लाहौर में हड़ताल का भी आयोजन करता है। हडताल के गंभीर खतरनाक दिनो मे राबर्ट जैसे साथी भी उसका साथ छोड देते हैं, पर वह शहीद होने तक देश-सेवा के कार्य मे लगा रहता है।

हडताल, स्वतत्र काम-सम्बन्ध, पूंजीपतियों का जन-विरोधी रोल, संघर्षशील—पर समाजवाद से अपरिचित—राष्ट्रीय शक्तियों की गलत भूमिका, कुछ विशेष घटना-स्थल तथा जन-विरोधी और जन-समर्थक शक्तियो के बीच भटकने वाले स्वार्थ-पूर्ण व्यक्ति आदि समाजवादी उपन्यासो की कथा-रूढ़ियाँ हैं। 'दादा कामरेड' में इन कथा-रूढियो के दर्शन हमे पहली बार होते है। हरीश के नेतृत्व मे हडताल का आयोजन उपन्यास की प्रमुख घटना है। इस घटना के द्वारा लेखक मजदूरों और पूंजीपतियों के सम्बन्धो को चित्रित कर समाज में व्याप्त शोषण को उभारता है। इसी हड़ताल के दौरान यह भी स्पष्ट दिखाई पडता है कि पूंजीवादी वर्ग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए किस तरह जन-विरोधी रोल अपनाता है। लाला ध्यानचंद मजदूरों के प्रति दया तो दिखा सकते हैं, पर उनकी हडताल का समर्थन कभी नही करते। दादा के नेतृत्व में काम करने वाला दल यदि कही समाजवादी दृष्टि से सम्पन्न होता तो हरीश को गोली मार देने की योजना कभी न बनती। यशपाल को मंसूरी, लाहौर आदि स्थान वड़े ही प्रिय

है । 'दादा कामरेड' के कथानक का विकास मुख्यतः इन्ही स्थानों में हुआ है। मंसूरी मे राबर्ट और शैल तथा हरीश–नैन्सी और शैल के प्रेम-सम्बन्ध विकसित होते है । लाहौर में हरीश और शैल का स्वतंत्र काम-सम्बन्ध तथा हरीश का समाजवादी कार्यक्रम—हड़ताल आदि—घटित होते दिखाये गये हैं । शैल के स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्धों के रूप मे लेखक ने परम्परागत काम-सम्बन्धी मान्यताओ पर प्रहार किया है । साथ ही उसने काम के क्षेत्र मे भी नये स्वच्छन्द सम्बन्धो की स्थापना की ओर इंगित किया है । शैल के व्यक्तित्व मे दो विरोधी बाते दिखाई पडती हैं । यदि वह एक ओर स्वच्छन्द काम-सम्बन्ध का समर्थन करती है तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी हरीश के साथ मजदूर-आन्दोलन की लपटों में भी झुलसने के लिए तैयार है । कथानक के विकास और परिणति मे शैल के दोनों रूप सहायक हुए हैं ।

यशपाल ने जिस समाजवादी दृष्टि को हरीश के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उसका निर्वाह अपरिपक्व ढग से हुआ है । वस्तुतः इस असफलता के मूल मे दो बातें दिखाई देती हैं—(१) वैयक्तिक सदर्भ—'दादा कामरेड' के नायक हरीश के रूप में यशपाल ने स्वयं को प्रस्तुत किया है और उसके अपूर्व त्याग-बलिदान को दिखाकर वह पार्टी मे अपना समर्थन पाने का प्रयास करते है । अतः आत्म-कथात्मक अश के कारण उपन्यास की सफलता असदिग्ध कैसे हो सकती है ? (२) समकालीन सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा—समकालीन राजनीति में गांधी एक विराट व्यक्तित्व थे तथा उनके नेतृत्व मे चलने वाला स्वतन्त्रता-आन्दोलन देश के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है । परन्तु लेखक कथानक मे इनके साथ पूर्णतः न्याय नही कर पाता । उसने वस्तुतः संघर्षशील राष्ट्रीय शक्तियो के एक अंग-विशेष को ही लिया है और उसमे भी क्रांतिकारी दल के ऊपर कम्युनिस्ट आंदोलन की विजय दिखाना उसका मूल लक्ष्य रहा है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लेखक ने समाज को समग्रता में नही अंकित किया है । दूसरे, भारतीय समाज सन् १९३०-४० के बीच उस समाजवादी क्राति के दौर से नही गुजर रहा था जिसकी ओर उपन्यास मे सकेत किया गया है । हडताल आदि का आयोजन वास्तविकता से काफी दूर है, इसलिए भी कथानक का धरातल कृत्रिम लगता है ।

उपन्यासकार अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कही-कही पर घटनाओं मे बलात् मोड उपस्थित करता है । इतना ही नही, इस हेतु वह पात्रो के व्यक्तित्व मे अस्वाभाविक काट-छाँट और उनके विकास मे नाटकीय मोड़ भी उपस्थित करता चलता है । उदाहरण के लिए, दादा का नाटकीय परिवर्तन । दादा का जो रूप आरंभ मे दिखाई पड़ता है; प्रतीत होता है कि अत मे उन्हें कम्युनिस्ट बनाने के लिए ही उनमे बलात् परिवर्तन किया गया है । इसे हम लेखक की कला की पराजय और उसके प्रचारवादी दृष्टिकोण का आग्रह ही मानेंगे ।

'दादा कामरेड' में लेखक मार्क्सवादी दर्शन की व्यजना नही कर पाया है। वह मार्क्सवादी सिद्धान्तो को उभारने मे भी असमर्थ रहा है। हडताल मे विभिन्न वर्गों की भूमिका और सेक्स का चित्रण अपवाद कहे जा सकते हैं। हड़ताल के समय पूंजीपतियों और मजदूरों का वर्ग-सघर्ष अच्छी तरह उभर कर सामने आया है। पूंजीपति हडताल तुडवाने के लिए अनेक अनुचित हथकण्डों का प्रयोग करता है ताकि उसका शोषण यथावत् कायम रह सके। सेक्स के चित्रण मे स्वतत्र काम-सम्बन्ध की स्थापना लेखक की मार्क्सवादी दिशा की ओर बढती हुई चेतना का सकेत है। कुल मिलाकर 'दादा कामरेड' मे भले ही मार्क्सवाद की ओर मात्र ध्यानाकर्षण मिले, पर यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें मार्क्सवाद को स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है।

(२) 'देशद्रोही' (सन् १९४३)

कथा-संदर्भ—'देशद्रोही' का कथानक द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कांग्रेस की क्राति की तैयारियो और कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा इस नीति के विरोध की घटना पर आधारित है। कम्युनिस्ट अग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध तो थे, परन्तु जर्मनी और जापान के 'फैसिज्म' को उससे भी बडा शत्रु समझते थे। जर्मनी की पराजय और रूस की विजय से उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे, समाजवादी प्रजातन्त्र-शक्ति के सबल होने की आशा थी। अतएव वे अपने देश और समाजवाद की रक्षा के लिए युद्ध को जनता का युद्ध मानकर आत्मरक्षा के लिए युद्ध मे सहयोग देने की सलाह देने लगे थे। उपन्यासकार यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी की इसी नीति के स्पष्टीकरण के लिए 'देशद्रोही' की कथा का संयोजन किया है।

कथा-विवेचन—युद्धकालीन कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यों को उचित और न्याय-सगत बताने की दृष्टि से 'देशद्रोही' के कथानक का निर्माण किया गया है। कम्युनिस्ट पार्टी और डॉक्टर खन्ना-जैसे उसके कार्यकर्त्ता की महानता और त्याग को प्रदर्शित करने के लिए लेखक ने काग्रेस पार्टी और उसकी खोखली पूंजीवादी नीति की भी कटु आलोचना की है। कथानक के विकास के साथ-साथ डॉ० भगवानदास खन्ना के व्यक्तित्व का भी विकास होता चलता है। कथा-नायक के रूप मे ही नही, महान् त्यागी कम्युनिस्ट-नेता और पार्टी-प्रवक्ता के रूप मे भी वह कथानक को दिशा देता है। वजीरियों के बीच कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने के बाद गजनी और रूस के सुखद, चिन्तारहित, आनन्दपूर्ण जीवन की वह इसलिए उपेक्षा करता है कि स्वदेश लौट कर उसे जनशक्ति का नेतृत्व करना है, जनता के अधिकारो के लिए बलिदान देना है। चोरी-छिपे बम्बई बदरगाह से देश की जनता में प्रवेश कर उसने कम्युनिस्ट नीतियो की बागडोर अपने

हाथ में ले ली। राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए और जनशक्ति को बर्बाद होने से बचाने के लिए वह शिवनाथ-जैसे साम्राज्यवादियों के समर्थकों द्वारा किये जाने वाले विध्वसकारी कार्यों का विरोध करता है। मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित डॉ० खन्ना अपनी पत्नी राज के प्रति जरा भी शिकायत नही करता। राज और बद्रीबाबू के विवाह से वह अविचलित ही नही, प्रसन्न भी होता है। आखिर उसके अभाव में राज उसकी कब तक प्रतीक्षा करती ? राज ने तो केवल अपने स्वाभाविक अधिकारों का ही उपयोग किया है ! राज के प्रति सहृदय, जनता और देश के प्रति वफादार तथा कम्युनिस्ट पार्टी के नायक डॉ० खन्ना को अन्ततः निर्जन पहाड़ी पर करुणाजनक स्थिति में दम तोड़ना पड़ता है और पूँजीवादी राजाराम उसे धूर्त, देशद्रोही और बदमाश कहने से नही हिचकते।

बद्रीबाबू कथानक में गांधीजी के अनुचर और कांग्रेस पार्टी के नेता हैं। विधवा राज को सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे सक्रिय करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। राज बद्रीबाबू के संसर्ग में आकर धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को पहचानने लगती है और अततः अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को बद्रीबाबू के सम्मुख समर्पित कर व्यक्तित्व की पूर्णता की तृप्ति मे पुराने संस्कारो और शाश्वत प्रेम की धारणा को ठुकरा देती है। बद्रीबाबू ने भी विधवा राज को स्वीकार कर राजनीतिक विवाह ही नही किया, समाज मे विवाह-सम्बन्धो मे एक नई क्रांति भी उपस्थित कर दी। वस्तुतः बद्रीबाबू और राज के विवाह से लेखक ने मार्क्सवादी दर्शन के उस पहलू को व्यक्त करने का प्रयास किया है जहाँ विवाह संस्था को किसी आध्यात्मिक संस्था के रूप मे स्वीकार नही किया जाता। विवाह को मार्क्सवाद दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं और उनके सम्बन्धों को सामाजिक धरातल पर स्वीकार करता है। बद्रीबाबू और राज के विवाह को उनकी निजी आवश्यकताओ की पूर्ति तथा उसके सामाजिक प्रतिफलन के रूप में चित्रित किया गया है।

जो राज एक दिन डॉ० खन्ना की मृत्यु का — दुश्मनों के साथ संघर्ष मे उसकी वीरगति की प्राप्ति का — समाचार सुनकर आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत हो उठी थी, वही बद्रीबाबू की परिणीता बनकर मातृत्व प्राप्त करती है और डॉ० खन्ना को सामने पाकर भी उसे नही देखना चाहती। डॉ० खन्ना के प्रति उसके हृदय मे इतना अधिक परिवर्तन हो सकता है, यह एक समस्या है। पर परिस्थितियो के संदर्भ में इसे असंभव नहीं कहा जा सकता। विधवा होने के कारण जब राज की घर मे स्थिति अत्यन्त दयनीय और अपमानजनक हो जाती है तब वह अपने अह की तृप्ति के लिए बद्रीबाबू का वरण करने मे जरा भी संकोच नहीं दिखाती। एक बार बद्रीबाबू की पत्नी बन जाने पर डॉ० खन्ना का अस्तित्व उसके लिए नहीं के बराबर हो जाता है।

जब उसने अपना हृदय अपने प्रेमी, अपने पति बद्रीबाबू को दे डाला तो वह किस प्रकार डॉ० खन्ना का स्वागत करती ?

बद्रीबाबू की अतिशय विनम्रता और गांधीजी के आचरण की नकल में कांग्रेस पार्टी के नेता के खोखलेपन और उसकी पूंजीवादी दृष्टि पर लेखक ने तीखा व्यंग्य किया है। बद्रीबाबू एक ऐसे नेता हैं जिनका निर्माण लेखक ने कांग्रेस की कमजोरियों को दिखाने के लिए ही किया है। दिल्ली की मिलो मे हुई हड़ताल के समय बद्रीबाबू का रोल पूंजीवादी अधिक, जनवादी कम था इसीलिए कम्युनिस्टों का काग्रेसी नेताओ में अविश्वास था।

'देशद्रोही' के कथा-काल मे देश मे मुख्यतः तीन शक्तियाँ काम कर रही थी—(१) साम्राज्यवादी, (२) राष्ट्रवादी, और (३) जनवादी-मार्क्सवादी। द्वितीय विश्वयुद्ध मे भारतीय कम्युनिस्ट, रूस के साथ गठबंधन के कारण साम्राज्यवादी इंग्लैंड और पूंजीवादी अमेरिका के समर्थक हो गये थे। स्वाधीनता-संग्राम के इस काल मे भारतीय जनता का लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति था, पर कम्युनिस्ट ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग की बाते कर रहे थे। इस प्रकार कम्युनिस्टों का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से तात्विक विरोध था और यही कारण था कि जनता ने कम्युनिस्टों के प्रति सहानुभूति नही दिखाई। उस समय काग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। वह राष्ट्रवादियों की सस्था थी, बद्रीबाबू जैसे ढोंगी नेताओं की नही। परन्तु लेखक ने युद्धकालीन कम्युनिस्टो की नीति का समर्थन करने के लिए ही बद्रीबाबू-जैसे नेता का निर्माण कर काग्रेस का विकृत रूप प्रस्तुत किया है। यह लेखक की एकांगी दृष्टि ही कही जा सकती है। कांग्रेस के गरम दल के नेता शिवनाथ को भी कथानक मे उचित स्थान न देकर लेखक ने अपनी एकपक्षीय लक्ष्यवादिता का ही परिचय दिया है। शिवनाथ को लेखक ने स्वतंत्रता-सग्राम मे जूझनेवाले आजादी के सच्चे नेता के रूप में प्रस्तुत नही किया है। शिवनाथ-जैसे क्रातिकारी व्यक्ति को कोरा ध्वंसकारी विद्रोही कहना और उसकी नीतियों के विरोध मे डॉ० खन्ना के माध्यम से कम्युनिस्ट पार्टी की तत्कालीन नीतियो का समर्थन करना लेखक का राजनीतिक दल विशेष के प्रति पक्षपात ही कहा जायगा। उपन्यास में लेखक ने तत्कालीन कांग्रेस की प्रगतिशील भूमिका को न चित्रित कर युग के यथार्थ के प्रति ईमानदारी नही बरती है।

डॉ० खन्ना, जिन्हे लेखक ने महान् कम्युनिस्ट के रूप मे चित्रित करने का प्रयास किया है, सच्चे मार्क्सवादी नही दिखाई देते। मार्क्सवादी क्रांति के लिए उनको चंदा की गोद आवश्यक-सी प्रतीत होती है। स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को स्वाभाविक मानकर ही लेखक ने खन्ना और चंदा के मिलन का चित्रण किया है। चंदा के प्रथम

मिलन में ही डॉ० खन्ना का उसकी ओर आकृष्ट हो जाता, स्वच्छन्द प्रेमसम्बन्धी मान्यता का समर्थन है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो को धीरे-धीरे आत्मसात् कर परम्परागत संस्कारों से पूर्णतया मुक्त न होने पर भी चंदा एक दिन घायल खन्ना को शरण दिलाने के लिए घर से निकल पडती है परन्तु पूंजीवादी पति राजाराम के द्वारा पीछा किये जाने पर वह अपने स्नेही को निर्जन एकान्त में मरने के लिए छोड़ देती है। वस्तुतः डॉ० खन्ना की करुणाजनक मृत्यु को दिखाकर लेखक कम्युनिस्ट नेता के बलिदान के प्रति जनता की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास करता है। स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी डॉ० खन्ना उसे कही भी प्रायोगिक रूप नही दे पाता, उसके कृत्यो और सिद्धान्तो मे पर्याप्त विरोध है। नूरन, इब्बा, नर्गिस और गुलशां के प्रेम-सम्बन्धों मे उसका पलायनवादी पूंजीवादी दृष्टिकोण ही अधिक उभरा है। सुजान और यमुना के प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे भी उसका नकारात्मक दृष्टिकोण मार्क्सवादी नही कहा जा सकता! मार्क्सवाद स्वतंत्र प्रेम एवं विवाह-सम्बन्धो का हामी है। फिर डॉ० खन्ना सुजान को यमुना से दूर हटने के लिए क्यों प्रेरित करता है? संक्षेप मे वह अपने सिद्धान्तो के प्रति ईमानदार नही है, अन्यथा चंदा को आश्रय देने में असमर्थ होने पर वह उसके साथ प्रेम का अभिनय न करता!

चंदा और राजाराम की कथा पूंजीवादी समाज मे प्रेम और विश्वास-रहित वैवाहिक जीवन की व्यर्थता दिखाती है। चंदा को उसके संशयी पति द्वारा बलात् नङ्गा करके उसके सतीत्व की परीक्षा लेना पुरुषो के उस दृष्टिकोण पर कटाक्ष है जिसके अन्तर्गत नारी मात्र भोग्या और पुरुष की इच्छाओ की दासी मानी जाती है। पुरुषो के इस शोषण को उभार कर लेखक नर-नारी सम्बन्धो को मार्क्सवादी भूमिका पर प्रस्तुत करता है।

आर्थिक सन्दर्भों के साथ-साथ अन्तश्चेतना मे भी परिवर्तन दिखाई देता है। यमुना भाई के प्रति निष्ठावान होने के बावजूद जब आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर हो उठती है तो सुजान के प्रति उसके झुकाव और आकर्षण के सम्बन्ध मे भाई द्वारा की गई आलोचना असह्य प्रतीत होने लगती है। जो यमुना भाई के निर्देश के बिना कभी एक कदम भी आगे नही बढ़ा सकती थी, वह स्वच्छन्द प्रेम और विवाह के प्रति आतुर हो उठती है। इसके लिए वह भाई की उपेक्षा तक करने को प्रस्तुत है। इतना सब होते हुए भी कथानक मार्क्सवादी न होकर कम्युनिस्ट नीतियों का समर्थनकारी विवेचन ही लगता है।

(३) 'दिव्या' (सन् १९४५)

कथा-सन्दर्भ—बौद्धकालीन कथानक के आधार पर 'दिव्या' उपन्यास का

सृजन हुआ है। तत्कालीन समाज, मुख्यतः वर्ण-व्यवस्था और दास-प्रथा ही कथानक के उपजीव्य हैं। लेखक तत्कालीन इतिहास को अपनी विशद् कल्पना के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, अतएव "दिव्या' इतिहास नहीं, इतिहास पर आधारित एक सफल कल्पना-चित्र है।

कथा-विवेचन—'दिव्या' मे लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से समाज का विश्लेषण किया है। उस समय का समाज सामन्त-युग का समाज था। तत्कालीन वर्गपरक समाज मे मूलतः दो वर्ग दिखाई पडते हैं—एक शोषक-वर्ग और दूसरा शोषित-वर्ग। शोषक-वर्ग के अन्तर्गत सामन्त, श्रेष्ठी और कुलीन ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि आते हैं। दासो आदि का निम्न वर्ग शोषित-वर्ग था। दोनो वर्गों मे सघर्ष का रूप दिनों-दिन बढता जा रहा था। सघर्ष का मूल आधार था वर्ण-व्यवस्था। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जातीय भेदभाव अत्यधिक उग्र हो चला था। अतएव उसके विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। उस समय का कुलीन समाज वर्णाश्रम धर्म का समर्थक था, फलतः इतर जातियो के मन मे उसके प्रति विरोध-भाव पनपने लगा था। उपन्यास मे रुद्रधीर शोषक-वर्ग का अगुवा है और पृथुसेन शोषितो का नायक।

'दिव्या' के युग मे भी अर्थ-शक्ति ही मूलतः समाज मे निर्णायिका की भूमिका अदा करती थी। दास-व्यापारी प्रेस्थ अपनी सम्पत्ति के सहारे तथा युद्धकाल मे राज्य-कोष मे आवश्यकतानुसार दान देने के कारण ही गणपति का प्रमुख परामर्शदाता बनता है। उसी की प्रेरणा से गण-शासन का समस्त अधिकार गणपति स्वयं ग्रहण कर लेता है। फलतः रुद्रधीर को पृथुसेन का अपमान करने के अपराध मे धर्मस्थान से दो हजार दिवसो का प्रवास-दण्ड मिलता है और पृथुसेन को प्रेस्थ की नीति के कारण सेनापति का पद दिया जाता है।

विजयी सेनापति पृथुसेन अपनी शक्ति और सामर्थ्य के कारण सम्मान के उच्च शिखर पर पहुँचता है। गणपति की पौत्री सीरो से उसका विवाह होता है। वस्तुतः यह विवाह गणपति बनने की उसकी महत्वाकाक्षा का एक साधन था। पिता की नीति से प्रभावित महत्वाकाक्षी पृथुसेन दिव्या को द्वितीय पत्नी के रूप मे पाने की कामना भी मन मे लिये रहता है। 'दिव्या' के कथानक में लेखक ने यह दर्शाया है कि नैतिकता और धर्म-सम्बन्धी धारणाएँ शाश्वत नही है। यह तो आर्थिक परिस्थितियो के साथ अपना रूप बदलती रहती है। 'दिव्या' के बदलते हुए जीवन के मूल मे भी यही बात दिखाई पडती है। ब्राह्मण-पुत्री दिव्या, अशुमाला के रूप मे नर्तकी बनती है। वह वेश्या बनने के लिए भी प्रस्तुत है। पर वेश्या के आसन पर उसे बैठते हुए देखकर उस समय का शोषक-समाज नैतिकता और धर्म की आड लेकर उसके उस कृत्य का विरोध करता है। आचार्य रुद्रधीर उसे सामान्य जन की भोग्या नही बनने देना चाहते हैं और इसीलिए

वर्णाश्रम व्यवस्था को त्रिकाल के लिए सत्य बताते हुए दिव्या को राजनर्तकी मल्लिका की उत्तराधिकारिणी बनने का विरोध करते हैं। परन्तु पाथशाला मे पहुँचकर वही आचार्य रुद्रधीर दिव्या को महादेवी के पद पर आसीन करने की प्रतिज्ञा भी करते है। दिव्या अब न तो कुमारी थी, न द्विजकन्या ही; वह नर्तकी अंशुमाला थी। पर शोषक-समाज इन बातों की उपेक्षा कर उसके नारीत्व का शोषण करना अपना प्रमुख कर्तव्य मानता है। इसीलिए दिव्या अंत मे शाश्वत प्रेम की धारणा को ठुकराते हुए दार्शनिक मारिश का आश्रय ग्रहण करती है। कथानक में समाज-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, प्रेम, सबको बदलता हुआ दिखाया गया है।

उपन्यास में दो शक्तियाँ आरम्भ से ही कार्यरत हैं। पृथुसेन के रूप मे यदि समाज की प्रगतिशील शक्ति दिखाई पड़ती है तो रुद्रधीर के रूप मे प्रतिक्रियावादी शक्ति भी। कथानक का विकास इन्ही दो परस्पर-विरोधी शक्तियो के संघर्ष से होता है। परन्तु प्रगतिशील शक्ति का प्रतीक पृथुसेन अततः तथागत का धर्म स्वीकार कर समाज से पलायन करता है और रुद्रधीर के रूप मे दूसरी शक्ति विजयिनी होती है। यद्यपि दूसरे छोर पर मारिश के रूप मे प्रगतिशील शक्ति आगे बढ़ती है परन्तु कथानक के अन्त में रुद्रधीर का उत्थान लेखक के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुरूप नही दिखाई पडता।

कथानक मे एक साथ तीन दृष्टिकोणो को प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मण-धर्म वर्णाश्रम दृष्टि को प्रस्तुत करता है, निर्वाणवादी, वेद-विरोधी बौद्ध-धर्म ब्राह्मण-धर्म का विरोध करता है और मारिश सर्वांशतः धर्म-विरोधी ही है। वह वस्तुतः लेखक के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रवक्ता है। यद्यपि उसके पीछे कोई वर्ग नही है, वह अकेला है पर उसे लेखक का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। इसीलिए अन्त मे दिव्या की प्राप्ति के संघर्ष मे उसी की विजय होती है।

'दिव्या' में यशपाल ने कला को जीवन का उपकरण-मात्र माना है। "कला केवल उपकरण-मात्र है। कला जीवन के लिए और उसकी पूर्ति में ही है।"[१] मारिश जीवन से विरक्त, पर जीवन के उपकरण कला से अनुराग करने वाली अंशुमाला की भर्त्सना करते हुए, इस प्रवृत्ति को भयंकर प्रवंचना मानता है। लेखक-जीवन का लक्ष्य भोग मानता है—वह भोग जो इसी स्थूल जीवन मे भौतिक साधनों के सहारे किया जाता है। परलोक मे अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया त्याग, त्याग नही है। मारिश रत्नप्रभा की परलोकवादी दृष्टि पर व्यग्य करता हुआ कहता है—"परलोक में अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग,

---

१. दिव्या, पृ० १५७

त्याग नहीं। तुम्हारी आशा और विश्वास के अनुसार यह त्याग भोग की आशा का मूल्य है। भोग की इच्छा है तो साधन रहते भोग करो।"[1]

'दिव्या' मे मनुष्य, मनुष्य का सम्वन्ध सामाजिक दृष्टि से सहज रूप मे दिखाया गया है। जीवन में सेक्स का महत्वपूर्ण स्थान है। सेक्स के कारण ही नर-नारी परस्पर आकर्षण और प्रेम में बँधते हैं। जाति और धर्म सेक्स के सामने व्यर्थ हो जाते हैं। पृथुसेन के प्रति दिव्या का समर्पण इसका स्पष्ट उदाहरण है। सामन्ती युग मे शोषक-वर्ग न केवल साधनहीन मनुष्यो का शोषण करता था, अपितु वह नारी के नारीत्व का भी शोषण किया करता था। वह उसे कभी धार्मिक दृष्टि से, कभी आर्थिक दृष्टि से पगु बनाकर भोग्या बनाने से लिए बाध्य कर देता था।

'दिव्या' के कथानक मे लेखक सर्वत्र मार्क्सवादी दृष्टि का अनुसरण नही कर पाया है। कथानक के अत मे पृथुसेन का पतन और रुद्रधीर का उत्थान मार्क्स के विकासवादी दर्शन के अनुरूप नही है। कथानक मे उत्पादन और वितरण की शक्तियो को भी मार्क्सीय दृष्टि से ठीक तरह प्रस्तुत नही किया गया है और ऐसा करना सम्भव भी नहीं था, क्योकि कथानक मे सीमित काल का ही चित्र अकित है। इतने सीमित काल मे न तो उत्पादन और वितरण की व्यवस्था को प्रस्तुत किया जा सकता है और न ही प्रगतिशील शक्तियो का उचित विकास दिखाया जा सकता है। उपन्यास चूँकि सामन्ती युग के सन्दर्भ मे लिखा गया है, इसलिए मार्क्सवादी व्याख्या भी आंशिक रूप मे ही उपलब्ध होती है। और यह स्वाभाविक भी है क्योकि मार्क्सवादी सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश जर्मनी, फ्रास, इग्लैड आदि के आधार पर ही निरूपित हुए थे।

(४) 'गीता पार्टी कामरेड' (सन् १९४६)

कथा-संदर्भ—'गीता पार्टी कामरेड' की कथा का मूलस्रोत सन् १९४६ का आम-चुनाव और वम्वई का नाविक विद्रोह है। लेखक ने कम्युनिस्ट विचारधारा को श्रेष्ठ प्रतिपादित करने के लिए तथा काग्रेसियो की अनैतिकता का पर्दाफाश करने के लिए ही आम-चुनाव की घटना को कथानक की पृष्ठभूमि मे रखा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अग्रेजो के व्यवहार से क्षुब्ध होकर वम्वई के नौ-सैनिको ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया। देश की स्वाधीनता के लिए नौसैनिको का यह प्रदर्शन अभूतपूर्व था। इस घटना को लेकर कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियो मे भी वडी उथल-पुथल मची। प्रस्तुत सन्दर्भ को ही केन्द्र मे रखकर यशपाल ने 'गीता पार्टी कामरेड' की कथा निर्मित की है।

---

१. दिव्या, पृ० १३९

कथा-विवेचन—'गीता पार्टी कामरेड' में यशपाल का लक्ष्य कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओ की सच्ची लगन, निष्ठा, ईमानदारी और आजादी के लिये उनकी व्याकुलता दिखाकर पार्टी के ऊपर लगाये गये आरोपों का खण्डन करना है। कथा का विकास-सूत्र आरम्भ से अन्त तक इस लक्ष्यवादिता को ही लेकर चलता हैं। कम्युनिस्ट पार्टी की महत्ता सिद्ध करने के लिए लेखक ने स्थान-स्थान पर भावाजी और रामगोपाल के माध्यम से काग्रेसियो के आडम्वरपूर्ण व्यवहार और स्वार्थपूर्ण नीतियो पर प्रहार किया है। कम्युनिस्ट युवती गीता को भावरिया द्वारा फँसाने की चेष्टा, भीड़ द्वारा कम्युनिस्ट कार्यालय को जला डालना, गीता के प्रभाव से खूँखार गुण्डे भावरिया का आजादी के लिए जुलूस का नेतृत्व करना और अत मे घायल होकर स्वाधीनता की वलिवेदी पर उसका उत्सर्ग हो जाना आदि कथानक की प्रमुख घटनाएँ है। लेखक ने इन घटनाओं का चित्रण अपने कथ्य की सिद्धि के लिए ही किया है। उसने कथ्य के अनुरूप कथानक मे मोड भी प्रस्तुत किये हैं। माटुगा-क्लव की घटना के वाद भावरिया मे आया हुआ आकस्मिक परिवर्तन और कथानक के अत मे उसका गोली का शिकार होकर शहीद हो जाना लेखक की लक्ष्यवादिता को ही प्रकट करते है। हृदय-परिवर्तन का यह मोड वूर्जुआ नैतिकता और सम-सामयिक गांधीवादी हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की अनजाने स्वीकृति का द्योतक है। परिवेश के—विशेषकर आर्थिक-भौतिक परिवेश के—परिवर्तन के अभाव मे इस गुणात्मक परिवर्तन को मार्क्सवाद कभी मान्य नही कर सकता। शायद यह यशपाल की कला की जीत और उनके दर्शन की पराजय है कि उनके पात्र उनके हाथ से निकल जाते है। उपन्यास मे पार्टी कार्यकर्त्ताओ का सामाजिक वोध और न्याय-भावना भी सही नही कही जा सकती। पार्टी के प्रति गीता का आकर्षण वैयक्तिक अनुभव से अधिक सिद्धान्तो के कारण है।

यशपाल ने उपन्यास मे युग के यथार्थ को ईमानदारी मे प्रस्तुत नही किया है। कथानक के समय देश मे तीन शक्तियाँ राजनीति मे सक्रिय थी—(१) साम्राज्यवादी शक्ति शासको की शक्ति के रूप मे थी, (२) राष्ट्रवादी आन्दोलन काग्रेस के माध्यम से चल रहा था, और (३) जनवादी मार्क्सवादी आन्दोलन कम्युनिस्टो के नेतृत्व मे चलाया जा रहा था। द्वितीय महायुद्ध मे कम्युनिस्ट, रूस के कारण साम्राज्यवादी इग्लैंड और पूंजीवादी अमेरिका के अविरोधी हो गये थे। जिस समय भारतीय जनता स्वतंत्रता का सघर्ष चला रही थी, कम्युनिस्ट अग्रेजी साम्राज्यवाद के साथ सहयोग की वाते करते थे। इसलिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से कम्युनिस्टो का तात्विक विरोध था। फलतः कम्युनिस्ट पार्टी जनता के रोष का शिकार हुई। उस समय काग्रेस राष्ट्रवादियो की संस्था थी, गुण्डो की नही, जैसा कि लेखक ने उपन्यास मे दिखाया है। वह भोक्ताओं

की नहीं, त्यागियों की संस्था थी। कांग्रेसियों का उन दिनों प्रगतिशील रोल था परन्तु लेखक उनके स्वातंत्र्य-पूर्व कार्यों और कम्युनिस्टो के युद्धकालीन अराष्ट्रीय कारनामों का चित्रण करने में असफल रहा है। उपन्यास मे घटनाओ की पूर्वाग्रहपूर्ण गलत व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

(५) 'मनुष्य के रूप' (सन् १९४९)

कथा-संदर्भ—'मनुष्य के रूप' की कथा का आधार द्वितीय विश्वयुद्ध के समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ हैं। स्वाधीनता-सग्राम के इतिहास मे सन् '४२ का 'भारत छोडो' आन्दोलन बडा महत्वपूर्ण रहा है। इस समय कम्युनिस्ट पार्टी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण अग्रेजी सरकार के निकट आ गई थी और द्वितीय विश्वयुद्ध मे उसकी सहायता के लिए देश मे अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना चाहती थी। कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन दृष्टिकोण का औचित्य कथानक के एक अश का मूल आधार है जिसकी अभिव्यक्ति कथा-नायक भूषण के माध्यम से हुई है। परन्तु 'मनुष्य के रूप' के महत्वपूर्ण कथाश का आधार लेखक की कल्पना ही है। लेखक ने कल्पना-प्रसूता सोमा के माध्यम से परिस्थितियो के आवर्त मे मनुष्य के बदलते हुए रूपो को उद्घाटित किया है।

कथा-विवेचन—'मनुष्य के रूप' उपन्यास दार्शनिक धरातल पर भौतिक परिवेश मे परिवर्तन के फलस्वरूप चेतना मे होने वाले परिवर्तनो को अकित करता है। भौतिक परिवेश के अन्तर्गत मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ आती हैं। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से जो परिवर्तन व्यक्ति या समाज मे होता है, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव आन्तरिक चेतना के परिवर्तन पर और फलतः जीवन-मूल्यो के परिवर्तन मे दिखाई पडता है। इस प्रकार के परिवर्तन को मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अन्तर्गत परिमाणात्मक परिवर्तन से होने वाला गुणात्मक परिवर्तन कहा जाता है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा के जीवन मे, उसकी चेतना मे और अन्ततः उसके जीवन-मूल्यो मे जो भी परिवर्तन दिखाई पडता है, वह आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के परिवर्तन के कारण ही है। गरीबी से घुटती हुई सोमा विधवा होने पर धनसिंह के साथ भाग जाने मे कुछ भी अनुचित नही समझती। पर वही सोमा फिल्म जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री हो जाने पर अपने प्रेमी धनसिंह को पहचानती तक नही। आर्थिक और सामाजिक उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचने वाली सोमा की चेतना इतनी बदल जाती है कि उसके लिए पूर्व प्रेमी का कोई मूल्य नही रह जाता। अब तो उसे सुतलीवाला जैसे उद्योगपति से प्रेम का नाटक रचने का अवसर जो सुलभ है! उसके लिए किसी एक के साथ बँध कर रहने वाली नैतिकता व्यर्थ प्रतीत होती है।

उपन्यासकार ने कथानक में गांधीवादी मूल्यों पर भी प्रकाश डाला है। प्रेम और अहिंसा के मूल्यों पर टिकने वाला गांधीवाद कथानक के अन्त में व्यर्थ और प्रभावहीन दिखाई पड़ता है। प्रेम और अहिंसा के मार्ग पर चलने वाला कम्युनिस्ट भूपण अन्ततः हत्या का शिकार बनता है। गांधीवादी आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन अवश्य था, पर आर्थिक चेतना के अभाव में वह एक बूर्जुआ आन्दोलन ही था और इसलिए उसके अन्तर्गत शोपक-वर्ग का स्वार्थ निहित है। उस आन्दोलन मे सामाजिक शोपण की चेतना का अभाव भी दिखाई पड़ता है। उसमें नारी और पुरुष के सम्बन्धो मे वही पुरानी मान्यताएँ स्वीकारी गई हैं जिनके द्वारा शक्तिशाली पुरुष-समाज नारी का शोपण करने की पूरी छूट पा जाता है। सुतलीवाला नारी का शोपण करने वालों में प्रमुख व्यक्ति है। वह अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मनोरमा का उपयोग किसी भी रूप मे करने की स्वतंत्रता चाहता है। कथानक में गांधीवादी आन्दोलन के इन अभावों की तुलना मे मार्क्सवादी आन्दोलन की शक्तिशाली भूमिका प्रकट हुई है। मार्क्सवादी आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का ठोस प्रयास करता है। चूँकि वह आर्थिक चेतना से सम्पन्न है, इसलिए समाजवादी आन्दोलन के रूप मे विकसित होता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक शोपण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर भी सुनाई पड़ता है। नारी-पुरुष के स्वतत्र, स्वच्छन्द सम्बन्धों का समर्थन भी इसने किया है। मनोरमा नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिए शोपक पुरुष-वर्ग को इसीलिए चुनौती देती दिखाई पडती है। तलाक के लिए उसका प्रयास इस दिशा मे एक ठोस कदम है।

कथानक के अन्तर्गत भारतीय समाज के बदलते हुए रूप भी दिखाई पड़ते हैं। लेखक ने सामन्ती वातावरण से घुटते हुए गाँवो का बड़ा ही यथार्थ चित्र उपन्यास मे अंकित किया है। इन्ही गाँवो में सोमा जैसी अनेक नारियो को दिन-रात घुटना पड़ता है जिन्हे स्वयं को समाप्त कर परिवार की इच्छाओ और आदेशों के पालन का मात्र अधिकार प्राप्त है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत नगरो की हालत भी कुछ अच्छी नही थी। हमारे नगर उन दिनो शासको की नीति के कारण पिसते हुए दिखाई पड़ते हैं। हाँ, इन्ही नगरों मे राष्ट्रीय सघर्ष का उभरता हुआ रूप भी देखा जा सकता है। राष्ट्रीय सघर्ष मे प्रवुद्ध और श्रमिक दोनो वर्गो मे नई सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं। निश्चित रूप से शोपण से खोखले भारतीय नगरो को इसका श्रेय मिलना चाहिए।

यशपाल ने कथानक मे गांधीवादी आन्दोलन से मार्क्सवादी आन्दोलन को श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास किया है। अपनी सोद्देश्यता के कारण ही उसने उपन्यास की अनेक घटनाओं का मनमाने ढग से सचालन किया है। यदि ऐसा न होता तो कोई आवश्यक नहीं था कि सोमा फिल्म जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री ही बनती और कामरेड

भूषण की उपन्यास के अन्त में कारुणिक मृत्यु होती । इसे लेखक की सीमा ही कही जा सकती है । कुल मिलाकर लेखक ने तत्कालीन भारतीय समाज के विभिन्न आयामों का सफलतापूर्वक चित्रण किया है । यह निस्सन्देह कथानक की महत्तम उपलब्धि है ।

(६) 'अमिता' (सन् १९५६)

कथा-संदर्भ—'दिव्या' के कथानक की भांति अमिता की कथा भी इतिहास नही, ऐतिहासिक कल्पना है । इतिहास की प्रामाणिक घटना केवल अशोक का कलिंग-विजय के लिए आक्रमण और युद्ध के परिणामस्वरूप उसका भविष्य मे युद्ध न करने की प्रतिज्ञा कर लेना ही है । युद्ध विध्वसकारी होता है, अतः जीवन के विकास के लिए विश्व-शांति अभिप्रेत है । युद्ध के माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति अथवा समस्याओं के सुलझाने की नीति सदैव विफल रही है । 'अमिता' की कहानी इसी विचारधारा पर आधारित है ।

'अमिता' की पृष्ठभूमि मे तत्कालीन विश्व राजनीति में दिखाई पडने वाली कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ है । यशपाल ने सन् १९५२ ई० मे 'विश्व शाति काग्रेस' मे भाग लिया था । इसके पश्चात् विश्व के राजनीतिक रगमंच पर 'बाडुग सम्मेलन' सम्पन्न हुआ । उसमे भारत, युगोस्लाविया, सयुक्त अरब गणराज्य, इडोनेशिया, लाल चीन आदि देशो ने एक स्वर से 'पचशील' की घोषणा की थी । आत्म-निर्णय और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को सभी ने निर्विरोध स्वीकार किया था । सन् १९५५ का वर्ष कम्युनिस्ट जगत् में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह वह समय है जब मार्क्सवाद अपनी रूढि-वादिता छोडने लगा था । इस समय तक रूस ने टिटो का विरोध करना बन्द कर दिया था । माओ ने 'बगिया मे सौ फूल खिलने दो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था । ख्रुश्चेव स्टालिनवाद से रूसी राजनीति को मुक्ति दिलाने का प्रयास कर रहे थे । इस प्रकार विश्व के वामपंथी नेता उदार हो रहे थे । इसके साथ-साथ अविकसित देशो के प्रगतिशील नेता भी अपने देशो के आर्थिक विकास के लिए शान्ति और सुव्यवस्था चाहते थे । 'अमिता' के कथानक मे विश्व-रगमच पर घटने वाली इन महत्वपूर्ण घटनाओ का परोक्ष प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है । यशपाल विश्व की परिवर्तित और शान्तिप्रिय राजनीति से प्रेरित होकर ही 'अमिता' की रचना मे प्रवृत्त दिखाई पडते हैं ।

कथा-विवेचन—'अमिता' के कथानक मे लेखक ने हिंसा पर अहिंसा की विजय दिखाई है । अमिता की सरलता, निश्छलता, और प्रेम से प्रभावित होकर अशोक जैसा पराक्रमी योद्धा भी उसके सामने नत-शिर हो जाता है । वस्तुतः अशोक के समर्पण में प्रेम और अहिंसा के सामने हिंसा और युद्ध की भयकरता का समर्पण दिखाया गया है । लेखक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण विश्व-शान्ति के लिए व्यग्र और प्रयत्नशील

है, इसलिए वह इसमें मार्क्सवादी सिद्धान्तों से काफी दूर हटा दिखाई देता है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अनुसार वर्ग-संघर्ष और उसके कारणों के होने पर शांति के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। परन्तु इस उपन्यास के वर्गपरक समाज में भी अहिंसा और प्रेम से शाति की कल्पना की गई है।

हिता और मोद के प्रसङ्ग के द्वारा लेखक तत्कालीन शोषित समाज की पीड़ाओ को चित्रित करता है। हिता और मोद दोनों एक-दूसरे को प्रेम करते है, दोनों विवाह भी करना चाहते हैं, पर दास होने के कारण उन्हे विवाह करने का कोई अधिकार प्राप्त नही है। वे विवाह तभी कर सकते हैं जब वे अदास हो जायें। परन्तु स्वतन्त्र नागरिक होने के लिए या तो राजाज्ञा उनको सहायक बन सकती है या उनके स्वामियो को उन पर व्यय किये गये धन को देकर उन्हे मुक्त किया जा सकता है। हिता अपने प्रणयी को पति-रूप मे पाने के लिए सेठ सौमित्र के षड्यंत्र का शिकार बनती है और महामात्य, महासेनापति आदि की उपेक्षा कर राजेश्वरी अमिता को राजमाता के समीप ले जाती है। 'दिव्या' की ही भाँति 'अमिता' में भी दासों के प्रति होने वाले अमानुषिक व्यवहार को दिखाया गया है। व्यापारी विट्ठल, मोद को इसलिए खिलाता-पिलाता है क्योंकि उसके द्वारा उसे अधिक लाभ की सम्भावना है।

सेठ सौमित्र को अपने व्यापार और धन की चिंता है, इसलिए वह हमेशा आचार्य और महासेनापति की योजनाओ को विफल बनाने का सफल प्रयास करता है तथा आचार्य द्वारा आयोजित महाबलि यज्ञ को बन्द करवाने के लिए महास्थविर जीवक से मिल कर महारानी नदा से निषेधाज्ञा प्रसारित करवाता है। यह जानकर कि उसके व्यापार का अधिकांश लाभ राजकोष मे ले लिया जायगा, अपने अन्य दो व्यापारी साथियो के साथ व्यापार से प्राप्त होने वाले समस्त धन को विहार को समर्पित कर देता है। प्रमाणस्वरूप एक नकली प्रतिज्ञा-पत्र भी तैयार करता है। अर्थ पर प्रभुत्व होने के नाते सेठ का सर्वत्र सम्मान है। सेठ अपने शोषण को यथावत् बनाये रखने के लिए बौद्धधर्म की ओर झुका हुआ दिखाई पड़ता है।

कथानक मे ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षुओ का वर्ग-सघर्ष भी दिखाया गया है। वस्तुतः तत्कालीन ब्राह्मणी सभ्यता भिक्षुओ के कारण अपने विशेषाधिकारो पर प्रहार होते देख, क्षुब्ध हो उठी थी और इसीलिए महामात्य आचार्य सुकठ राज्यसत्ता की रक्षा के लिए और साथ ही साथ गुप्त रूप से ब्राह्मण-वर्ग को इतर जातियों के ऊपर स्थापित करने के लिए कलिंग से बौद्ध-धर्म के प्रभाव को मिटा देना चाहते हैं।

कुल मिलाकर, 'अमिता' मे लेखक मार्क्सवादी सिद्धान्तों से हटकर विश्व-शांति के उपायो पर चिंतन करता दिखाई पडता है और कथानक की मूल निष्पत्ति के आधार पर वह युद्ध का विरोध और प्रेम एव अहिंसा से सचालित समाज की कल्पना करता है।

इसमें दो राय नहीं हो सकती कि यशपाल ने यहाँ मार्क्सवादी दर्शन को छोड़-सा दिया है, परन्तु लेखक के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता का ही प्रमाण है। अतः 'अमिता' में यशपाल साम्यवादी विश्व के राजनीतिक परिवर्तनों से जितना प्रभावित दीखते हैं, उतना मार्क्सवादी सिद्धान्तो से नही। 'अमिता' के रचना-काल मे कम्युनिस्ट ससार उदार होने लगा था; विश्व-शाति का नारा उधर से भी आने लगा था। अतएव 'अमिता' मे उस नारे की अनुगूंज सहज और स्वाभाविक है।

(७) 'झूठा सच' (वतन और देश) (सन् १९५८), और 'झूठा सच' (देश का भविष्य) (सन् १९६०)

कथा-संदर्भ—देश के विभाजन की विस्फोटक घटना को लेकर यशपाल ने अपना बृहद्काय उपन्यास 'झूठा सत्र' दो खण्डो—'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य'—मे प्रस्ततु किया है। 'झूठा सच' का प्रथम खण्ड स्वतंत्रता-पूर्व और स्वतत्रता के समय विभाजन के कारण देश मे होने वाले साम्प्रदायिक उत्पात एव विध्वस को चित्रित करता है। दूसरा खण्ड स्वतन्त्रता के बाद कांग्रस शासन के अन्तर्गत देश की विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओ पर प्रकाश डालता है। स्वतन्त्रता के बाद काग्रेसी नेताओ मे सत्ता के लिए होड मच जाती है और सामान्य जनता मत्रियों और नेताओ के कुशासन की चक्की मे पिसने लगती है। इस यथार्थ का बडा ही व्यंग्यात्मक चित्रण लेखक ने उपन्यास के दूसरे भाग मे किया है।

कथानक-विवेचन—देश के विभाजन की ऐतिहासिक घटना पर 'झूठा सच' के कथानक को आधारित कर यशपाल ने निस्सन्देह महत्वपूर्ण कार्य किया है। विभाजन के मूल में काम करने वाली विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थि-तियाँ कथानक के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद इन परिस्थितियो मे जो परिवर्तन आया, लेखक ने उसे भी उपन्यास मे स्थान दिया है। लाहौर की भोला पांधे गली, जहाँ कथा का सूत्रपात होता है, अपने समाज की ही नहीं, पूरे देश की परम्परावादी प्रवृत्तियो की प्रतीक है। गली के जीवन में जीवन की वही परम्परागत स्थिरता, आबद्धता और जडता दिखाई देती है जो देश के किसी भी दूसरे भाग मे देखी जा सकती थी। नये युग का प्रभाव भी वहाँ धीरे-धीरे छनकर आने लगा था। तारा और जयदेव पुरी अपने पुराने रूढ समाज से प्रभावित, पर उससे अलग और आगे वढे हुए भी दिखाई पडते हैं। खत्री पुरी का ब्राह्मण लडकी कनक के प्रति आकर्षण, प्रेम और विवाह इसी वात का सकेत है, यद्यपि उसका समाज और वह परिवार जहाँ वह जन्मा और पाला-पोसा गया है, स्वच्छद प्रेम-सम्वन्धी किसी भी दृष्टिकोण का विरोधी है। इस प्रकार का परिवर्तन केवल पुरुषो के दृष्टिकोण में ही नहीं, नारी की दृष्टि मे भी

दिखाई पड़ता है। तारा अपने परिवार द्वारा चुने गये पति का विरोध करती है और अपने समाज ही नहीं, अपने धर्म से आगे बढ़कर मुसलमान युवक असद के प्रति समर्पित होने के लिए भी तैयार है। कथानक के ये दोनों प्रमुख पात्र सामाजिक यथार्थ का चित्र अंकित करने में पूर्ण समर्थ है।

उपन्यास में लेखक ने सेक्स, प्रेम, विवाह, अर्थ, राजनीति और धर्म आदि के संदर्भों में सामाजिक यथार्थ के विभिन्न आयामों को चित्रित किया है। यह चित्रण रूढ़, बूर्जुआ समाज के प्रचलित यथार्थ का चित्र बनकर आया है। यह वह समाज है जो जर्जर और खोखला हो गया है तथा विशृंखलता के कगार पर खड़ा है। प्राचीन बूर्जुआ समाज पहले विवाह, फिर प्रेम और सेक्स की बात सोचता है इसलिए तारा को जबर्दस्ती सोमराज के गले बाँधा जाता है। तारा पारिवारिक और सामाजिक दबाव के आगे झुक-कर उसके साथ विवाह कर लेती है, पर उस रूढ धारणा को कभी भी नहीं स्वीकार कर पाती। इसलिए वह सुहागरात को ही सोमराज के निर्मम अत्याचार का विरोध करती है और अवसर मिलने पर उससे मुक्ति पाने के लिए ससुराल से भाग निकलती है। तारा ने कभी भी सोमराज को पति के रूप में नही स्वीकार किया था। उसे और कुछ नही, बदलते हुए सामाजिक यथार्थ का एक रूप ही कहा जा सकता है।

धर्म और राजनीति के कारण ही देश के दो टुकड़े हुए। धार्मिक रूढ़ियाँ और संकुचित राजनीति ने इन दोनों को ऐसा रूप प्रदान किया कि ये दोनो तत्व समाज के साधक तत्व न बनकर विनाशकारी उपकरण सिद्ध हुए। उपन्यास का प्रथम खण्ड लाहौर मे छाये हुए धर्मोन्माद और राजनीतिक सकीर्णता की ओर गहराई से सकेत करता है।

आर्थिक तत्व पहले ही से समाज मे नियामक का काम करता चला आया है। आर्थिक विषमता ही समाज के तमाम संघर्षो के मूल मे दिखाई पड़ती है। देश के विभाजन के मूल में भी लेखक के अनुसार इस तत्व ने कम योग नही दिया। आर्थिक समृद्धि पुराने नैतिक मूल्यो को चुनौती दे सकती हैं। अन्तर्जातीय विवाह तत्कालीन सामाजिक नैतिक दृष्टि से अनुचित था, पर समृद्ध कनक का पुरी के साथ विवाह उस पुराने टूटते हुए मूल्य के लिए एक जबर्दस्त चुनौती कहा जा सकता है। इसी अर्थ की कठोर दीवार ने तारा को सोमराज के साथ विवाह करने के लिए बाध्य कर दिया था। उपन्यास के दूसरे खण्ड मे मिटती हुई आर्थिक दीवारे और सामाजिक रूढ़ियों के घातक विस्फोट भी दिखाई पडते हैं। लाहौर से आया हुआ जनसमुदाय दिल्ली मे अपने श्रम के बल पर नये समाज का निर्माण करता है। इस समाज को अपने श्रम पर भरोसा है और साहस के बल पर ही वह पुराने बंधनों को तोड़कर विजातीय विवाह भी करने के लिए प्रस्तुत है। सीता का विवाह इसी प्रकार का एक कदम है। शीलो अपने पति

मोहन को छोड़कर प्रेमी रतन के यहाँ चली जाती है। इस घटना को लेकर शीलो का भाई तूफान खड़ा कर देता है और पुरी भी तारा पर बरस पड़ता है। पर उस झूठे सम्बन्ध के टूटने मे ही जीवन की सार्थकता दिखाई पड़ती है।

कथानक मे वर्ग-सघर्ष और 'निषेध का निषेध' को अच्छी तरह दिखाया गया है। शोषक और शोषित वर्गो का संघर्ष कथानक के आरभ से दिखाई पडता है। यह संघर्ष कही धार्मिक कटुता के रूप में पनपता है तो कही पूंजीपतियों के बँगलों के वैभवशाली वातावरण में। लाहौर मे पत्रों के मालिक पुरी-जैसे गरीब नौकरो को हटाने से बाज नही आते। देश ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए काग्रेस के नेतृत्व में वर्षों तक सघर्ष किया। उसे इस दिशा मे सफलता भी मिली। पर जिस समाज ने ब्रिटिश साम्राज्य-शाही का निषेध किया, वह असल मे ह्रासशील बूर्जुआ समाज था जो स्वयं अवसर पाने पर दूसरो का शोषण करता है। सूद और पुरी इस समाज के प्रतिनिधि है। सूद और पुरी जैसे ह्रासशील बूर्जुआ शक्तियों का निषेध उपन्यास के अंत मे विकासशील समाजवादी शक्तियों द्वारा होता है। इस वर्ग का नेतृत्व डाक्टर प्राण और तारा करते है। इस प्रकार कथानक मे सामाजिक विकास के लिए 'निषेध का निषेध' सिद्धान्त काम करता है।

आर्थिक शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धो तथा नैतिक मूल्यो के निर्धारण मे निर्णायक भूमिका प्रस्तुत करती है। उपन्यास मे यह सत्य भी प्रकट हुआ है। आर्थिक शक्ति से सम्पन्न पुरी उर्मिला से अवैध सम्बन्ध स्थापित करने पर भी समाज में सम्मान का अधिकारी होता है और राजनीति मे सूद का बायाँ हाथ वन जाता है। यदि तारा और डाक्टर प्राण आर्थिक दृष्टि से निर्वल होते तो वे निश्चित रूप से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर नये नैतिक मूल्यो का निर्धारण नही कर सकते थे। पजाव की राजनीति मे सूद की महत्वपूर्ण भूमिका और उसके कारण सोमराज-सदृश व्यक्तियो को किसी-न-किसी क्षेत्र मे स्थापित करने की नीति आर्थिक स्वार्थों पर निर्भर है।

कथानक मे वर्ग-स्वार्थों का सघर्ष तीन रूपो मे दिखाई पडता है—(१) मुसलमान धार्मिक वर्गों की नीति, (२) हिन्दू धार्मिक वर्गों की नीति, और (३) काग्रेस की विशिष्ट भूमिका। मुसलमान धार्मिक वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए लाहौर से हिन्दुओ को खदेड देना चाहता है। ठीक वही काम दिल्ली आदि स्थानो के हिन्दू भी करते है। काग्रेस दोनो मे समन्वय स्थापित करने के लिए धर्म-निरपेक्षता का नारा बुलन्द करती है और अल्पसख्यक मुसलमानो के प्रति किंचित सहृदयता भी दिखाती है। उसका परिणाम भी दोनों विरोधी धर्मों मे संघर्ष ही होता है।

नर-नारी सम्बन्ध विषयक धारणाओं में लेखक ने प्रगतिशील मान्यताओ की स्थापना की है। ईमानदार, मुक्त और स्वतन्त्र सम्बन्ध स्थापित करके लेखक ने मध्य-

वर्गीय बूर्जुआ समाज की सेक्स सम्बन्धी नैतिकता का पर्दाफाश किया है। कनक का पुरी से अलग होकर गिल के प्रति समर्पित होना, तारा का अर्थहीन विवाह की चिन्ता छोड़कर डाक्टर प्राण के साथ विवाह करना समाजवादी धारणाओं के अनुकूल है।

मार्क्सवादी दृष्टि से इस प्रकार के प्रगतिशील कदम स्तुत्य हैं। पर कुल मिला कर लेखक मार्क्सवादी धारणाओं का आंशिक आरोप ही उपन्यास मे कर पाया है और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सिद्धान्त का इतने विशाल, विस्तृत फलक पर और अत्यन्त उलझे सन्दर्भ मे पूर्ण निर्वाह सम्भव नही है। अतएव समाजवादी धारणाओ और कतिपय निष्कर्षों के अनुरूप चित्रण, कथा-मोड़ और निष्पत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। लेखक आग्रहपूर्वक पूरे उपन्यास मे दो बातों पर फोकस डालता है—सेक्स और राजनीति। सेक्स की दृष्टि से लेखक कनक को स्वतन्त्र व्यक्तित्व देना चाहता था। इस लिए उसने पुरी के चरित्र मे अनेक मोड उपस्थित किये हैं। पुरी का तारा के प्रति विरोधी रुख, पिता से उलझना और कनक को भी फिर फटकार देना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो कनक को गिल की ओर बढ़ाती हैं। राजनीतिक दृष्टि से लेखक कांग्रेस शासन की पूर्ण निन्दा करने और सूद-पुरी जैसे कांग्रेसियों की पराजय दिखाने के लिए 'कांग्रेसमैन' के व्यक्तित्व के विकास का फार्मूला लेकर चलता है। आरम्भ में लेखक 'कांग्रेसमैन' को आंशिक रूप से विद्रोही और त्यागपूर्ण दिखाता है। उसे आगे चलकर संघर्षो में विजयी होते हुए प्रस्तुत करता है। परन्तु उपलब्धि के शिखर पर पहुँच कर वह स्वार्थ और षड्यन्त्र का शिकार बन जाता है, फलतः जन-विरोधी रोल अपनाता है और अन्त में पतन के कगार पर खडा दिखाई पडता है। ठीक इसके विपरीत लेखक ने मार्क्सवादी पात्रों को प्रस्तुत किया है। वे विद्रोही और संघर्षशील ही नही, जनशक्ति मे विश्वास रखने वाले हैं। सूद यदि कांग्रेसमैन के व्यक्तित्व का प्रतीक है तो डाक्टर प्राण मार्क्सवादी पात्र है। अन्त में लेखक मार्क्सवादी पात्र को कांग्रेस पर विजयी दिखाने में सफल हुआ है।

(८) 'बारह घण्टे' (सन् १९६२)

कथा-सन्दर्भ—'बारह घण्टे' मे प्रेम और दाम्पत्य निष्ठा के परम्परागत स्वरूप पर प्रहार करने के लिए लेखक ने विनी और फेटम की काल्पनिक कथा का आयोजन किया है। प्रस्तुत उपन्यास मे जीवन में प्रेम को प्राकृतिक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है।

कथा-विवेचन—आलोच्य उपन्यास में लेखक ने विनी और फेटम के जीवन की बारह घण्टों की कथा कही है। विनी अपने स्वर्गीय पति की स्मृतियो में और फेंटम अपनी स्वर्गीया पत्नी की याद में डूबे हुए हैं। समान परिस्थिति वाले दोनो वियोगी

धीरे-धीरे एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते है, दोनो एक-दूसरे की व्यथा मे सहारा खोजते हैं और अन्त में दोनो एक-दूसरे के इतना निकट आ जाते हैं कि वे एक-दूसरे से अलग होने की कल्पना भी नही कर सकते ।

विनी और फेटम के आकर्षण के मूल मे सेक्स की भावना वर्तमान है । सेक्स जीवन की मूलभूत आवश्यकता है । सेक्स के बाद प्रेम और विवाह का स्थान आता है। जीवन के मूल मे सेक्स है और उसके चारो ओर ही प्रेम, विवाह और उनसे सम्बन्धित नैतिक मान्यताएँ 'सुपर स्ट्रक्चर' के रूप मे कार्य करती है । 'बारह घण्टे' मे यशपाल ने सेक्स, प्रेम और विवाह के इसी क्रम को विनी और फेटम के आकर्षण और प्रेम के रूप मे दिखाया है । बूर्जुआ समाज मे यह क्रम उलट जाता है । वहाँ पहले नैतिक मान्यताएँ आती हैं, फिर विवाह के रूप मे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होता है, अन्त मे प्रेम और सेक्स । यशपाल का लक्ष्य इस उपन्यास मे बूर्जुआ समाज की नैतिकता का खण्डन करना और उसके स्थान पर मार्क्सवादी नैतिकता की स्थापना करना है । मार्क्सवादी दृष्टि से विनी और फेटम का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण सहज और स्वाभाविक है परन्तु परम्परागत बूर्जुआ समाज मे यह सम्बन्ध अनैतिक और भ्रष्ट है ।

जीवन मे सेक्स, प्रेम और विवाह का जो क्रम है, वह सिद्धान्ततः उपन्यास में ठीक विन्यस्त है । मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्तियो का स्वच्छन्द सम्बन्ध केवल समाजवादी समाज में स्वाभाविक होता है, बूर्जुआ समाज मे नही । परन्तु यशपाल ने इस मूल सिद्धान्त को समाजवादी समाज मे नही, बूर्जुआ समाज में प्रस्तुत किया है जहाँ विधवा विनी का फेटम के प्रति समर्पण की कल्पना भी नही की जा सकती है । अतएव सिद्धान्त के प्रस्तुतीकरण मे असगति है ।

मार्क्सवादी परिवर्तन को पदार्थ की स्वाभाविक विशेषता मानता है, परन्तु उपन्यास मे परिवर्तन की प्रक्रिया सहज और स्वाभाविक नही है । परिवर्तन रूढियो के गलने में, न कि उनके सहसा टूटने मे दिखाई पडता है । 'बारह घण्टे मे लेखक ने विनी और फेटम के सहसा आकर्षण के माध्यम से परम्परागत वैवाहिक रूढि को तोड़ देना चाहा है । मार्क्सवाद सुधार मे नही, क्रांति में विश्वास करता है । क्राति के लिए परिस्थितियाँ धीरे-धीरे जुटती है, जैसे पानी सचित होता रहता है और एक स्थिति पर जाकर बाँध टूटता है । यद्यपि क्रांति का क्षण एक ही है, पर उस तक पहुँचने की प्रक्रिया उतनी क्षणिक नही होती । प्रस्तुत उपन्यास मे क्रान्ति की प्रक्रिया अत्यधिक क्षणिक दिखाई गई है इसलिए क्रांति का चित्रण कलात्मक दृष्टि से तो अटपटा लगता ही है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी परिवर्तन के सामान्य नियमों के अनुकूल नही है ।

'बारह घण्टे' मे परिवर्तन का सिद्धान्त मार्क्सीय अवश्य है, पर प्रयोग अकलात्मक है । इसमे सिद्धान्त जीवन के द्वारा व्यंग्य नहीं, घटित के ऊपर आरोपित है । इसलिए

कथानक का यथार्थ, सिद्धान्त की चोट से विकलाग हो उठा है। और चूँकि यह भी मार्क्सवादी कला का अभिप्रेत नही है, इसलिए उपन्यास की शक्ति और लेखक का वक्तव्य पूर्णतः प्रभावशाली नही हो पाया है।

(६) 'अप्स[illegible] का श्राप' (सन् १९६५)

कथा-सन्दर्भ—'अप्सरा का श्राप' की मूलकथा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुतल' पर आधारित है। लेखक ने नाटक की कथा को युग के सन्दर्भ मे प्रस्तुत करने के लिए उसमें अनेक परिवर्तन किये है। शकुतला की पुरानी कथा को मार्क्सवादी दृष्टि-कोण से प्रस्तुत करने का प्रयास है, अतः यशपाल कालिदास के पुराने आख्यान और उसके पात्रो को ज्यो-का-त्यों नही स्वीकार कर सकते थे।

कथा-विवेचन—'अप्सरा का श्राप' की कथा सम्राट् दुष्यन्त और उसकी प्रेयसी शकुतला की कथा है। दुष्यंत शक्तिशाली सामन्त है। वह अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए नारी का किसी भी रूप मे शोषण कर सकता है। असल में नारी उसके लिए भोग्या है। शकुन्तला के रूप-लावण्य से प्रभावित होकर वह उसे पाने के लिए अपने राजसी वैभव तक का प्रयोग करता है। उसके यौवन का भोग करने के लिए वह उसके साथ गन्धर्व विवाह करता है, पर बाद मे राजनीतिक स्वार्थो के कारण वह उसे पहचानता तक नही। रानी सुलक्षणा के गर्भ से मृत शिशु को पाकर वह पुनः शकुन्तला की याद करता है, वह भी केवल इसलिए कि उसे राज्य के लिए एक उत्तराधिकारी चाहिए और सम्भवतः शकुलता से ही उसकी यह आशा पूर्ण हो सकती थी।

महाराज कश्यप के आश्रम मे शकुन्तला और उसके पुत्र को देखकर वह पुनः अपने पतिविहित अधिकारों के नाम पर शकुन्तला को पाने का प्रयास करता है। शकुन्तला भी पतिव्रता का आदर्श अपना कर पति के आदेशो के अनुसार उसका अनु-सरण करना अपना सौभाग्य समझती है। वस्तुतः 'शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रेम और विवाह पर आधारित कथानक परम्परागत सामन्ती समाज का खोखला आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस आदर्श के अन्तर्गत स्त्रियों के लिए पातिव्रत धर्म से बढ़ कर दूसरा कोई धर्म नही था। पर इस आदर्श की कल्पना भी पुरुषो द्वारा ही की गई थी। पुरुषो ने अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए इस आदर्श को नारी पर थोपा था। अतएव यह आदर्श एकांगी और वर्ग-स्वार्थ पर आधारित है। इसके द्वारा शक्तिशाली पुरुष, नारी का हर तरह से शोषण कर सकता है, जैसा कि दुष्यन्त ने शकुन्तला का किया। दुष्यन्त अपनी शक्ति और किसी-न-किसी आदर्श की आड़ मे शकुन्तला का भोग करता है, उसके साथ किये गये विवाह को अस्वीकृत करता है तथा अन्त में उसे पुनः ग्रहण भी करता है। शकुन्तला के मौन में शक्तिशाली शोषक पुरुष के उपभोग की

लालसा दिखाई पड़ती है, विवाह की अस्वीकृति में राजनीतिक स्वार्थ है और पुनः उसके ग्रहण मे उत्तराधिकारी की प्राप्ति का मोह है।

भारतीय आदर्श का श्रेष्ठतम, शुद्ध उज्ज्वल रूप प्राचीन आश्रम मे मिल सकता है। पर वह आदर्श, दर्शन और आध्यात्मिक साधना के सहारे के बावजूद अत्यन्त दुर्बल है, क्योंकि भीतर से खोखला है। शरीर के स्वाभाविक आकर्षण के सामने वह पराजित है। महर्षि कण्व के आश्रम में पली शकुन्तला दुष्यन्त के सामने समस्त दार्शनिक और आध्यात्मिक शिक्षा को भूलकर सेक्स की पीडा से सत्रस्त हो उठती है। शकुन्तला के समर्पण में सेक्स की ही प्रधानता दिखाई पडती है।

सामन्ती समाज में धर्म, नीति आदि सामन्त की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं। वे स्वतंत्र नही हैं। अर्थ और राजनीति का नियता ही वस्तुतः धर्म और नैतिकता का नियंता हो जाता है। इसलिए वर्णाश्रम धर्म अपने आदर्श युग के आदर्श रूप मे भी कितना जर्जर था, इसका प्रमाण दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किये गये अपमानजनक व्यवहार मे दिखाई पड़ता है। धर्म और नीति का ढोल पीटनेवाला दुष्यन्त अपनी सत्ता और सामर्थ्य के बल पर उलटे शकुतला को अनैतिक और अधार्मिक कार्यों का दोषी ठहराता है।

प्राचीन काल मे आदर्शों की सृष्टि शोषण के साधन के रूप में की जाती थी। पुरातन लोग जिसका शोषण करना चाहते थे, उसके मस्तिष्क को शोषण की पीड़ा सहने के लिए पहले से तैयार कर लेते थे। वह एक प्रकार का 'ब्रेन वाशिंग' था। यह शोषण आदर्श, उत्सर्ग और त्याग आदि के रमणीय अभिधानो के नीचे पलता था। पतिव्रता का आदर्श उन्ही मे से एक था।

कथानक मे मेनका लेखक के दृष्टिकोण की प्रवक्ता है। वह स्वतंत्र नारी जीवन की प्रतीक भी है। वह अपनी बेटी शकुन्तला को पतिव्रता के झूठे बधन को तोडकर स्वतत्र, आत्मनिर्भर जीवन अपनाने के लिए सलाह देती है। वह व्यंग्यपूर्वक कहती है कि, "पतिव्रता होना वस्तुतः नारीत्व के अधिकारो का हनन है। पातिव्रत कोई आदर्श नही है, पुरुष द्वारा शोषण का साधक उपकरण है जो नैतिक आदर्श के रूप मे शोषित के ऊपर लाद दिया जाता है।"[1]

—:o:—

१. अप्सरा का श्राप, पृ० ८६

अध्याय पांच :: पात्र

१. व्यक्ति और व्यक्तित्व

व्यक्तित्व व्यक्ति का वह वैशिष्ट्य है जो जीवन और जगत के प्रति उसके विचारों, उसकी कार्य-प्रणाली, उसकी मनोवृत्ति, उसकी रुचि और उसके दृष्टिकोण से प्रकट होता है। व्यक्तित्व स्वयं मे भले ही अच्छा या बुरा न हो, परन्तु दूसरे के लिए वह कभी रुचिकर और कभी अरुचिकर भी हुआ करता है। व्यक्तित्व ही के कारण व्यक्ति अपने मित्रो एवं समाज के बीच कभी सम्मानित और कभी तिरस्कृत होता है। सामान्यतः व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समाज मे होती है, पर उसे केवल सामाजिक जीवन तक ही सीमित कर देना उचित नही है। कभी-कभी इसकी झलक व्यक्ति के भीतर भी दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए, चिड़चिडा व्यक्ति अपने आपसे झगडता है और अध्यवसायी व्यक्ति अकेले रहने पर भी व्यस्त रहता है। कुछ लोग मित्रो एव समाज से दूर हटकर, किसी एकान्त में, पर्याप्त सुविधा का अनुभव करते हैं। निष्कर्ष यह कि व्यक्तित्व व्यक्ति का वह स्थायी गुण है जो कभी मित्रों के बीच, कभी अकेले में, अभिव्यक्ति पाता रहता है। किसी व्यक्ति को देखकर उसे जिन्दादिल, चिडचिडा या अध्यवसायी कहने का अर्थ यही होता है कि ये गुण या विशेषताएँ भले ही सप्रति उसमे अप्रकट हो, उसके व्यक्तित्व मे विद्यमान हैं।

२. व्यक्तित्व के आयाम

व्यक्तित्व मूलतः दो प्रकार का होता है—वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। वहिर्मुखी व्यक्तित्व से तात्पर्य है ऐसा व्यक्तित्व जो वाह्य जगत् में सक्रिय रुचि रखता है। इस प्रकार के व्यक्तित्व से सम्पन्न व्यक्ति जगत् को अधिक महत्व देता है। वहिर्मुखी व्यक्ति वर्तमान मे विश्वास रखता है और तात्कालिक सफलता-असफलता को ही विशेष महत्व देता है। दूसरी तरफ, व्यक्तित्व की अन्तर्मुखता व्यक्ति को अपनी ही आन्तरिक वृत्तियो में रमने के लिए प्रेरित करती है। यह वृत्ति व्यक्ति मे अपने ही विचारो, अनुभूतियो और आदर्शों के प्रति, मुख्य रूप से, रुचि उत्पन्न करती है और ऐसा व्यक्ति इनको ही महत्व देता है। वह वर्तमान में न रहकर भविष्य के सपने सँजोता है, काल्पनिक योजनाओं का निर्माण करता है और अपने ही आदर्शों एव भावनाओं की गरिमा में डूबता-उतराता है। परन्तु वहिर्मुखी व्यक्ति प्रत्यक्ष भौतिक जगत् के संघर्षो में आनन्द का अनुभव करता

है। सारांशतः, बहिर्मुखी व्यक्तित्व व्यावहारिक, क्रियाशील और किसी भी निर्णय पर पहुँचने मे शीघ्रता प्रदर्शित करने वाला होता है, और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व अपनी आत्मा के निर्देशों की चिन्ता करने वाला, काल्पनिक जगत् के ऊहापोह मे निमग्न, किसी भी निर्णय पर पहुँचने के पहले अत्यधिक सोचता-विचारता और हिचकिचाता हुआ लक्षित होता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के तीन प्रमुख गुण है—

१. काम करने की अपेक्षा सोचते रहने की प्रवृत्ति;

२. सामाजिक जीवन की अपेक्षा ऐकातिक जीवन की प्रवृत्ति, और

३. जीवन में केवल निराशा और क्षोभ-चिन्ता अनुभव करते रहने की प्रवृत्ति।

व्यक्ति बाह्य जीवन में अपने क्रिया-कलापो द्वारा अपने व्यक्तित्व की विभिन्न विशिष्टताओं को ही प्रकट करता है। व्यक्ति का वह आचरण ही चरित्र है, जिसके माध्यम से उसका व्यक्तित्व उभरता है। उसका यह आचरण अच्छा या बुरा हो सकता है, समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शो के अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। व्यक्ति का यह चरित्र वस्तुतः उसके व्यक्तित्व के बाह्य एव आंतरिक गुणो का ही संघटन है। मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसका आकार-प्रकार, उसकी वेश-भूषा, उसके आचार-व्यवहार, उसके रहन-सहन के ढग और कार्यकलाप आते हैं। उसके आन्तरिक पक्ष में व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं। इसीलिए सुप्रसिद्ध शिक्षा-मनोवैज्ञानिक रास का मत है कि, "चरित्र हमारी मूल प्रवृत्तियो और स्थायी भावो का वह सम्मिलित रूप है जो व्यक्ति के जीवन को परिचालित किया करता है। इसकी पूर्णता या शिथिलता पर ही चरित्र की सबलता और दुर्बलता निर्भर करती है।"[१] मूल प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के भीतर पाई जाने वाली, जन्मजात, मानसिक वृत्तियाँ है। मैगड्यूगल ने चौदह प्रकार की मूल प्रवृत्तियो की ओर सकेत किया है—सतान-कामना, युयुत्सा, कुतूहल, योजनान्वेषण, विरक्ति, पलायन, सामूहिकता, आत्म-गौरव, दैन्य, काम-प्रवृत्ति, विधायक-वृत्ति, शरणागति, हास-वृत्ति आदि। इन्ही से सम्बद्ध वात्सल्य-स्नेह, क्रोध, आश्चर्य, भूख, प्यास तथा घृणा आदि चौदह सवेग भी उसने माने है।[२] चरित्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एब्बाट ने कहा है कि मनुष्य जो कुछ है, वही उसका चरित्र है। मनुष्य क्या है, इस पर प्रकाश डालते हुए लेब्निज ने मनुष्य को 'व्यक्ति' की सज्ञा देकर उसे पशुओ से पृथक् कर दिया है।[३] प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। हर व्यक्ति का चरित्र अपना होता है। यही चरित्र उसे दूसरों से अलग करता है, अन्यथा अन्य मनुष्यो की भाँति उसके भी नाक-कान, हाथ-पाँव, मन-

---

१. रास : एजुकेशनल सायकोलाजी, पृ० १२६

२. वही, पृ० ५६-६२

३. अर्जुन चौबे कश्यप : सामान्य मनोविज्ञान, पृ० ७४७

बुद्धि और प्राण-तत्व आदि होते हैं। मनुष्य को 'व्यक्ति' कहते हुए लेब्निज़ ने यह भी कहा है कि वह प्रज्ञात्मक, आत्मचेतन, सतत गतिशील, अनिर्वचनीय तथा अद्भुत सत्व है।' इस प्रकार लेब्निज़ के अनुसार व्यक्ति की सर्वाधिक विशेषता उसकी प्रज्ञात्मकता अर्थात् बौद्धिकता और आत्म-चेतनता है। अपनी चेतनता और बुद्धि के कारण वह पशुओं से ही नहीं, दूसरे व्यक्तियों से भी भिन्न होता है। व्यक्ति की आत्म-चेतना का अधिष्ठान उसका अन्तःकरण होता है। यह अन्तःकरण स्वयं विकसनशील है और विकास की विभिन्न दिशाओं का ग्रहण व्यक्ति के भीतर सशक्त व्यक्तित्व को जन्म देता है। यह अन्तःकरण ही उसका मूल चरित्र है। व्यक्ति के क्रिया-कलाप उसके प्रकाशन मात्र हैं। व्यक्ति के इस अन्तःकरण को कार्य-कारण के नियमों मे नही बाँधा जा सकता। उसके क्रिया-कलापों के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित अनुमान भी नही लगाया जा सकता है। वस्तुतः चरित्र का वह एक विलक्षण तत्व है। इसीलिए उसकी परिभाषा देते हुए अपने एक लेख 'प्लाट और कैरेक्टर' के अन्त मे प्रसिद्ध अमरीकी आलोचक एग्री ने हार मानते हुए कहा है—"चरित्र वह उपादान है जिसके गुणों (वर्चूज़) का अभी तक पता नही चल सका।" चरित्र को परिभाषा मे बाँधते हुए इसी लेख मे उसने माना है कि तथाकथित 'भीतरी प्रकृति', वह आत्मा जो न जानी जा सकने वाली प्रतीत होती है, ही चरित्र है—इससे न कुछ कम और न अधिक।

३. साहित्य में व्यक्तित्व की व्यंजना

साहित्य-सर्जना का सम्बन्ध कलाकार से होता है और साहित्य का ग्रहीता पाठक-वर्ग होता है, अतएव साहित्य के केन्द्र-विन्दु से व्यक्ति का निष्कासन असभव है। साहित्य भावनाओ का प्रकाशन है। कलाकार की ये भावनाएँ किसी साहित्यिक विधा मे सीधे अभिव्यक्ति पाती हैं और किसी मे वाह्य जगत् के किसी व्यक्ति के माध्यम से। कविता साहित्य की प्राचीनतम विधा है। मुक्तक अथवा आधुनिक प्रगीत-काव्य मे अपेक्षाकृत भावतत्व की प्रधानता होती है। इसमें कवि के अन्तर्मन की व्यजना सीधे होती है। वह अपने सुख-दुःख और आशा-आकांक्षा की अभिव्यक्ति किसी वाह्य साधना का आश्रय ग्रहण किये विना प्रत्यक्ष रूप से करता है। काव्य मे कवि का प्रमुख ध्येय आत्म-प्रकाशन होता है। वह अपने अहं की व्यंजना के लिए आकुलता का अनुभव करता है। साहित्यकार को साहित्य-सृजन कर लेने के वाद आनन्द का अनुभव इसीलिए होता है कि वह अपनी उक्त आकुलता को, अपने-आप को, प्रकट कर लेता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर विश्व के अनेक चिन्तको और कलाकारो ने साहित्य को आत्माभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का प्रमुख तत्व मानता है। इसी से मिलता-जुलता प्रसाद जी का मत है—"आत्मा की संकल्पात्मक

अनुभूति ही काव्य है।"[1] इस प्रकार काव्य के धरातल पर कलाकार के व्यक्तित्व से पाठक का सीधा परिचय होता है। यहाँ पाठक और कवि के बीच कोई तीसरा सम्बन्ध-सूत्र नहीं होता। कवि अपनी धारणाएँ एवं मान्यताएँ लेकर सीधा पाठक के समक्ष उपस्थित होता है।

यह तो हुई आत्माभिव्यंजक साहित्य की बात। इसके अतिरिक्त साहित्य के अन्य रचना-प्रकार भी होते है और जिनमे रचनाकार अपनी बात सीधे न कहकर, बाह्य जगत् के किसी व्यक्ति के माध्यम से कहता है। प्रबन्ध-काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि इसी प्रकार के साहित्यांग हैं। इनमे प्रत्यक्षतः तो कथा-निबद्ध पात्र की आशा-आकांक्षाएँ, सुख-दुःख चित्रित दिखते है, पर इन सबके भीतर कलाकार और उसका व्यक्तित्व अतर्निहित रहता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि रचना के प्रमुख पात्र के रूप में रचनाकार का व्यक्तित्व अभिव्यजित होता है, पर ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनके प्रमुख पात्र लेखक के विचारों के प्रमुख प्रवक्ता नही होते। ऐसी रचनाएँ कलात्मक निःसंगता की सर्वोत्कृष्ट उदाहरण होती है। पर इनमें भी कलाकार का व्यक्तित्व बिल्कुल सन्निहित न हो, ऐसा नही। सम्पूर्ण कथा की जो व्यंजना होती हैं, उसमे लेखक का दृष्टिकोण अन्तर्निहित रहता है। यशपाल का 'झूठा सच' ऐसी ही रचना है।

ठीक इसके विपरीत जब कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो का प्रकाशन करता है तो उसकी आत्माभिव्यक्ति मे लोकाभिव्यक्ति भी छिपी रहतीहै, क्योंकि कवि की अनुभूतियाँ एकदम निराधार और बायवी तो होती नही, लोक-जीवन के संघर्ष और सुख-दुःख एवं लेखक की तज्जन्य आन्तरिक हलचल ही उसकी अनुभूतियों का मूल कारण होती है। इसी बिन्दु पर पहुँचकर सम्प्रेषणीयता का प्रश्न भी उठता है। लेखक आत्माभिव्यक्ति सिर्फ आत्माभिव्यक्ति के लिएं नही करता, वह अपनी बात पाठक तक पहुँचाना चाहता है। सम्प्रेषण का प्रश्न कृति को सामाजिकता से जोड देता है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि आत्माभिव्यक्ति मे लोकाभिव्यक्ति छिपी रहती है। बिल्कुल लोक-विमुख रचना पाठक के लिए स्वीकार्य हो ही नही सकती। लोक-विमुखता रचना को अर्थहीन और निरर्थक बना देती है।

४. व्यक्तित्व और मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवाद की मान्यता है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता। वह समाज-निरपेक्ष प्राणी नही है। फलतः साहित्य में जिस व्यक्ति की व्यंजना होती है, वह अटूट रूप से सामाजिक सन्दर्भों से जुडा होता है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार आज

---

१. काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १६

तक का समाज वर्गों मे विभक्त रहा है। इतिहास के प्रत्येक काल-खंड में स्पष्टतः शोषक और शोषित, दो वर्ग रहे हैं। सामन्ती युग का समाज सामन्त और किसान वर्गों मे विभाजित था। पूंजीवादी युग मे आकर सामन्त वर्ग का स्थानापन्न पूंजीपति वर्ग बन बैठा। विश्व के अधिकाश देशों मे आज पूंजीवादी सभ्यता का आधिपत्य है, मेहनतकश सर्वहारा वर्ग सत्ता छीन लेने के लिए प्रयत्नशील है। देश के औद्योगीकरण ने मध्यवर्ग को जन्म दिया है, जिसके भीतर भी उच्च-मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग दो स्पष्ट भेद नजर आ रहे हैं। मार्क्सवाद मानता है कि समाज के हर व्यक्ति का सम्बन्ध अस्थायी रूप से किसी वर्ग-विशेष से होता है। परन्तु एक वर्ग मे दूसरे वर्ग में व्यक्ति के स्थानान्तरण की प्रक्रिया भी अपने ढग से चलती रहती है। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य मे चित्रित पात्र सामन्ती समाज से सम्बद्ध होने पर सामन्त होगा या किसान। वैसे ही पूंजीवादी समाज से सम्बद्ध होने पर (वह) पूंजीपति होगा अथवा मध्यवर्गीय या श्रमिक किसान।

सामन्ती समाज के चित्रण में पात्र यदि सामन्त हुआ तो उसका रूप सामन्ती आडम्बर और गम्भीरता लिये होगा। उसका बाहरी रूप, आचरण-व्यवहार सब इतने गुरूडम से पूर्ण होते है कि गरीब किसान उसे देखते ही सन्त्रस्त हो उठते है। उसकी कथाकथित महानता और बड़प्पन का प्रभाव किसानो पर ऐसा पडता है कि वे उसे इस धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर उसके सम्मुख अपने को समर्पित कर देते हैं। किसानों का यह समर्पण इतना भयानक होता है कि सामन्त के विकट-से-विकट शोषण, जुल्म और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने की बात वे कभी सोच भी नही सकते। और उनमे से यदि कोई सोचे भी, तो सामन्त उसे मसलकर समूल नष्ट कर देता है। सामन्त के समानान्तर किसान का चित्रण उसकी वर्गीय विशिष्टताओं के साथ होता है। वह अत्यन्त गरीब और दु:ख-दैन्य की मार से आहत, जीवन से निराश-सा दिखाई देता है। तथाकथित धर्म उसे पग-पग पर प्रवंचित करता रहता है, फिर भी वह उसी धर्म से चिपका रहता है। आडम्बरों और पाखण्डो तथा मिथ्या विश्वासों के वृत्त से बाहर जाने को वह जैसे पाप मानता है। अपने ही वर्ग के दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार मे उसकी बुद्धिमत्ता और प्रखरता की कोई सीमा नही, पर सामन्त एवं तथाकथित धर्म के सम्मुख उसका विवेक, बुद्धि और समझदारी लुप्त हो जाती है।

पूंजीवादी समाज के चित्रण मे पात्र यदि पूंजीपति हुआ तो उसका पहला रूप व्यावसायिक बुद्धिवाले शोषक का होगा। उस शोषक का यह रूप कानून और न्याय के आवरण मे छिपा रहता है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार की बात वह न्याय की दुहाई देकर करता हुआ दिखाई पडता है। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता-सम्बन्धी कानून की सहायता लेकर ही पूंजी-विनियोग और अतिरिक्त लाभ की बात करता है। सामन्तों की

तुलना में वह मजदूर को अधिक मजदूरी और सुविधाएँ देकर सामन्तों के मुकाबले अपने को अधिक मानवतावादी सिद्ध करता है, पर मजदूरी और पारिश्रमिक भी उतना ही देता है जिससे मजदूर अपनी श्रमिक-अवस्था से कभी उबरने न पाये। साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसे मजदूरी इतनी कम भी न मिले कि वह मर ही जाये। वह मर गया तो फिर कारखाने मे उत्पादन कौन करेगा? इस प्रकार भीतर से वह अत्यन्त कुटिल होता है और बाहर से मानवतावादी बनने का स्वाग रचता है। इस स्वाग को न्याय-सगत दिखाने के लिए वह धर्म की भी सहायता लेता है। पर धर्म-कार्य वह वस्तुतः धर्म-सम्पादन के लिए नही, शोषण की अमानवीयता और क्रूरता को छिपाने के लिए करता है।

पूंजीवादी समाज को चित्रित करने वाली रचना मे पूंजीपति के साथ ही सर्वहारा वर्ग का भी चित्रण मिलेगा। अपने ग्रामीण परिवेश से दूर आ जाने के कारण मजदूर बहुत सीमा तक ग्रामीण सस्कारो और तथाकथित धर्म की मिथ्या आस्थाओ एव अन्ध-विश्वासो से मुक्त दिखाई पड़ता है। इसीलिए कारखाने का मजदूर अपने पूंजीपति मालिक के साथ वैसा ही व्यवहार नही करता, जैसा सामन्त-मालिक के प्रति किसान और खेतिहर-श्रमिक करता था। नगर में उपलब्ध नवीन जानकारियों के कारण वह अपने अधिकारो की माँग करता हुआ दिखाई पड़ता है। पूंजीपति के शोषण से क्षुब्ध होकर वह मजदूर-सगठनो और ट्रेड-यूनियनो के माध्यम से हडताले करता हुआ नजर आता है। एडी-चोटी का पसीना एक करके वह उत्पादन करता है, पर उत्पादन का लाभ उसके श्रम को नही मिलता। परिणामतः निराशा, कुण्ठा और क्षोभ उसकी नस-नस मे भर जाते हैं, जिससे वह मानसिक दृष्टि से असतुलन की अवस्था मे रहता है। असन्तुलन की इस घातक स्थिति से मुक्ति पाने के लिए वह मदिरापान-जैसे अस्वस्थ कार्य करता है। घर लौटकर उन्मत्तता की अवस्था में वह पत्नी और बाल-बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार करता है जो कभी-कभी अमानवीयता की सीमा तक पहुँचे हुए मालूम पड़ते हैं।

इन दोनो वर्गों के बीच मध्यवर्ग नामक एक तीसरा वर्ग भी इन रचनाओ मे होता है। मार्क्सवाद के अनुसार, "तर्क और सिद्धान्त रूप से मध्यम श्रेणी—जैसे किसी स्तर का बने रहना सम्भव नही।.......परन्तु जीवन की अवस्था के दृष्टिकोण से एक ऐसा स्तर समाज के बुद्धिजीवी लोगो का है, जो पैदावार के साधनो से हीन है, जो अपनी श्रम-शक्ति बेचकर ही जीविका पाते हैं, परन्तु उनका श्रम बुद्धि का या कलम चलाने का है, हथौडा या हँसिया चलाने का नही।"[1] ऐसे ही लोग मध्यवर्ग मे आते है। ये

१. यशपाल : मार्क्सवाद, पृष्ठ १७३

विवशता के दोहरे पाटों मे पिसते रहते हैं। बुद्धिजीवी होने के कारण मजदूरों की तुलना में ये अधिक परिष्कृत और महत्वाकांक्षी होते हैं। पर आय के साधन अत्यन्त सीमित होने के कारण ये अपनी महत्वाकांक्षाएँ किसी भी तरह पूरी नही कर पाते। अपनी शिक्षा-दीक्षा और ज्ञान के बल से ये ऐसी नौकरियाँ पा लेते हैं कि जीवन की बाह्य कुरूपताओ को अपनी सफेदपोशी के आवरण मे बहुत हद तक छिपा लेते हैं, पर यह सफेदपोशी ही उनका सबसे बडा संकट बन जाती है। पूंजीपति मजदूरो के मुकाबले इन्हे इतनी सुविधाएँ देता है कि उसी प्रलोभन मे फँसकर ये पडे रहते हैं। प्रतिष्ठा और सम्मान की मिथ्या धारणा इस वर्ग के लोगों मे ऐसी होती है कि उसे बनाये रखने के लिए वे अपनी क्षमता और सामर्थ्य का विचार न कर आवश्यकता से अधिक खर्च कर देते हैं, जो उनकी तबाही का कारण बनता है। पूंजीपति इनको थोड़ा-अधिक देकर अपने चगुल में इस तरह कस लेते है कि वर्तमान व्यवस्था से भीतर-ही-भीतर असन्तुष्ट होकर भी ये क्राति की ओर कदम नही बढ़ा पाते।

मार्क्सवाद के अनुसार पात्रों के ये कुछ वर्ग हैं जो अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ साहित्य मे अभिव्यक्ति पाते हैं।

५. उपन्यास और व्यक्तित्व

उपन्यास वैज्ञानिक युग की उपज है। वह यथार्थ का वाहक है। आज के जटिल एवं संश्लिप्ट जीवन को सफल अभिव्यक्ति देने के लिए उपन्यास का जन्म हुआ। उपन्यास और जीवन के अटूट सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास ने उपन्यास को मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा कहा है।[1] उपन्यास जीवन के यथार्थ से विच्छिन्न हो ही नही सकता। यदि वह जीवन से दूर हट कर केवल कल्पना-लोक की वस्तु बन जाये तो उसकी गणना गप्प के रूप मे होगी। प्रेमचन्द जी उपन्यास को मानव-जीवन का चित्र-मात्र मानते थे। उपन्यास का मुख्य विषय मानव और उसका चरित्र है। उपन्यासकार मानव-जीवन की मीमांसा करता है, वह मानव-मन के अन्तर्तम मे प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिक भाव-धाराओ का विश्लेषण करता है। उपन्यास-लेखक उपन्यास मे पात्र के विकास में सहायक या बाधक सम्पूर्ण वातावरण एवं परिस्थितियो का चित्रण करता है।

उपन्यासकार अपने पात्रो का चयन आवश्यकतानुसार वर्तमान समाज अथवा इतिहास-पुराण के पृष्ठो से करता है। पात्र-निर्माण मे ही लेखक की कल्पना-शक्ति की

---

१. साहित्यालोचन, पृ० १४७

परीक्षा होती है। पात्रों की सृष्टि उपन्यासकार स्वयं करता है, वह उनका जनक है, पर लेखक उन्हें अपनी इच्छानुसार हिला-डुला नही सकता। पात्र उपन्यास मे जीवन्त शक्ति होते हैं। वे हाड-मांस के जड़ पिण्ड नही होते। उनकी स्वतन्त्रता छीन लेने पर उपन्यास का महत्व क्षीण हो जाता है। पात्र वही काम करते हुए दिखाये जाने चाहिए जो उन परिस्थितियो मे कोई भी उस श्रेणी और सस्कार का व्यक्ति कर सकता है। व्यक्तित्व-पूर्ण पात्रों को ध्यान मे रखकर ही एक बार प्रसिद्ध उपन्यासकार थेकरे ने कहा था कि मैं अपने पात्रों का अनुशासन करने मे असमर्थ हो जाता हूँ। वे मुझे जहाँ चाहते हैं, ले जाते हैं।[1] थेकरे के इस वक्तव्य से केवल एक तथ्य व्यजित होता है कि पात्रों को लेखक ने अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए स्वतन्त्र कर दिया है।

सफल उपन्यासकार की बडी पहचान यह है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्ही भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रो में हो। पाठक भूल जाये कि वह किसी काल्पनिक चरित्र के बारे में पढ रहा है। उपन्यासकार पाठक और औपन्यासिक पात्रों के बीच आत्मीयता का भाव उत्पन्न करने में सफल हो जाये।[2] अतः पात्रो का जीवन्त होना आवश्यक है। ऐसा होने पर ही पाठक और पात्रों के मध्य भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

उपन्यासो मे प्रायः दो प्रकार के चरित्र देखे जाते है—एक तो वे होते हैं जो किसी विशेष श्रेणी या वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, दूसरे वे जो व्यक्ति-वैशिष्ट्यपूर्ण होते है। पहले प्रकार के पात्र को सामान्य या प्रतिनिधि पात्र (Type) और दूसरे प्रकार के पात्र को विशिष्ट या व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र (Individual) कहते हैं। सामान्य और विशिष्ट का समन्वय ही व्यक्तित्व-चित्रण की मूल समस्या है। यदि पात्र सामान्य की ओर अधिक झुका होता है तो उसका अस्तित्व नही के बराबर रहता है और यदि वह सामान्य से दूर हट जाता है तो पागल या विक्षिप्त कहलाने लगता है। अतः सफल पात्र वही है जो सामान्य होते हुए भी अपना वैशिष्ट्य बनाये रखता है। सफल पात्र की सृष्टि के लिए दोनो तत्वो—सामान्य और विशिष्ट—का समन्वय आवश्यक है। पात्र को जो कुछ समाज से मिलता है, वह उसका सामान्य अग होता है और जो उसकी स्वय की गाँठ का होता है, वह उसका वैयक्तिक अश होता है। इतना होते हुए भी कुछ पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके होते हैं और कुछ व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर। सामान्य की ओर झुके हुए पात्र सरल होते हैं और व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर झुके हुए पात्र अपेक्षाकृत पेचीदा।

---

१. डॉ० सुरेश सिन्हा : उपन्यास : शिल्प और प्रवृत्तियाँ, पृ० ८३
२. प्रेमचन्द : कुछ विचार, पृ० ५२

६. उपन्यास में चरित्र-चित्रण की आवश्यकता

उपन्यास व्यक्ति और समाज के जीवन-यथार्थ की कलात्मक कथा है। जीवन की वास्तविकता को अंकित करना, यद्यपि उपन्यासकार का मूल लक्ष्य होता है, पर जिस कथा के माध्यम से वह जीवन-यथार्थ का चित्रण करता है, वह काल्पनिक होती है। यहाँ कल्पना का तात्पर्य कपोल-कल्पना से नही, वरन् घटना के ठोस सत्य के शुष्क बंधनो के छुटकारे से है। उपन्यास घटना के मात्र सत्य से नही बँधता, अपितु उसकी संगति और संभावना से अधिक नियत्रित रहता है।[1] उपन्यासकार जब काल्पनिक कथा के सहारे जीवन-वास्तव को पाठको तक सम्प्रेषित करने का प्रयत्न करता है तो उसके मन मे यह आशका सदा बनी रहती है कि पाठक उसकी बात को काल्पनिक समझकर कही उस पर अविश्वास न कर बैठे। अतएव अपनी बात को कार्य-कारण शृखला से जोडकर, अधिक-से-अधिक विश्वसनीय ढग से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। अपनी कल्पना-प्रसूता कथा को वह इस ढंग से सुनाता है, जिससे पाठक उस पर विश्वास कर उसे सत्य मान लेता है। यह काम वह मुख्यतः पात्रो के चरित्र-चित्रण के माध्यम से करता है। उपन्यास के चरित्रो का चित्रण जितना सहज-स्वाभाविक और मनोविज्ञान-सम्मत होगा, पाठक उस पर उतना ही विश्वास करेगा। पात्रो का चित्रण स्वाभाविक बनाने के लिए उपन्यासकार उन्हे व्यक्तित्व प्रदान कर जीवन्त बनाता है। उनके चरित्र-विकास मे वह किसी तरह का हस्तक्षेप नही करता। परिणामतः वे अपने जीवन के स्वाभाविक विकास-मार्ग पर बढ़ते हुए जब किसी समस्या या घटना के सम्पर्क मे आते है तो वैसा ही आचरण या प्रतिक्रिया प्रकट करते है, जैसा वास्तविक जीवन में उस वर्ग या स्तर का व्यक्ति करता है। पात्र के इस तरह के स्वाभाविक आचरण या प्रतिक्रिया को देख कर पाठक उसे वास्तविक जीवन का ही व्यक्ति मान बैठता है। पाठक का यह मान लेना ही उपन्यासकार की लक्ष्य-सिद्धि है। लेखक चरित्र-चित्रण के माध्यम से पाठक मे यथार्थ की भ्राति (प्रतीति) जगाकर उसे अपनी बात ध्यान से सुनने के लिए प्रेरित करता है।

चरित्र-चित्रण के द्वारा एक और उद्देश्य की सिद्धि की जाती है। चरित्र-चित्रण के बल पर पात्र को व्यक्तित्व प्राप्त होता है। चरित्रांकन के द्वारा लेखक पात्र के व्यक्तित्व के गुप्त आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन करता है। जब तक चरित्र के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षो का उद्घाटन नही होता, तब तक पात्र समग्रता में उभर कर सामने आ नहीं पाते। अतएव व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करने के लिए भी लेखक चरित्र-चित्रण की प्रत्यक्ष या परोक्ष विधि का आश्रय ग्रहण करता है।

---

१. डॉ० शशिभूषण सिंहल : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, पृ० १६

७. यशपाल के औपन्यासिक पात्र

यशपाल ने अपने पात्रों का चयन मुख्यतः तीन संदर्भो से किया है— (१) राजनीतिक, (२) सामाजिक, और (३) नैतिक। राजनीतिक पात्रों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वतन्त्रता के बाद के विभिन्न भारतीय राजनीतिक दलो को प्रतिनिधित्व मिला है। स्वतन्त्रता के पूर्व के राजनीतिक पात्रो मे यदि एक ओर साम्राज्यवादी शक्ति को छिपकर उखाड फेकने वाले आतंकवादी क्रातिकारियों को लिया गया है, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय सघर्ष को बल देने वाली काग्रेस सस्था को भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। काग्रेस के साथ-साथ स्वतन्त्रता के पूर्व और बाद मे भी मार्क्सवादी कम्युनिस्टो को यशपाल ने अपने चरित्रो के रूप मे स्वीकार किया है। आजादी के पूर्व के आतकवादी पात्रो को लेखक ने समाजवादी चेतना से सम्पन्न दिखाया है और उनकी परिणति मार्क्सवादी क्रांतिकारियो के रूप मे दिखाई है। 'दादा कामरेड' का नायक हरीश इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। हरीश की आस्था कोरे आतकवाद मे नही, वरन् सामाजिक क्रांति में है। इसीलिए वह डकैती का विरोध करता है और सामाजिक क्रांति के लिए—देश से शोषण की समाप्ति के लिए—सुल्तान के रूप मे क्रातिकारी मार्क्सवादी बन जाता है।

राष्ट्रीय स्वाधीनता-सग्राम के मोर्चे पर जो काग्रेस प्रगतिशील शक्ति के रूप मे उभरी थी, स्वतंत्रता के बाद उसकी भूमिका बहुत कुछ प्रतिक्रियावादी पूंजीवाद से मिलती-जुलती दिखाई पडती है। स्वतन्त्रता-पूर्व के उपन्यासो मे भी लेखक ने कुछ प्रमुख काग्रेसी पात्रों को पूंजीवादी, अतएव, प्रतिक्रियावादी शक्तियो के रूप मे चित्रित किया है। उदाहरण के लिए, 'पार्टी कामरेड' मे भायाजी और 'देशद्रोही' में बद्रीबाबू को लिया जा सकता है। यशपाल के उपन्यासो मे सामाजिक पीठिका से जिन पात्रो का उदय हुआ है, उनके माध्यम से लेखक ने सामाजिक रूढियो एव परम्परागत मान्यताओ मे जकड़े और घुटन के शिकार पात्रो को प्रस्तुत किया है। इन्ही सामाजिक पात्रो मे कुछ ऐसे भी हैं जो एक ओर सामाजिक रूढियो के बधन के कारण अनेक प्रकार की विवशताएँ अनुभव करते हैं तो दूसरी ओर उन्हे तोडकर नये जीवन-मूल्य की स्थापना भी करते हैं। नैतिक संदर्भ मे लेखक ने कुछ ऐसे पात्रो का सृजन किया है जो वर्तमान समाज की परम्परागत नैतिक मान्यताओ के विस्फोटक रूप को प्रकट करते है। ठीक इसके विपरीत यशपाल के उपन्यासो मे कुछ ऐसे भी पात्र मिलेंगे जो नैतिक रूढियो पर आघात कर उन्हे ध्वस्त कर देने मे अपने जीवन की चरितार्थता मानते हैं। स्वतन्त्रता के बाद के लिखे गये अपने बृहत्-काय उपन्यास 'झूठा सच' मे लेखक ने देश-विभाजन के अवसर पर अनेक पात्रों को धार्मिक एव साम्प्रदायिक उन्माद के कारण अमानवीय भूमिका निभाते हुए दिखाया है। राजनीतिक सामाजिक उपन्यासो के अतिरिक्त यशपाल ने ऐतिहासिक एव पौराणिक उपन्यासों की

भी सर्जना की है, जो इतिहास-पुराण न होकर ऐतिहासिक-पौराणिक कल्पना-मात्र हैं। इन उपन्यासों का वातावरण ऐतिहासिक-पौराणिक है, पर पात्र प्रायः काल्पनिक हैं। जो पात्र ऐतिहासिक-पौराणिक है भी, वे सिर्फ यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने के लिए हैं।

यशपाल के उपन्यासों मे सामाजिक क्रांति का लक्ष्य स्पष्ट है। सामाजिक क्राति के लिए वे वर्ग-सघर्ष का चित्रण करते है। आज समाज में यदि प्रगतिशील शक्तियाँ सामाजिक क्रांति की ओर प्रयाण कर रही हैं तो समाज मे व्याप्त विभिन्न प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उन्हे रोकने के प्रयास मे भी लगी हैं। सामाजिक विषमता एवं आर्थिक शोषण को दूर करने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियो की पराजय आवश्यक है। यशपाल ने अपने उपन्यासो में विभिन्न पात्रो के माध्यम से इन दोनों शक्तियो के परस्पर-संघर्ष को चित्रित किया है। इनके उपन्यासो के प्रमुख पात्रो मे कुछ प्रगतिशील शक्तियो के प्रतिनिधि पात्र है, तो दूसरे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक। इन दोनो शक्तियो के अतिरिक्त यशपाल के चरित्रों मे सामान्य जन-जीवन की अभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है। प्रत्येक उपन्यास मे तत्कालीन जन-जीवन की विपन्नता और बेबसी गरीब मजदूर एव दासो के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार यशपाल के हर उपन्यास में आये हुए चरित्रों को प्रमुखतः तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है—(१) प्रगतिशील शक्तियो के प्रतिनिधि पात्र, (२) प्रतिक्रियावादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र, और (३) सामान्य जन-जीवन के प्रतिनिधि पात्र।

अब हम लेखक के प्रत्येक उपन्यास को लेकर उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार प्रमुख पात्रो का चरित्र-विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

(क) 'दादा कामरेड'

(१) हरीश—'दादा कामरेड' का हरीश उभरती हुई जनवादी चेतना का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रगतिशील पात्र है। वह प्रतिगामी और ह्रासशील पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष करते हुए समाजवादी समाज-व्ययस्था के निर्माण के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। सर्वप्रथम वह हमारे सम्मुख एक आतकवादी के रूप मे आता है, पर प्रगतिशील वैज्ञानिक चिंतन के बल पर वह धीरे-धीरे समाजवादी बन जाता है। अपने जनवादी विचारो के कारण वह जीवन के सभी क्षेत्रो मे क्राति कर दकियानूसी विश्वासो, गलित रूढियों और जर्जर मान्यताओ को उखाड़ फेकना चाहता है और इस प्रकार जीवन को एक नया आयाम प्रदान करने के लिए क्रियाशील रहता है। समाजवादी लक्ष्यो के प्रति वह इस हद तक समर्पित है कि राह में आने वाली किसी भी बाधा की रचमात्र परवा नही करता। वह मुसीवतो की दानवाकार चट्टानो से टकराता है, पर फिर भी अडिग रहता है—बिल्कुल अचंचल, निष्कंप दीपशिखा

की भाँति। फरार आतंकवादी होने के नाते एक ओर उसे जहाँ ब्रिटिश साम्राज्यशाही की सगीने बेध डालने के लिए तलाश रही है, वही दूसरी ओर गलतफहमियों के शिकार आतकवादी दल की पिस्तौल उसे भून कर राख का ढेर बना देना चाहती है, पर उस वीरव्रती के चेहरे पर शिकन तक नही आती। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लडते हुए वह शहीद होने की भावना से तो गौरव अनुभव करता है, पर अपने दल को कैसे समझाये! उसके खिलाफ लड़े या उसकी पिस्तौल का निशाना बन जाये। अत मे निर्णय कर वह उस रास्ते को अपनाता है, जिस पर चलने से दोनो कार्य सिद्ध हो सकते हैं। कपडा-मिलो मे चलने वाली हड़ताल के समय उसकी कर्मठता और जीवट को देखकर 'दादा' उससे इतने प्रभावित होते हैं कि उनकी न केवल गलतफहमियाँ दूर हो जाती हैं, अपितु वे अपनी राह छोडकर उसी के मार्ग के पथिक बन जाते है—'दादा' कामरेड हो जाते हैं।

लक्ष्य के प्रति उसके समर्पण की एक बेजोड मिसाल तब देखने को मिलती है, जब वह हडताल का नेतृत्व करने के लिए तेजाब छिड़ककर अपना रूप क्षत-विक्षत कर लेता है और सामने वाले नीचे के दो दाँत तुडवा लेता है। ऐसा न करने से उसे ब्रिटिश साम्राज्यशाही की बर्बर और खूँखार आँखे पहचान लेती और उसका परिणाम जो होता, उसे हम सब भली-भाँति समझ सकते हैं। पर इससे यह समझने का भ्रम नही होना चाहिए कि कैद होने से वह डरता था। जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए फाँसी चढ जाने से नही डरता, वह कैद होने से क्यों डरेगा? वस्तुतः कैद होना वह इसलिए नही चाहता था कि उसके सामने एक महत्तर उद्देश्य था, जिसे पूरा कर लेने मे ही वह अपने जीवन की चरितार्थता समझता था—वह उद्देश्य था क्रांति का, हडताल जिसका प्रथम चरण थी।

चेहरे को विद्रूप कर लेने और दो दाँत तुडवा देने की घटना उसके चरित्र को कितनी गरिमा प्रदान करती है, इस विशेष सन्दर्भ मे देखने पर कि उन दिनो शैल से उसका प्रणय चल रहा था। मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि ऐसे समय आदमी अपने को अधिक-से-अधिक रूपवान बनाने की कोशिश करता है, पर उस वीर सेनानी ने ठीक इसके विपरीत किया, समाज-सेवा की वेदी पर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की बलि दे दी। निस्सन्देह वक्त मिलने पर वह जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहता है और करता भी है, पर ये बाते उसके लक्ष्य के मार्ग मे कही भी आडे नही आती। वह चाहता तो वकील के कथनानुसार अपनी सफाई के बयान देकर मुक्त भी हो सकता था, और तब शैल के साथ सुख की जिन्दगी बिताता। पर तब उसके लक्ष्य का क्या होता? तब हरीश, 'हरीश' कैसे बनता?

कई विद्वान् समीक्षकों ने हरीश के चरित्र को लेकर यशपाल पर रोमांस और अश्लीलता का दोषारोपण किया है। अपने कथन की पुष्टि मे वे उस प्रसंग को उद्धृत करते हैं जब वह शैल को निरावरण देखना चाहता है और देखता भी है। हरीश का यह आचरण (काम-सम्बन्धी) परम्परागत नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध है, पर यह नही भूलना चाहिए कि हरीश वर्तमान पूंजीवादी अन्तर्विरोधात्मक सभ्यता की ही उपज है। उसका उक्त आचरण इसी अन्तर्विरोधात्मकता का प्रमाण माना जा सकता है। दूसरे, कोई भी व्यक्ति किसी सिद्धान्त मे विश्वास रखने वाला 'मतवादी' बाद मे और मनुष्य पहले होता है। मानव जीवन और शरीर की कुछ प्राकृतिक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनको बडा-से-बड़ा सिद्धान्तवादी भी नही नकार सकता। फिर हरीश कैसे नकारता? देश की पुकार पर वह गौना आने के ठीक एक दिन पहले घर से भाग चुका है। यदि वह अपनी पत्नी से सन्तुष्टि पा चुका होता तो सम्भवतः शैल की ओर आकृष्ट न होता, वैसे ही, जैसे शैल से तृप्ति पा लेने के बाद नैनसी को, जो एक अत्यन्त खूबसूरत लडकी है, बहन कहकर उसकी ओर से पराङ्मुख हो जाता है। इससे नैनसी का हृदय चाहे जितना मर्माहत हुआ हो, पर हरीश की चारित्रिक दृढ़ता का कुछ-न-कुछ सकेत तो मिलता ही है। शैल से उसका सम्बन्ध जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, और नैनसी को अस्वीकारना उसकी चारित्रिक दृढता। शैल को अपनाकर उसने मनुष्य होने का प्रमाण दिया है और नैनसी को अस्वीकार करके दृढ मनुष्य होने का। यदि हरीश जीवन की अनिवार्य मांगो की ओर ध्यान न देकर मात्र क्रांतिकारी बना रहता तो कदाचित् कहा जाता कि उसका चरित्र यान्त्रिक हो गया है, और जब एक वास्तविक मनुष्य को उसकी समग्रता मे चित्रित किया गया है तो उस पर अनैतिकता और दुराचरण का दोष लगाया जाता है।

वस्तुतः आज की किसी भी कृति की आलोचना के लिए सामयिक जीवन-बोध और बड़ी ही सन्तुलित दृष्टि की आवश्यकता है—ऐसी दृष्टि, जिस पर धर्म का, प्राचीन नैतिकता का, परम्परागत मान्यताओ का चश्मा न चढ़ा हो, और मात्र एक खालिस मनुष्य की दृष्टि हो।

(२) **शैल**—शैल यशपाल की एक ऐसी चरित्र-सृष्टि है जिसके माध्यम से लेखक पूंजीवादी व्यवस्था की विसंगतियो और अन्तर्विरोधो का यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करते हैं। वह व्यंजना का सहारा लेते हुए उक्त व्यवस्थामूलक समाज को यह बता देना चाहते हैं कि वह अपनी क्रमागत धारणाओ और मान्यताओं को यथाशीघ्र बदल ले, क्योंकि जीवन बदल गया है, अन्यथा धारणाओं और आचरण के अन्तर्विरोधी पाटो के बीच घुट-घुट कर मर जाने के सिवा और कोई रास्ता नही। पूंजीवादी व्यवस्था के धब्बेदार विकृत रूप और उस व्यवस्था को बीच-बीच से तोड़कर उभरती हुई प्रगतिशील चेतना की

छवियो के बीच शैल का चरित्र उभरता है—संक्रमण-काल मे जीवन जैसा होता है, ठीक वैसा ही। एक तरफ, उसके जीवन में चार-पाँच पुरुषो का आना और दूसरी ओर उसका जुलूसों-सभाओ में भाग लेना, हड़ताल मे सम्मिलित होना तथा हडतालियो के लिए भीख या चन्दा माँगना उक्त कथन का प्रमाण है।

शैल के जीवन में उतने लडके-पुरुष कदापि न आते, यदि हरीश-जैसा व्यक्ति जो नारी को पुरुष की सम्पत्ति न समझकर साथी मानता है, पहले ही उसके जीवन में आ गया होता, या फिर शैल स्वयं तत्कालीन भारतीय जीवन मे उभरती हुई प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न न होती। ऐसा होने पर, रूढिग्रस्त प्राचीन सस्कारयुक्त, भारतीय नारियो की भाँति वह भी अपने को किसी ऐसे पुरुष के हाथो सौप देती, जो स्त्री को मनचाहे ढग से भोगने की वस्तु और सम्पत्ति समझता। पर उसकी सबसे बडी मुसीबत यह है कि वह प्रगतिशील चेतना वाली लडकी है—'नये ढग की लडकी' है, भारतीय जीवन मे आ गये नये परिवर्तनो के बीच से उभरी हुई।

हरीश के पूर्व, शैल के जीवन मे जितने भी पुरुष आते हैं, वे सब पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं—स्त्री पर आधिपत्य जमाने वाले, उसे अपनी 'मिल्कीयत' मानने वाले, भोग की और मात्र भोग की वस्तु समझने वाले और उसे इस प्रकार क्रीत-दासी बनाकर रखने वाले कि वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व और अस्तित्व का अनुभव ही न कर सके। यही कारण है कि नई जिन्दगी के बीच से उभरने वाली शैल को कोई अपना नही बना पाता। और जब हरीश, जो अनावश्यक बन्धनो से मुक्त होकर जीने और जीने देने मे विश्वास करता है, उसे मिलता है तो वह उसे अपना लेती है और इस रूप मे अपना लेती है जिसके बाद फिर उसके जीवन मे किसी के आने का प्रश्न ही नही उठता। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक राल्फ फॉक्स के अनुसार समाजवादी यथार्थवादी चरित्र वही हो सकता है जिसके माध्यम से विसगतियो से भरी हुई पूँजीवादी व्यवस्था का यथार्थ चित्रण भी हो, साथ ही जो कही-न-कही अपने भीतर सामाजिक दायित्वों को समझता हुआ ऐसी दिशा की ओर अग्रसर हो, जहाँ से आशापूर्ण भविष्य झाँकता हो। शैल के चरित्र मे ये सारी विशेषताएँ दिखती हैं।

हरीश को अपने बीते जीवन की कहानी सुनाते हुए शैल कहती है—"परन्तु मेरे तो होश सँभालने के दिन से ही जीवन मे प्रेम रहा है और शायद जीवन रहते उससे छुटकारा भी न होगा।"[1] शैल के इस कथन पर परम्परावादी आलोचक कह सकते हैं कि यह भारतीय सस्कृति और सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध है। पूँजीवादी दकियानूसी समाज मे प्रेम और उससे भी आगे बढ़कर शारीरिक सम्बन्ध, गुप्त रूप से चाहे जितने भी

१. दादा कामरेड, पृ० ५६

किये जा सकते है, पर जीवन के यथार्थों को स्वीकार करने का साहस उसमें नही, वह भी अपने प्रेमी के सामने। सत्य को निर्भीक होकर वही व्यक्ति स्वीकार करता है जिसका अन्तर्बाह्य एक हो। यशपाल ने ऐसे ही चरित्रों की आकांक्षा की है, पर व्यजना का सहारा लेकर। जो लोग कथन में अन्तर्निहित व्यंजना को समझने का प्रयास नही करते, उनके लिए शैल सदा पहेली बनी रहेगी।

शैल के उक्त कथन मे जो प्राकृतिक सत्य निहित है, उसे कोई इन्कार नही कर सकता—पाखण्डी, छद्मवेशी पूंजीवादी भी नही। लेकिन शैल, जो अन्तर्बाह्य मे सम-रूपता स्थापित करने के लिए समाज से और अपने से भी निरन्तर लड़ रही है, को इस बात पर तोष है कि, "स्त्री होने के नाते उसका जो प्राकृतिक अधिकार है, उससे कुछ अधिक उसने नही लिया है।"[1]

शैल का चरित्र तब और प्रभामडित एवं गरिमामय दिखाई देता है, जब हम उसको फ्लोरा के समानान्तर रखकर देखते हैं। भारतीय मान्यताओ के अनुसार अवैध गर्भ धारण करके भी फ्लोरा समाज के लिए चिन्ता का कारण नही बनती, क्योकि वह धर्म का छद्म-वेश भी ओढे रहती है। फ्लोरा वस्तुतः पूंजीवादी व्यवस्था के प्रतिष्ठित मूल्यो की प्रतीक है। पर यशपाल इस प्रसंग से कुछ और ध्वनित करना चाहते हैं, वह यह कि काम जीवन की प्राकृतिक अनिवार्यता है, सबके लिए एक ही समान—फ्लोरा हो या शैल।

शैल का राबर्ट और हरीश दोनो के बीच खड़ा रहना उस समाज को अख-रता है। वस्तुतः शैल को राबर्ट और हरीश मे चुनाव नही करना है। वह जानती है कि हरीश 'एवरेस्ट'-सा ऊँचा है, जहाँ पहुँचना टेढ़ी खीर है। यही कारण है कि वह साथ ही साथ राबर्ट की ओर भी आकृष्ट रहती है। मार्क्स के 'कैपिटल' के प्रभाव के कारण राबर्ट भी विचारो के स्तर पर उसे रूढिमुक्त और प्रगतिशील प्रतीत होता है, इसीलिए हरीश को न प्राप्त कर सकने की स्थिति मे राबर्ट को पा लेना चाहती है। पर जब हडताल के कठिन समय मे राबर्ट का असली रूप प्रकट हो जाता है, तो शैल उसकी ओर से भी उपराम हो जाती है। कृत्रिम प्रगतिशील राबर्ट के अन्तर्तम में भी शैल को अब वही पुरुष बैठा दिखाई पडता है जो उसके पूर्व प्रेमियो मे था।

हरीश के प्रति शैल के 'आत्म समर्पण' को कई समीक्षको ने अनैतिक और अनु-चित माना है। वस्तुतः शैल के इस आचरण को स्वतः यशपाल के ही इस कथन के प्रकाश में देखना चाहिए— "ऐसे प्रसगो मे आवश्यक-अनावश्यक का विचार हमारी-आपकी परम्परागत मान्यता से न करके शैल की भावना से ही क्यो न किया जाय ? मेरे

१. दादा कामरेड, पृ० ६३

विचार मे ऐसे प्रसंग में 'आत्म समर्पण' शब्द ही भ्रामक है। नारी सदा समर्पण ही करे, वह पाना भी तो चाह सकती है। वांछित को पाने के अधिकार से उसे क्यों वंचित किया जाय ? शैल किसी की सम्पत्ति नही, एक व्यक्ति थी। उसकी इच्छा का महत्व था। उसने भय से, प्रलोभन से, केवल क्षणिक वासना से, अथवा किसी को धोखा देने के लिए कुछ नही किया। उसने बहुत सोच-विचार कर, जो चाहती थी, उसके परिणाम और कठिनाई को समझ कर ही किया।"[1]

(३) **अमरनाथ**—यशोदा के पति अमरनाथ प्रतिक्रियावादी पात्र है, इसीलिए प्रगतिशीलता उन्हे सह्य नही, नारी की प्रगतिशीलता तो बिल्कुल ही नही। ऐसा नही कि उन्हे नारी का सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र मे काम करना पसद नही। कांग्रेसी होने के नाते वे चाहते है कि नारियाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लें, समाज-सुधार का काम करे; पर साथ ही यह भी चाहते हैं कि ठीकरा दूसरे के सिर फूटे। अर्थात्, दूसरे घर की औरते ही यह सब काम करे, उनकी पत्नी यशोदा नही कर सकती। यदि वह करना चाहेगी या करेगी तो अमरनाथ बर्दाश्त नही करेंगे। उनका स्पष्ट मत है कि यदि यशोदा इस घर मे रहना चाहती है तो वे जैसा कहेगे, वैसा ही उसे करना पडेगा। कांग्रेस की सभा मे यशोदा को वक्तृता पढते देखकर वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते है। तात्पर्य यह कि स्त्री उनकी दृष्टि मे पुरुष की दासी है, उसे पति की आज्ञा के बिना रंच-मात्र भी हिलने-डुलने का अधिकार नही।

नारी-पुरुष संबध पर उनका वही परम्परावादी दृष्टिकोण है। उनकी दृष्टि मे नारी-मात्र भोग्या है। उसके इस रूप को ही वे देख पाते है। तभी तो यशोदा और हरीश के बीच परिचय की बात जानकर उनका माथा ठनक जाता है। उनकी दृष्टि मे नारी और पुरुष के परिचय का एक ही अर्थ होता है—शारीरिक सम्बन्ध। मानसिक सम्बन्ध को तो वह किसी हद तक क्षम्य मानते हैं, क्योंकि स्वयं कई बार सुन्दर लडकियो को देखकर मनसा आकृष्ट हो चुके है। पर यशोदा के सदर्भ मे वे इसे भी स्वीकारने को तैयार नही—तब मानसिक सम्बन्ध का विश्लेषण वह इस प्रकार करने लगते है—"मनुष्य का मन ही प्रमुख है, शरीर तो स्थूल है। मन बदल गया, तो आदमी बदल गया। यशोदा का हरीश के साथ यदि मानसिक सम्बन्ध है, तो इसका मतलब हुआ यशोदा बदल गई। जब यशोदा यशोदा रही ही नही, तो अब हमारा उसका सम्बन्ध कैसा।"[2] इस तरह मानसिक सम्बन्ध के बारे मे भी उनकी दृष्टि से पुरुष के लिए आचार-संहिता अलग और स्त्री के लिए भिन्न है। सब मिलाकर वे एक प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी पात्र हैं।

---

१. 'माध्यम', नवम्बर १९६८—मधुरेश : 'यशपाल : कुछ पत्र', पृ० २७
२. दादा कामरेड, पृ० ३१

(४) फ्लोरा—फ्लोरा धार्मिक रूढ़ियों मे जकड़ी एक प्रतिक्रियावादी नारी है। रावर्ट मे उसी तरह की धार्मिक कट्टरता देखकर वह उसके साथ परिणय-सूत्र मे बँध जाती है। राबर्ट ज्यों ही मार्क्स के चिन्तन से प्रभावित होकर अपने धार्मिक लबादे को उतार फेकता है, त्यो ही फ्लोरा भी रावर्ट के प्रेम को लवादा समझकर अपने ऊपर से झाड़कर अलग कर देती है। प्रेम को तो, जिसे परम्परागत धार्मिक मान्यताओं की दृष्टि से शाश्वत माना जाता था, वह धकिया कर दूर कर देती है, पर जीवन की प्राकृतिक चाह से तब भी उसका पिण्ड नही छूट पाता। परिणामतः अवैध गर्भ धारण करती है। अब धार्मिक फ्लोरा दुनिया को कौन-सा मुँह दिखाये? इसलिए रावर्ट से आर्थिक सहायता माँग कर यह निवेदन करती है कि वह तब तक उसका पति बना रहे, जब तक सन्तान पैदा न हो जाये। यह सिर्फ इसलिए कि संसार की दृष्टि मे आने वाली सन्तान वैध मानी जाये। उसे यह सब इसलिए करना पड रहा है कि प्राचीन जीवन-धारणाओ से चिपका रहने वाला वूर्जुआ समाज प्रकट रूप में इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नही। नये बदले हुए जीवन के अनुसार यदि धारणाएँ और मान्यताएँ भी बदल दी जाये, तो इस प्रवंचता की आवश्यकता ही न पडे। फ्लोरा के चरित्र के माध्यम से यशपाल ने इसी सचाई को व्यंजित किया है।

एक बात और। प्रेम की शाश्वतता का प्रश्न भी फ्लोरा के माध्यम से उठाया गया है। फ्लोरा-जैसी कट्टर धार्मिक नारी का प्रेम यदि शाश्वत नही रह सकता, कही और संक्रमित हो सकता है, तो आज के वैज्ञानिक युग में प्रेम की चिरन्तनता और शाश्वतता का प्रश्न कितना वेमानी और अर्थहीन है। मार्क्सवादी यशपाल के अनुसार प्रेम वस्तुतः कभी शाश्वत नही था। शाश्वतता का प्रश्न तो नारी का शोषण करने के लिए पुरुष का प्रपंच था और इस तरह की आचार-सहिता गढी गई थी सुविधा-भोगी वर्ग द्वारा ही। अतएव प्रपंचपूर्ण आचार-संहिता को ही बदल देने की आवश्यकता है।

(५) अख्तर—अख्तर और जमीला सामान्य जन-जीवन के प्रतिनिधि पात्र है। गरीवी का अभिशाप झेलना जैसे उनकी नियति है। इनके माध्यम से लेखक ने उस वर्ग के अभावग्रस्त जीवन का यथार्थपरक अकन किया है। विवशताओ की चक्की मे पिसता हुआ भी अख्तर जागरूक चेतना का व्यक्ति है। वस्तुतः अख्तर की यह जागरूकता मात्र उसकी नही है, पूरे मजदूर-वर्ग की है। तत्कालीन भारत का मजदूर-वर्ग शोषणजन्य घुटन का अनुभव कर उसके विरुद्ध सघर्ष के लिए तैयार हो गया था। 'जाबर' जब अख्तर से रिश्वत लेकर भी उसकी पदोन्नति नही करता तो अख्तर को उसमे भयानक शोषण दिखाई देता है। इसीलिए वह 'जाबर' का खून करने तक के लिए तैयार हो जाता है। अख्तर का यह निर्णय शोषण के विरुद्ध होने वाली अकुलाहट का ही प्रमाण है। पर शोषण का नाश करने के लिए वह जो मार्ग अपनाता है, वह स्वस्थ नही और

इसीलिए समस्या का समाधान करने वाला भी नही ! अख्तर-जैसा मजदूर यद्यपि अपनी शक्तियो से परिचित है, जैसा कि उसके इस कथन से स्पष्ट है—"कही बनियो से स्वराज्य लिया जाता है ? हमे कहो न मजदूरो और देहात के लोगो को, एक दिन में तख्ता पलट कर रख देगे।"[१] पर सही दिशा-निर्देश के अभाव मे वह भटकता रहता है। हरीश (सुल्तान) और रफीक-जैसे समाजवादी नेताओ का नेतृत्व प्राप्त कर वह देश के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर फाँसी चढ जाता है।

(ख) 'देशद्रोही'

(१) **डॉ० खन्ना**—'देशद्रोही' का कथा-नायक डॉ० भगवानदास खन्ना ऐसे जीवट का व्यक्तित्व है जो आजीवन सघर्षो से जूझता रहता है। सघर्ष जैसे उसकी नियति है। लेकिन सघर्षों से कभी हारता नही, टूटता नही। उसकी सारी लडाई और संघर्ष है एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए—वह लक्ष्य है जीवन और समाज से अन्याय और शोषण का अन्त, जिसकी सम्पूर्ति के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन मालूम पडता है। खन्ना मार्क्सवादी चरित्र है। परन्तु ऐसे मार्क्सवादी चित्र को यशपाल ने पूँजीवादी समाज के फलक पर अकित किया है, इसलिए पूरी तस्वीर मे कुछ-एक रेखाएँ पूँजीवादी रंग की भी दिख जाती हैं।

तुती कैम्प से वजीरी उसका अपहरण कर उसे वजीरिस्तान ले जाते है। वहाँ यंत्रणाओ की चक्की मे पिसता हुआ वह कल्पना मे भारत के सपने देखता रहता है। गजनी पहुँचने पर अपनी ईमानदारी, निष्ठा और हुनर के कारण व्यापारी अब्दुल्ला का प्रेमभाजन बनता है और परिणाम मे पाता है मदिरा की प्याली-सी नशीली नर्गिस-जैसी अनिंद्य सुन्दरी। खन्ना चाहता तो अब्दुल्ला के अतुल वैभव के साथ नर्गिस की कमनीय, मादक छाया मे जीवन सुख से व्यतीत कर देता, पर उसकी समाजवादी चेतना इन सारे प्रलोभनो का तिरस्कार कर उसे सघर्ष मे कूद पडने के लिए प्रेरित करती है। रूस की सीमा मे प्रवेश, जान जोखिम मे डालने से कम नही था, पर उसकी उसे परवाह कहाँ ! उसका रूसी जीवन अत्यधिक सुख से बीत सकता था, खासकर तब, जबकि उसे गुलशां-जैसी साथी मिल गई थीं, पर तभी उसकी समाजवादी चेतना पर भारत के वे चित्र उभर आये, जो अन्याय और शोषण के कारण सिसक रहे थे।

इसी पीठिका पर हम खन्ना को भारत मे खडा पाते हैं। बम्बई मे उसकी मार्क्स-वादी चेतना अपनी पूरी शक्ति के साथ सघर्ष कर कानपुर जा पहुँचती है, जहाँ उसका प्रखरतम और अत्यन्त भास्वर रूप देखने को मिलता है। यहाँ राज और बद्रीबाबू के

---

१. दादा कामरेड, पृ० ४६

राजनीतिक विवाह का समाचार वह वज्राघात की तरह पाता है, पर उसकी चेतना अत्यन्त सहज ढङ्ग से उसे स्वीकार कर झेल लेती है। उधर से अपना मुंह मोडकर वह अपने स्वाभाविक जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति मे जुट जाता है। कानपुर की मिलो में काग्रेस के वामपक्षी नेता शिवनाथ और उसके साथियों द्वारा संचालित हडताल कभी भी न रुक पाती, यदि खन्ना-जैसा जीवट का व्यक्तित्व न होता। वह अपने प्राणो को दाँव पर लगा देता है, पर हडताल नही होने देता। लक्ष्य के प्रति ऐसी अटूट निष्ठा और पूर्ण समर्पण अपना सानी नही रखता।

दूसरी ओर खन्ना एकाधिक वार मानवीय प्रवृत्तियो से भी परिचालित दिखाई पडता है। चन्दा के सहवास मे आना या आने का प्रयत्न करना, उसकी इस प्रवृत्ति का उत्कटतम रूप है। डॉ० रामविलास शर्मा ने खन्ना के चरित्र के इस पहलू पर आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा है, "कम्युनिस्टो का निर्माण ऐसी धातु से नहीं होता।" कदाचित् डॉ० रामविलास शर्मा यह चाहते हैं कि कम्युनिस्ट पात्रो को मनुष्य नही, कम्युनिज्म का यांत्रिक 'माडेल' होना चाहिए। 'माध्यम'(नवम्बर, १९६८) मे यशपाल के छपे पत्रो में इस प्रश्न का अत्यन्त सटीक उत्तर है। "डॉ० रामविलास को 'देशद्रोही' का नायक खन्ना बलवान और नैतिक व्यक्ति नही जान पडता। डॉ० रामविलास को खन्ना के इस रूप मे सन्तोप इसीलिए है कि खन्ना उपन्यास मे कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।......सम्भवतः डॉ० रामविलास शर्मा 'देशद्रोही' के नायक को सव्यसाची का प्रतिरूप धीरोदात्त नायक के रूप मे देखना चाहते थे। परन्तु मुझे अनेक वहुत बड़े और वास्तव में त्यागी, ईमानदार कम्युनिस्ट नेताओ के व्यक्तिगत जीवन का, उनकी मानवी दुर्वलताओ का भी परिचय रहा है। अनेक विदेशी कम्युनिस्ट नेताओ की जीवनियाँ भी पढी हैं। मैंने उन्हे लौह-पुरुष नही, हाड-मांस का ही व्यक्ति पाया है जो मानवीय प्रवृत्तियो के बावजूद उद्देश्य के प्रति नि.स्वार्थ त्याग और ईमानदारी निभाते हैं। खन्ना का भी ऐसा ही व्यक्तित्व है। उसने कभी धोखा नही दिया, न कर्तव्य के प्रति कायरता ही दिखाई। आलोचक को यह भी नही भूलना चाहिए कि खन्ना का स्वभाव और प्रवृत्तियाँ, प्रकृति और चरित्र मध्यवित्त परिवार के प्रभावो की उपज है और उसके विचारो पर क्रांतिकारी कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रभाव है। आप ही सोचिए कि किसी पात्र मे इन दोनो तत्वो के समन्वय की विश्वास-योग्य परिणति क्या हो सकती है? खन्ना ने अपने सैद्धान्तिक लक्ष्यो के लिए और अपनी पत्नी के विधवा हो जाने का विश्वास हो जाने की अवस्था मे दूसरा विवाह कर लेने पर, चन्दा के प्रेम को पाकर उसका परिवार न टूटने देने के लिए क्या साधारण त्याग किया है? आलोचक को यह भी समझना चाहिए कि खन्ना जैसे साधारण व्यक्ति भी विचारों का वल पाकर वहुत कुछ

कर सकते हैं। कम्युनिज्म को सहयोग देने के लिए असाधारण प्रकृति का होना भी आवश्यक नहीं।"[1]

यद्यपि यशपाल का यह कथन खन्ना के चरित्र का बहुत ही सही विश्लेषण है, और उससे हम पूर्णतः सहमत भी हैं, परतु कथन के इस अश से—"चदा के प्रेम को पाकर भी उसका परिवार न टूटने देने के लिए क्या साधारण त्याग किया है" हमारी असहमति है। खन्ना शक्ति-भर प्रयत्न कर लेने के बाद जब यह देखता है कि चदा का प्रेम—प्रेमिका का प्रेम—पाना और इसीलिए उसका शरीर पाना असम्भव है, तब वह 'शशि' के रूप में उसकी गोद पाने का प्रयास करता है। वस्तुतः चदा अपनी ओर से उसे हमेशा 'भाई, बेटा, लाल' ही मानती है। प्रेम का—प्रेमिका के प्रेम का—कोई प्रोत्साहन उसे चंदा से कभी नही मिलता। इसलिए कहा जा सकता है कि खन्ना ने कोई भी असाधारण तो क्या, साधारण त्याग भी नही किया है। चन्दा के प्रति खन्ना का व्यवहार उसकी चारित्रिक दुर्वलता का प्रमाण है। यशपाल ने इस सन्दर्भ मे खन्ना को असाधारण त्यागी सम्भवतः इसलिए कहा है कि रचना के समय उनके मस्तिष्क मे शायद यह बात रही हो, पर कृति में उनका यह उद्देश्य वैसा रूपायित हो नही सका है। रचना में उस तरह की कोई भी ध्वनि या व्यजना नही होती। अध्येता तो कृति और उससे निकलने वाली व्यजना के आधार पर ही समीक्षा करेगा, लेखक का मन पढने नही जायेगा। अतएव हम यशपाल के वक्तव्य के इस अश से सहमत नही हैं।

खन्ना के जीवन का एक और व्यवहार ऐसा है जिसे देखकर कहा जा सकता है कि उतने अश मे वह मार्क्सीय कम, प्रतिक्रियावादी अधिक है। परन्तु लेखक के अनुसार पार्टी के व्यापक हितो को ध्यान मे रखकर ही उसने कामरेड सुजान और यमुना को प्रणय करने और विवाह-सूत्र में आबद्ध होने से रोका था।

(२) **चन्दा**—चन्दा यशपाल की उस लेखनी की सृष्टि है जिसका अन्य लक्ष्यों में एक लक्ष्य सक्रमणकालीन भारत में नारी की स्थिति का, उसके नवीन वैचारिक चिन्तन और संस्कारग्रस्त क्रमागत आचरण के बीच द्वन्द्व का चित्रण करना भी है। सक्रमण की इसी द्वन्द्वात्मक भूमि पर खडी चन्दा दिखाई देती है। वैसे वह शिक्षिता है, पर उसकी सारी शिक्षा बिल्कुल अर्थहीन इसलिए है कि उसे एक पुरुष की अर्धांगिनी वना दिया जाता है जो पूंजीवादी सभ्यता का प्रतीक है और जिसके लिए अन्य वस्तुओं की तरह स्त्री भी एक वस्तु है। इस प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा और तज्जन्य उद्‌बुद्धता हृदय की किसी

---

१. मधुरेश : 'यशपाल : कुछ पत्र' (माध्यम, नवम्बर १९६८ मे प्रकाशित लेख, पृ० ३८-३९)

निभृत गुहा मे दमित होकर छिप जाती है। वह राजाराम की गृहस्थी का संचालन उनकी इच्छा के अनुसार करती रहती है।

इसी पीठिका पर, एक दिन समाजवादी चेतना से सम्पन्न डॉ० भगवानदास खन्ना अपने व्यक्तिगत जीवन की निरीहता और अकिंचनता तथा सामाजिक क्रांति की भावना लिये उसके निकट आता है। दुखियारे डॉ० खन्ना को सहानुभूति और वात्सल्य देने के लिए उसका मातृत्व और भगिनित्व विह्वल हो उठता है। डॉ० खन्ना जहाँ एक ओर उसकी ममता को प्राप्त कर विश्रांति अनुभव करता है, वहीं दूसरी ओर अपने प्रगतिशील विचारो से उसे प्रभावित भी करता है, उसकी दमित-कुंठित उद्‌बुद्धता को कुरेद-कुरेद कर जगाता है।[1] चन्दा के इस जागरण को पूंजीवादी मनोवृत्ति के उसके पति राजाराम सह नही पाते। परिणामतः अनेक गलतफहमियो और सन्देहो के शिकार बनते है। सन्देह-प्रवंचित राजाराम उसकी उस तथाकथित प्रतिष्ठा को भी उघाडकर रख देते हैं, जिसके भरोसे पूंजीवादी समाज की भोग्या नारी जीवित रहती है। राजाराम के इस व्यवहार से उसके मन मे विद्रोह की ज्वालाएँ भडक उठती है। वह समझ ही नही पाती कि उसके किस आचरण के कारण राजाराम ऐसा व्यवहार करते है। जिस खन्ना को लेकर राजाराम सन्देह से ठगे गये है, उसे तो वह 'लाल, भैया, बेटा' मानती है। बूर्जुआ मनोवृत्ति के इस नर-अहंकार का क्या उपचार हो सकता है? मिथ्याभिमानी पूंजीवादी पुरुष इतना अहकार-विडंबित है कि चन्दा के उस अगाध ममत्व और विराट् वात्सल्य को भी नही पहचान पाता, जिसके वशीभूत हो वह घायल, प्राण-शेष खन्ना के लिए शरण दिलाने राज के घर रानीखेत जाती है। यदि चन्दा को दुष्प्रवृत्ति-प्रेरित मान भी लिया जाय—जैसा कि अनेक पाठक-आलोचक मानते है—तो प्रश्न उठता है ऐसे मरणासन्न खन्ना से उसे क्या मिल सकता है? दूसरे, तब वह खन्ना को राज के घर क्यो पहुँचाती, कही—और निश्चय ही कानपुर के बाहर—रखकर उसका उपचार न करती?

पर उसकी सारी मनुष्यता को निगल जाती है पूंजीवादी पाशविकता। परिणामतः खन्ना के सम्पर्क से जागी हुई उसकी प्रगतिशीलता, पूंजीवादी समाज मे नारी के आर्थिक परावलम्बन के कारण, घर की संकीर्ण दीवारो मे बद हो जाने के लिए विवश हो जाती है।

(३) **बद्रीबाबू**—बद्रीबाबू गांधीवादी पात्र है। सिर से पैर तक बिल्कुल सफेद खद्दर पहने देश-सेवा के कार्य मे जुटे रहते हैं, पर इस बात की प्रतीक्षा मे हमेशा रहते है कि उनका, उनके वर्ग का तथा उनके राजनीतिक दल 'कांग्रेस' पर नियंत्रण रखने वाले पूंजीपतियो का स्वार्थ कब और कैसे पूरा होगा। अभिजात-वर्ग में जनमे बद्रीबाबू वाणी

१. देशद्रोही, पृ० २६७

से अत्यन्त मधुर तथा प्रकट व्यवहार मे बड़े विनयी और शिष्ट हैं, पर अवसर देखकर महीन छुरी की तरह चीरते हुए झंझटों से निकल जाते है। तब इस बात का ध्यान नही रखते कि जनसेवा का जो कार्य उन्होंने अपनाया था, वह पूरा हुआ या नही। दिल्ली में चलने वाली पहली मजदूर हड़ताल के समय वे शहर के बाहर 'सेवाश्रम' मे रहकर नगे पाँव पैदल चलकर जनता की सेवा करते रहते है, यह अलग बात है कि मिल-मालिकों के प्रतिनिधि सेठ भाटिया के आग्रह करने और दबाव डालने पर मोटर का भी उपयोग कर लेते हैं। हड़ताल शांत होते न देखकर तुरन्त 'अनशन' का अमोघ अस्त्र अपनाते हैं। परिणामतः हड़ताल का प्रश्न पीछे छूट जाता है और बद्रीबाबू की प्राण-रक्षा का प्रश्न ही प्रमुख हो उठता है। समझौते के लिए वे मध्यस्थ बनाये जाते है। उनकी मध्यस्थता मे हुए समझौते का परिणाम मिल-मालिको के ही अनुकूल निकलता है। बेचारे मजदूर रुपये पर एक आना वृद्धि पाकर ठगे जाते हैं। अनशन के इसी शस्त्र के बल पर वे राज बीबी को अपने निकट खीचने मे सफल होकर उससे राजनीतिक विवाह कर लेते हैं। घृणा और विक्षोभ पैदा करने वाले इस समाचार से जनता का ध्यान हटाने के लिए बद्रीबाबू व्यक्तिगत सत्याग्रह का सहारा लेकर जेल जाते हैं और इस प्रकार अपने उद्देश्य में सफल भी होते है।

हड़ताली नेताओं की गिरफ्तारी के कारण जब श्रमिक-वर्ग नेतृत्वविहीन हो जाता है तो उचित अवसर देखकर वे पुन मजदूरो का नेतृत्व करने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। मज़दूरो का असतोष फिर भड़कता है। तब बद्रीबाबू अपने ऊपर आता दोष देखकर देश के लिए रचनात्मक कार्य के नाम पर रानीखेत मे 'खादी और ग्रामोद्योग आश्रम' की स्थापना करवा कर राज के साथ व्यक्तिगत जीवन सुख से बिताने के लिए वहाँ चले जाते हैं। उनके ये सारे कार्य 'देश-सेवी' काग्रेसियों के ही अनुकूल हैं। वस्तुतः बद्रीबाबू जनता और देश-सेवा के नाम पर अपने और अपने वर्ग-स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं और इसीलिए वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिनिधि पात्र हैं।

(४) राजदुलारी—यशपाल ने उपन्यास मे प्रेम की शाश्वत और एकनिष्ठ धारणा पर प्रहार करने के लिए ही राजदुलारी खन्ना के चरित्र की अवतारणा की है। डॉ० खन्ना के अपहरण के पूर्व राज अपने प्रेम को शाश्वत और जन्म-जन्मान्तर का मानती है। इसी सस्कार के कारण, सरकारी गलत सूचना के आधार पर अपने पति को मृत समझ कर, वह आत्महत्या का प्रयास करती है, पर बद्रीबाबू के प्रयत्नो से बचा ली जाती है। बद्रीबाबू की सेवा और परिश्रम के प्रति उसका कृतज्ञ होना स्वाभाविक था। कृतज्ञता धीरे-धीरे प्रेम मे परिणत हो जाती है और प्रेम राजनीतिक विवाह मे।

प्रश्न है यदि खन्ना के प्रति राज का प्रेम शाश्वत होता तो वह बद्रीबाबू पर संक्र-

मित कैसे होता ? इस प्रकार के उदाहरण वास्तविक जीवन में बहुतेरे मिलते हैं, इसलिए मार्क्सवादी यशपाल की यह मान्यता सही मालूम पड़ती है कि प्रेम के क्षेत्र मे एकनिष्ठता और शाश्वतता की बात और कुछ नही, पुरुष-प्रधान समाज की स्वार्थपरता है। इसी के बल पर वह नारी-वर्ग को आदर्श के भूल-भुलैया मे रखकर अपनी भोगपरक मनोवृत्ति की तुष्टि और तृप्ति करता रहा है।

राज की कथा के माध्यम से यशपाल ने यह भी व्यंजित किया है कि प्रेम प्राकृतिक आवश्यकता है, जिसकी तृप्ति से इन्कारा नही जा सकता। राज के प्रेम का बद्रीबाबू पर सतरण इसी आवश्यकता की माँग का प्रमाण है।

उपन्यास के अत मे, घायल, मरणासन्न खन्ना को राज द्वारा आश्रय न दिया जाना एक विचारणीय प्रश्न है। राज अपने नये वैवाहिक जीवन और 'प्रसाद' के भविष्य को विशृंखलित न होने देने के लिए ही ऐसा करती है, परन्तु उसका यह आचरण प्रतिक्रियावादी अधिक, मार्क्सीय या मानवीय कम है।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—वज़ीरिस्तान के वज़ीरियों के रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार और जीवन-पद्धति के चित्रण में, गजनी के व्यापारी अब्दुल्ला के लिए भेडों की खाल नदी मे धोने वाली औरतो के वर्णन मे, बम्बई के मदनपुरा की मजदूर-बस्ती के जीवन का यथा-तथ्य चित्र प्रस्तुत करने मे, कानपुर के गरीब और असहाय श्रमिको की तस्वीर खीचने मे तथा घायल खन्ना की डांडी ढोने वाले विपन्न मजदूरों के स्थिति-वर्णन मे यशपाल ने तत्कालीन जन-जीवन का बडा ही मार्मिक चित्र अकित किया है।

(ग) 'दिव्या'

(१) **मारिश**—मारिश यशपाल की सृजन-चेतना से उद्भूत एक ऐसा चरित्र है जो अपने चिन्तन-तेज से जीवन पर छा गये अनेक प्रकार की भ्रातियो के तिमिर को भेद कर विशुद्ध जीवन को देखने और तद्नुरूप आचरण-व्यवहार करने मे विश्वास करता है। प्राक्कथन मे यशपाल ने उपनिषद् का उद्धरण देते हुए लिखा है, 'न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्'—मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नही है। मारिश की चेतना का प्रत्येक अणु इस विश्वास की सुगधि से बसा हुआ है। जहाँ कही भी, किसी भी प्रकार का आरोपण करके उसे मनुष्य से महत्तर सिद्ध करने का प्रयास दिखाई पड़ता है, मारिश की चेतना का क्षोभ ज्वार बनकर उसे निगल जाना चाहता है, उस पर पूरी निर्ममता से प्रहार कर उसे भस्मीभूत कर डालना चाहता है। अपने युग के नाना भाँति के आरोपणो और अंधविश्वासो के वात्याचक्रो को चीर कर मारिश कार्य-कारण शृंखलामूलक चिंतन के उस बिन्दु पर खडा दिखाई देता है, जो आज के द्वंद्वात्मक

भौतिकवादी चिन्तन का मूल स्वर है। यही कारण है कि इतिहास के बौद्धकाल का लोकायत का समर्थक, चार्वाक मारिश आज हमे मार्क्सवादी चिन्तन का प्रवक्ता मालूम पड़ता है।

कला, धर्म, दर्शन आदि सभी शास्त्रो और विद्याओं को मारिश मानव-जीवन के सुख-सतोष का तथा उसे उदात्ततर बनाने का उपकरण मानता है। जहाँ कही भी व्यक्ति की दृष्टि जीवन से हटकर जीवन-उपकरणों पर (अर्थात् शास्त्रो और विद्याओ पर) अटकी दिखाई पड़ती है, मारिश की मानव-महिमा मे विश्वास करने वाली भौतिकवादी चेतना उसे पुनः जीवन पर ला टिकाने के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होती है। रत्नप्रभा के प्रासाद मे जीवन से विरत वीतराग परन्तु कला को जीवन-लक्ष्य मानने लगने वाली अशुमाला (दिव्या) से वार्तालाप के समय वह कला को परिभाषित करते हुए दिव्या को जीवनोन्मुख करने का प्रयत्न करता है—"कला केवल उपकरण मात्र है। कला जीवन के लिए और उसकी पूर्ति मे ही है। जीवन से विरक्ति और जीवन के उपकरण से अनुराग का क्या अर्थ ?'[1]

दु.ख की मारी, त्रस्त दिव्या अपने नर्तकी जीवन अपनाने की विवशता को भाग्य अथवा कर्मफल बताती है तो मारिश जीवन-दर्शन के भाग्यवादी पहलू का पूरी शक्ति से तिरस्कार करते हुए कहता है—"देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता।······भाग्य का अर्थ है असामर्थ्य।·········असामर्थ्य का अर्थ है प्रयत्न और चेष्टा न करना।······प्रयत्न और चेष्टा जीवन का स्वभाव और गुण है। जब तक जीवन है, प्रयत्न और चेष्टा रहना स्वाभाविक है।······जीवन मे एक समय प्रयत्न की असफलता मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नही है। जीवन का हम अत नही देख पाते, वह निस्सीम है। वैसे ही मनुष्य का प्रयत्न और चेष्टा भी सीमित क्यो हो ? असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है जीवन मे प्रयत्नहीन हो जाना, जीवन से उपराम हो जाना"[2] कर्मफल के सिद्धान्त का विरोध वह यह कहकर करता है, "कर्मफल का अर्थ है कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान।"[3] इस प्रकार मारिश दिव्या को जीवन-प्रवृत्ति की प्रेरणा देता है।

मधुपर्व के अवसर पर दिव्या ने जब 'मराली का आत्म-समर्पण' नृत्य किया और नृत्य की समाप्ति पर एक काषाय चीवरधारी भिक्षु ने ऊर्ध्व-बाहु खडे होकर गभीर स्वर मे जन को उद्बोधन करते हुए कहा कि, "माया के बधन मे जीव को इसी

---

१. दिव्या, पृ० १५७
२. दिव्या, पृ० १५१
३. दिव्या, पृ० १४५

प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है।"[1] तो जन को जीवन से उपराम करने के प्रयत्न मे संलग्न बौद्ध भिक्षु का मारिश उग्र विरोध यह कहकर करता है, "भन्ते, दु:ख की भ्रांति में जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्मा-प्रवचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असदिग्ध सत्य है।"[2] मारिश का यह विरोध, मात्र विरोध के लिए नही है, अपितु जीवन-विमुखता की सकट-बेला मे जन को जीवनोन्मुख बनाने के लिए है।

युद्धकाल के समय मद्य-पराय मे मद्यप अपनी विवशता और दीन-अवस्था को दैवाधीन बताते हुए परलोक और पुनर्जन्म की अनेक बाते करते है। अपनी वार्ता से वे अत्यन्त निराश और इसीलिए युद्ध से विरत तथा उपरमित मालूम पडते है। ऐसे ही अवसर पर मारिश उनमें से एक को फटकारते हुए कहता है, "उठो, लडो, अपने लिए लड़ो। अपने अन्न के लिए, अपने वस्त्र के लिए, अपने मेरय के लिए। उस स्त्री के लिए, जिसे अंक मे लेकर सुख पाते हो। उस सतान के लिए, जिसमे अपने आपको जीवित पाते हो।"[3] इस प्रकार मारिश उन्हे भी जीवनोन्मुख करता है।

वस्तुतः मारिश की आस्था जीवन मे इतनी अटूट और गहरी है कि, जीवन-विमुखता की बात उसके लिए बिल्कुल असह्य है। भौतिकवादी दर्शन में विश्वास करने वाला व्यक्ति जीवन की उपेक्षा कभी सह ही नही सकता; इसके लिए उसे चाहे धर्म का, दर्शन का, साहित्य का, कला का, समाज का, ईश्वर का, या और किसी का भी विरोध क्यो न करना पडे। अपनी भौतिकवादी जीवन-मान्यताओ के कारण, मारिश न परलोक मे, न पुनर्जन्म मे, न भाग्य में, न ब्रह्मवादियो के ब्रह्मवाद मे और न ही जीवन-विरक्ति मे विश्वास करता है। उसके अनुसार यह पार्थिव-ऐहिक जीवन ही सबसे बडा सत्य है। इस जीवन और ससार से अलग वह किसी दूसरी वस्तु को सत्य नहीं मानता। उसके अनुसार कुछ पाना और भोगना यदि कही सम्भव है तो इसी मानव जीवन मे, इसी लोक मे। रत्नप्रभा से उसका कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है—"यह जीवन ही सत्य है। यह ससार ही सत्य है। जो पाना है, इसी जीवन में पाओ।"[4] मारिश के इन कथनो मे चार्वाक के इस सिद्धान्त-वाक्य की अनुगूंज प्रतिपद सुनाई पडती है—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

---

१. दिव्या, पृ० १७
२. दिव्या, पृ० १७
३. दिव्या, पृ० ५६
४. दिव्या, पृ० १४०

मारिश का जीवन-दर्शन व्यावहारिक विचार-भूमियो पर प्रतिष्ठित है । इसी लिए वह उस जीवन की अस्वस्थ प्रवृत्तियो का विरोधी है । वेश्या-वृत्ति जीवन की एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है, इसलिए मारिश उसका उग्रमत विरोध करता है । वेश्या-जीवन की तथाकथित आत्म-निर्भरता और स्वतत्रता को वह प्रवचना मानते हुए कहता है कि, "यदि कुलवधू एक पुरुष की भोग्या है तो जनपद-कल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। .....वह 'काम' के यज्ञ का साधन-मात्र है । फलतः वह स्वय-पूर्ति के हविष्य से वंचित रहती है । उसकी स्वतन्त्रता का भोग जन करता है, वह स्वय नही । वह केवल वंचना पाती है ।"[1] इसका तात्पर्य यह नही कि वेश्या-जीवन का विरोध करते हुए वह कुलवधू के शोषण का समर्थन करता है । शोषण को तो वह समाज के लिए भयकर अभिशाप मानता है । शोषण किसी प्रकार का हो—चाहे दास-प्रथा के रूप मे हो, चाहे प्रेम के क्षेत्र मे नारी के ऊपर थोप दी गई एकनिष्ठता के रूप मे या फिर परलोकवादी, भाग्यवादी, पलायनमूलक धार्मिकता के रूप मे—वह सब का कट्टर शत्रु है । वस्तुतः वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच स्वतन्त्र सामाजिक सम्बन्धो का पक्षधर है । अपने भौतिकवादी जीवन-विश्वासो और स्वतत्र सामाजिक सम्बन्धो की आस्था के कारण ही मारिश जीवन से निराश और विरक्त दिव्या को पुनः स्वस्थ जीवन मे प्रवृत्त करने मे सफल होता है । उपन्यास के अन्त मे दिव्या द्वारा ब्राह्मण धर्म के मिथ्यानुयायी रुद्रधीर का तथा पलायनवादी मुडीधर्म मे विश्वास करने लगने वाले प्रवंचक भिक्षु पृथुसेन का तिरस्कार और लोकायतवादी चार्वाक मारिश का ग्रहण और कुछ नही, मात्र मारिश के भौतिकवादी स्वस्थ जीवन-विश्वासों की ही विजय है । वह रुद्रधीर की तरह दिव्या को किसी महादेवी के पद का लोभ नही देता, न ही भिक्षु पृथुसेन की भाँति निर्वाण-प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होने की प्रतिज्ञा करता है । वह दिव्या के नारीत्व के बदले अपने पुरुषत्व को प्रदान कर समान भाव से जीवनानुभूतियो के आदान-प्रदान का, आश्रय देने और आश्रय पाने का विश्वास प्रकट करता है । तथाकथित धर्म के शिकंजो मे जकडे समाज से सत्रस्त और शोषित दिव्या इसीलिए मारिश का वरण करती है, क्योकि उसे विश्वास हो गया है कि मारिश के साथ सुविधागत चाहे जितने अभाव और कष्ट झेलने पडे, पर शोषण के क्षयरोग का वहाँ रचमात्र चिह्न नही है और व्यक्ति के व्यक्तित्व-अपहरण की लेशमात्र आशका नही है ।

मारिश वस्तुतः उपन्यास मे यशपाल के भौतिकवादी जीवन-दर्शन के प्रवक्ता के रूप मे चित्रित हुआ है । इस जीवन-दर्शन मे विश्वास करने वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए भी वह व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र है । वह आदि से अन्त तक अपने इसी चरित्रगत

---

१. दिव्या, पृ० १५८

वैशिष्ट्य को लिये संघर्षों से जूझता रहता है और अन्त में सारे द्वन्द्वों और विभीषिकाओं को परास्त कर विजयी सेनापति की भाँति भास्वरता से दीप्त दिखाई पड़ता है।

(२) दिव्या—दिव्या की सर्जना करके यशपाल ने नारी-शोषण की समस्या पर एक बार पुनः प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इसके पूर्व के यशपाल के उपन्यासो की नारियाँ या तो मध्यवर्गीय है या निम्न मध्यवर्गीय। निस्सन्देह उनका भयानक शोषण उन रचनाओ में देखने को मिलता है, पर हमारे समाज की मात्र निम्न मध्यवर्गीय या मध्यवर्गीय नारी ही शोषित नही रही है, अभिजातवंशीय नारियों को भी शोषण-चक्र वैसे ही पीसता रहा है। अभिजात कुल मे जन्म लेने के कारण उन्हे सुविधाएँ भोगने का अवसर अवश्य मिलता रहा है, पर दकियानूसी जीवन-मूल्यो के बन्धन उन्हे भी वैसे ही जकडे रहे हैं, जिस प्रकार अभिजातेतर नारियों को। दिव्या की सर्जना के पीछे इसी वास्तविकता को प्रकट करने की अभिलाषा कार्यरत दिखाई पड़ती है।

महापंडित धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री दिव्या का लालन-पालन आभिजात्यपूर्ण वातावरण मे हुआ। यौवन की मधुवेला में प्रवेश करते ही दिव्या मधुपर्व आयोजन के अवसर पर अपने सर्वोत्कृष्ट नृत्य-प्रदर्शन के कारण 'सरस्वती-पुत्री' की उपाधि से विभूषित हुई। उसी अवसर पर शस्त्र-प्रतियोगिता मे सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन के वीरत्व पर मोहित होकर दिव्या ने उसे अपना हृदय अर्पित कर दिया। केंद्रस के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए युद्ध-स्थल में जाने से पूर्व पृथुसेन को दिव्या अपना नारीत्व समर्पित कर उसके तेज को अपने गर्भ में धारण कर लेती है। दिव्या का यह प्रणय-व्यापार उसके भावी जीवन के लिए विषाद और भयकर दुःख का कारण वनता है।

गर्भवती दिव्या पृथुसेन के द्वारा तिरस्कृत होने पर समाज में अपने लिए कही स्थान न पाकर एक रात दासी धाता के साथ परिवार, समाज और सागल की वैभव सम्पन्न नगरी छोडकर जीवन की दुःखद स्थितियों के अतल सागर में डूबने-उतराने के लिए निकल पडती है। दास व्यवसायी प्रतूल के हाथो मे पडकर वह पण्य-वस्तु वन जाती है। दिव्या का अथाह दुःख, उसकी विषम स्थिति उस समय और भी दर्दनाक हो उठती है जव पुरोहित चक्रधर द्वारा उसकी सन्तान शाकुल को छीनकर उसे अन्यत्र वेच देने की योजना वनाई जाती है। सन्तान के प्यार मे विक्षिप्त दिव्या शाकुल को गोद में छिपाये अन्यत्र शरण पाने के लिए भाग निकलती है, परन्तु दुःखियो को शरण देने का दम भरने वाला अभिधर्म भी उसे आश्रय प्रदान नही कर पाता है। अतः चारो ओर से सन्त्रस्त वेचारी दिव्या यमुना की गोद मे चिर शान्ति पाने का प्रयत्न करती है, पर भविष्य मे और भी अधिक मानसिक यत्रणा झेलने के लिए वह नर्तकी रत्नप्रभा की ममता से वचा ली जाती है।

अशुमाला के रूप मे दिव्या का जीवन विरक्ति की साधना में बदल जाता है। उसके सामने अनेक प्रणयी आते है, पर उसे निर्जीव, चेतनाहीन, मात्र कला की पुत्तलिका के रूप मे देखकर निराश लौट जाते हैं। वस्तुतः दिव्या के जीवन में उसके प्रथम प्रणयी पृथुसेन के जघन्य विश्वासघात के कारण विषाद का जो अंकुर फूट पड़ता है, धीरे-धीरे वह इतना विशाल वट-वृक्ष बन जाता है कि जीवन की ओर जैसे उन्मुख होने से वह उसे निरन्तर रोकता रहता है। दिव्या के जीवन मे अपमान की कहानी एक बार पुनः अपने को दुहराना चाहती है और दिव्या को मल्लिका अपनी उत्तराधिकारिणी बनाने के लिए सागल लाती है। परन्तु द्विज-वर्ग के विरोध के कारण ब्राह्मण-पुत्री दिव्या राज-नर्तकी के पद पर प्रतिष्ठित नही हो पाती। राज-नर्तकी बनने की उसकी इच्छाओ का विरोध करने वाले आचार्य रुद्रधीर पांथशाला मे पुनः एक बार उसके प्रणय की याचना करते हैं। इसी समय बौद्ध भिक्षु पृथुसेन भी उसे निर्वाण-पद का लोभ देता है, पर दिव्या अपने जीवन की कटु-रिक्त अनुभूतियो के कारण इन दोनो के निवेदनो को अस्वीकृत कर मारिश से 'आश्रय दो, आर्य !' की याचना करती हुई उसे समर्पित हो जाती है। वस्तुतः दिव्या की चेतना की अंतिम परिणति मे जो प्रगतिशीलता दिखाई पडती है, उसकी मूल प्रेरणा उसके गत जीवन के विकट सघर्षो मे निहित है।

(३) **रुद्रधीर**—आचार्य रुद्रधीर तत्कालीन ब्राह्मण-वर्ग के प्रतिनिधि पात्र है। अपने वर्गीय स्वार्थों की रक्षा उनके जीवन का मूल उद्देश्य है। वह ब्राह्मणो द्वारा किये जाने वाले शोषण को यथावत् कायम रखने के लिए, पृथुसेन और उसकी सत्ता को उखाड फेकने के लिए कटिबद्ध हैं। प्रवास की अवधि समाप्त कर सागल लौटते ही उन्होंने पृथुसेन को सत्ताच्युत करने के लिए राजनर्तकी मल्लिका के साथ मिलकर षड्यंत्र रचा। इस षड्यंत्र में उन्हे सफलता भी मिली। नई व्यवस्था मे आचार्य रुद्रधीर परोक्ष रूप से सबसे बडे शासक बने।

आचार्य रुद्रधीर का चरित्र आरम्भ से अन्त तक अपने वर्ग-हित की भावना से परिचालित दिखाई पडता है। आरम्भ मे पृथुसेन के अपमान मे उनके आभिजात्याभिमान की झलक मिलती है और अन्त मे दिव्या को महादेवी के पद पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास मे उनका वह शोषक रूप भी दिखाई पडता है जो नारी को मात्र भोग की वस्तु मानता है। रुद्रधीर के चरित्र मे न तो जनहित की कामना है, न देश को समृद्ध करने का प्रयास है। उनमे केवल ब्राह्मणो को कुलीन और पूज्य सिद्ध करने का गर्व छिपा हुआ है।

(४) **सीरो**—गणपति की पुत्री सीरो के चरित्र मे वासना की उच्छृङ्खलता और इच्छाओं का उद्दाम वेग दिखाई पडता है। वह इतनी असहिष्णु नारी है कि पृथुसेन

पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए दिव्या को उसके पास तक नही आने देती। सीरो की वासना पृथुसेन से भी तृप्ति न पाकर अन्यत्र सौन्दर्य और प्रणय की खोज मे व्याकुल रहती है। असल मे उसके जीवन मे जैसे भोगवाद ही समाया हुआ है। इस तरह की नारी प्रगतिशील चेतना के विकास मे बाधक, प्रतिक्रियावादी शक्ति ही सिद्ध होती है।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—'दिव्या' कालीन में समाज मे सामान्य जन-जीवन की अवस्था अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त और शोचनीय थी। सामान्य जनता सामन्तो के शोषण का शिकार बनी हुई थी। शोषण इस सीमा तक था कि जनता को जीवन से जैसे विरक्ति हो गई थी। ऐसा नही कि वह जीना नही चाहती थी, पर चारो ओर से शोषित और सत्रस्त व्यक्ति की जीवन के सम्बन्ध मे जैसी निराशापूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है, उसी तरह की विचार-सरणि हमे 'दिव्या' की सामान्य जनता मे दिखाई पडती है। केंद्रस के आक्रमण के समय मद्र-गण मे, उपन्यास मे चित्रित सामान्य नागरिक का यह सोचना कि 'गण की रक्षा' का उत्तरदायित्व सामन्तो का है, हमारा नही, इसी तथ्य की ओर सकेत करता है।

दासो की दशा तो और भी चिन्ताजनक एवं दर्दनाक थी। दासो का जीवन उनके स्वामी सामन्तो और श्रेष्ठियो के लिए था; वे, जैसे, पैदा ही हुए थे अपने स्वामियो के लिए। पशुओ से भी हीनतम अवस्था मे वे जीवन-यापन कर रहे थे। वे चूंकि मर नही जाते थे इसीलिए जिन्दा रहने के लिए विवश थे। उनकी अपनी इच्छा-अनिच्छा का कोई मूल्य नही था। छाया और बाहुल एक-दूसरे से प्रेम करके भी आपस मे मिल नही सकते। भोग के लिए पशु स्वतन्त्र होता है, पर छाया और बाहुल-जैसे दास भोग करना तो दूर रहा, परस्पर हँस-बोल भी नही सकते थे। दासो और सामान्य जनता के चित्रण मे यशपाल ने अपने हृदय की सारी सम्वेदना उड़ेल दी है। शोषण के विरुद्ध लेखक की आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया पाठक तक बडी खूबी और सफलता से सम्प्रेपित होती है। 'दिव्या' के मार्क्सवादी लेखन ने इस प्रकार के विकट शोषण का चित्रण कर व्यजित किया है कि जिस समाज का बहुत बड़ा और विशाल वर्ग शोषित होने के कारण जीवन से निराश और उपरमित हो गया हो, उसके विकास और प्रगति की क्या आशा की जा सकती है? स्वस्थ सामाजिक प्रगति के लिए शोषण का मूलोच्छेद अत्यन्त आवश्यक है। यशपाल की दृष्टि में शोषण का निर्मूलन मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था से ही सम्भव है। उपन्यास मे लेखक का प्रवक्ता मारिश इसी विचारधारा और तदनुरूप समाज-व्यवस्था का समर्थन करता है। वस्तुतः 'दिव्या' की बौद्धकालीन कथा के माध्यम से लेखक आज की समाज-व्यवस्था पर व्यंग्य करता है।

(घ) 'गीता पार्टी कामरेड'

(१) भावरिया—पदुमलाल भावरिया ऐसे पिता की सन्तान है जिसमे पूँजीवादी जीवन-दृष्टि पूर्णतः प्रतिफलित दिखाई पडती है—एक तरफ शोषण के सहारे समृद्ध से समृद्धतर होते जाना और दूसरी ओर उस शोषण को छिपाने के लिए अपने चारो ओर तथाकथित धर्म की दीवार खीचकर आड कर लेना। नई पीढ़ी के भावरिया का अन्तर्मन भीतर-ही-भीतर इस धार्मिक पाखण्ड का विरोध करता रहता है, और पिता की मृत्यु के बाद उसमे इतनी भयानक प्रतिक्रिया होती है कि वह पिता के मार्ग के ठीक विपरीत चलने लगता है। धर्म के उस रूप को वह समझ ही नही पाता जिसकी उपासना भय के कारण की जाय। बाप और बेटा दोनो पंजीवादी मनःप्रवृत्ति के हैं, पर बेटा बाप की तुलना में इसलिए अच्छा लगता है कि वह जो कुछ करता है, खुलेआम करता है; बाप की तरह अपने दुष्कृत्यो को धर्म के परदे मे छिपाने का प्रयत्न नही करता। धार्मिक दिखावे को तो वह झाडकर फेक चुका है, पर नारी के प्रति उसका दृष्टिकोण पूँजीवादी ही है। नारी को वह भोग्या मानता है। गीता के सम्पर्क मे आने का उसका प्रयत्न इसी दृष्टिकोण से प्रेरित है—यह बात अलग है कि गीता-जैसी सशक्त व्यक्तित्व की नारी उससे प्रभावित होने के बदले स्वतः उसे प्रभावित करती है।

गीता का सम्पर्क भावरिया के जीवन मे आमूल परिवर्तन ला देता है। नारी के प्रति उसके दृष्टिकोण मे तो अन्तर आता ही है, उसका राजनीतिक दृष्टिकोण भी बदलता है। गीता के सम्पर्क मे आने के पहले वह कम्युनिस्टो को गद्दार, देशद्रोही और चरित्र-भ्रष्ट मानता था, पर गीता के साहचर्य से उसकी यह धारणा बदल जाती है। सन् १९४६ ई० के आम चुनाव के समय पूँजीवादी समाचारपत्रो द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी का किया गया दोषारोपण, भावरिया को वेबुनियाद और प्रपंचपूर्ण मालूम पडता है। परिणामतः पूँजीवादियो के राजनीतिक दल कांग्रेस से उसका मन फट जाता है और कुछ तो गीता के प्रति आकर्षण के कारण तथा कुछ पूंजीपतियो के कुचक्र के कारण वह कम्युनिस्ट पार्टी और उसकी नीतियो के प्रति सहानुभूतिशील हो उठता है। फलतः नौ-सैनिक-विद्रोह के समय पूंजीवादियो और उनकी राजनीतिक सस्था काग्रेस की नीतियो के विरुद्ध ब्रिटिश साम्राज्यशाही से लडता हुआ शहीद हो जाता है।

भावरिया मे आया यह विस्फोटक परिवर्तन, सोचने के लिए विवश करता है कि क्या यह गाधीवादी हृदय-परिवर्तन तो नही है? मार्क्सवादी यशपाल के यहाँ इस प्रकार का परिवर्तन थोडा अस्वाभाविक जरूर लगता है और इसीलिए अमार्क्सीय भी। मार्क्स-वाद के अनुसार व्यक्ति मे परिवर्तन उसकी भौतिक-आर्थिक परिस्थितियो मे परिवर्तन के

कारण होता है। भावरिया की भौतिक-आर्थिक परिस्थितियाँ ज्यों-की-त्यों है, फिर भी उसमे इतना विस्फोटक परिवर्तन आ जाता है, जो एक व्यक्ति—गीता—के चारित्रिक औदात्य का परिणाम है। भावरिया का हृदय-परिवर्तन देखकर लगता है कि यह निश्चय ही गाधीवादी परिवर्तन है। प्रत्येक कलाकार पर उसके न चाहने के बाद भी युगधर्म का प्रभाव पडता ही है। गाधीवाद उस युग का एक बहुत बड़ा सत्य था। यशपाल इस सत्य से अप्रभावित न रह सके। माना, यशपाल एक प्रतिबद्ध कलाकार हैं, पर उनके कलाकार ने, युगधर्म ग्रहण कर, उनकी प्रतिबद्धता को पराजित कर ईमानदार रचना-धर्मिता की विजय-घोषणा की है।

(२) गीता—'पार्टी कामरेड' की गीता मार्क्सवादी कलाकार यशपाल की एक ऐसी चरित्र-सृष्टि है जिसके माध्यम से लेखक ने एक साथ ही राजनीतिक और सामाजिक दोनों समस्याओं पर विचार किया है। गीता समाजवादी चेतना-सम्पन्न कम्युनिस्ट पात्र है। सन् १९४६ ई० मे देश में हुए आम चुनाव के समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा जनहित के किये गये कार्यों का मूल्यांकन और पूँजीवादियों की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस की जन-विरोधी तथा पूँजीवाद-साम्राज्यवाद समर्थक भूमिकाओं की कटु आलोचना यशपाल ने गीता के माध्यम से की है। गीता कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के अनुसार जनहित को आधार बनाकर काग्रेस का, उसके पूँजीवादी राजनीतिक सिद्धांतो का डटकर विरोध करती है; पर उसकी सबसे बडी लाचारी यह है कि जनकल्याण का कार्य उसे पूँजीवादी सस्कारो वाले समाज मे करना पडता है। नारी कार्यकर्ता को निरस्त्र कर देने के लिए पूँजीवाद का सबसे बडा हथियार है उसके चरित्र पर लांछन लगाना। अधिक-से-अधिक जागरूक नारी भी इस आक्रमण से परास्त हो हथियार डाल देने के लिए विवश हो जाती है। गीता भी, जो शोध-छात्रा और अत्यन्त जागरूक है, पूँजीवादियों के इस वार से लडखडा जाती है। एक बार वह इस लाछनपूर्ण आक्रमण की उपेक्षा कर भी सकती थी, पर विवशता तो यह है कि जिस समाज मे उसे कार्य करना है, वह भी पूँजीवादी संस्कारों वाला है।

पूंजीवादी समाज मे नारी के स्वतत्र व्यक्तित्व का कोई अर्थ नही होता। पुरुष के आश्रय के बिना वह कदम-कदम पर लांछित होती है। स्त्री का व्यक्तित्व चाहे जितना सशक्त और बलशाली हो, उसे पुरुष की आड चाहिए ही—भले ही वह पुरुष दुर्बल हो, कमजोर हो। गीता का यह कथन पूंजीवाद के इसी विडम्बनापूर्ण आचरण को अनावृत करता है—"भाई की भोली और उत्तेजनापूर्ण बाते गीता के लिए कितने संतोष का कारण थी। उसने एक बाँह का सहारा अनुभव किया। वह बाँह देखने मे कितनी दुबली-पतली और कमजोर है पर है तो मर्द की बाँह। वह अकेली नही है। शामू छोटा है

तो क्या ? है तो लडका......मर्द । उसके सहारे वह खडी हो सकेगी ।"[1]

इससे भी बढकर गीता की मजबूरी यह है कि स्वयं उसकी पार्टी के लोग भी रह-रहकर कुछ उसी तरह का आचरण करते हैं, जैसा पूँजीवादी संस्कारो वाला व्यक्ति करता है । मेघनाथ और प्रान्तीय कमेटी के कामरेडो द्वारा उसके प्रति किया गया व्यवहार इसी बात का प्रमाण है । गीता के चरित्र के व्याज से यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी मे आ गई सैद्धातिक जडता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अपहरण की नीति का भी विरोध किया है । इस प्रकार यशपाल ने दोहरी व्यजना की है । एक तो यह कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का अत होना चाहिए और दूसरी यह कि कम्युनिस्ट पार्टी को भी विवेकपूर्ण होना चाहिए, अन्यथा अपनी मौत की घडियाँ गिनने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए ।

गीता के चरित्र के माध्यम से कम्युनिस्ट दृष्टिकोण पर आक्रमण कर एक ओर जहाँ यशपाल प्रतिबद्धता की परवाह किये विना यात्रिक जडता के दोष से बच गये हैं, वही दूसरी ओर कलाकार की कलात्मक निस्सगता और तटस्थता का प्रमाण भी प्रस्तुत कर सके हैं ।

(३) भायाजी—भायाजी पूँजीवादी मनोवृत्ति के एक बडे व्यापारी है । अपने व्यापार की रक्षा और वृद्धि के लिए ही वे कांग्रेसी बने हुए है । वस्तुतः कांग्रेस अपनी नीतियो के कारण ऐसे ही भायाजी लोगो से भर उठी है । भायाजी काग्रेस मे इसलिए नही सम्मिलित हुए है कि वे देश और देश की जनता का हित चाहते है । उन्हे मात्र अपनी, अपने व्यापार और अपने वर्गीय स्वार्थों की चिन्ता है । वे स्वराज्य सिर्फ इसलिए चाहते है कि देश के व्यापार पर जो विदेशी सरकार और पूँजीपतियों का नियत्रण है, वह इन लोगो के हाथ मे चला आये और फिर ये छूटकर चरे ।

चुनाव-प्रचार के दौरान भायाजी तर्क-पर-तर्क देकर भावरिया को सतुष्ट करके अपने दल का समर्थन करवाना चाहते हैं । तर्क देते हुए अत मे वे कहते हैं—"कांग्रेसी सरकार कायम होगी तो अपने ही लोगो का फायदा होगा ।"[2] भायाजी जवान के जितने मीठे हैं, भीतर से उतने ही जहरीले है । उनकी वाहरी विनम्रता घिनौने स्वार्थ से प्रेरित है । सब मिलाकर भायाजी विनयी-कुटिल कांग्रेसी, और प्रतिक्रियावादी पात्र हैं ।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—वस्तुतः 'पार्टी कामरेड' का चित्र-फलक वहुत-ही छोटा है । सामान्य जन-जीवन के चित्रण के लिए इसमे अवसर नहीं है । जुलूसों और हडतालो मे भाग लेने वाले लोगो मे अधिकांश सामान्य जन-जीवन के ही

---

१. गीता पार्टी कामरेड, पृ० ७०

२. गीता पार्टी कामरेड, पृ० ७३

लोग हैं, पर उनके जीवन का कोई चित्रण उपन्यास मे नही मिलता, सिवाय इसके कि उस वक्त जनता आजादी पाने के लिए कुछ भी कर गुजरने को, मर-मिटने को तैयार थी।

(ङ) 'मनुष्य के रूप'

(१) भूषण—भूषण मार्क्सवादी जीवन-धारणाओं में विश्वास करनेवाला प्रगतिशील पात्र है जिसके जीवन मे भावुकता के लिए कोई स्थान नही। निस्सन्देह उसके जीवन मे दो स्थानो पर भावुकता के दर्शन होते है—एक, अध्ययन-काल मे, जब उसका परिचय मनोरमा से होता है। स्वयं उसी के कथनानुसार, वह मनोरमा के प्रेम मे बह-सा जाता है, पर जीवन के उषःकाल मे उपजी इस भावुकता या भावना-प्रवणता पर वह विजय पा लेता है। परिणामतः मनोरमा को भद्र समाज की मानकर एक तरह से अपने को उससे अलग कर लेता है, प्रेमसूत्र मे बँध नही जाता। उसकी समाजवादी आस्थाएँ उसे यह बोध देती है कि विषम वर्गों के व्यक्तियो के बीच प्रेम सम्भव नही, और यदि किसी तरह हो भी जाये तो निर्वाह मुश्किल ही है। दूसरा, तब जब वह अपनी इच्छाओ और मान्यताओ के विरुद्ध मनोरमा के कहने से सोमा के पूर्व-प्रेमी धर्नसिंह को लेकर सोमा के यहाँ जाता है, यह जानते हुए भी कि सोमा अब फिल्म-जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री हो गयी है, उसकी भौतिक और आर्थिक परिस्थितियो मे आकाश-पाताल का अतर आ गया है और इसी कारण धर्नसिंह के लिए अब वहाँ कोई स्थान नही है। परिणाम जो होता है, वह हमारे सामने है। पहली भावुकता उसके मन से स्वत. निःसृत थी, उस पर वह विजयी हुआ, पर दूसरी भावुकता जिस पर मनोरमा का दबाव भी है, उसे कही का नही रहने देती। तात्पर्य यह कि जीवन भावुकता नही, वह अत्यन्त कठोर जटिल सत्यो का समुच्चय है, जिससे तभी पार पाया जा सकता है जब भावुकता को छोडकर वैज्ञानिक चितन के सहारे चला जाये। निश्चय ही भूषण इस वैज्ञानिक चिन्तन को मार्क्सवादी चिन्तन मे देखता है। ऊपर का विश्लेषण भूषण की पूरी जीवन-गाथा का ध्वन्यर्थ है।

इन दो प्रसगों के अतिरिक्त भूषण का अवशिष्ट सारा जीवन मार्क्सवादी जीवन-विश्वासो से प्रेरित होकर कार्यरत रहता है। चाहे धर्मशाला हो या लाहौर, युद्ध का समय हो या शाति का, पार्टी दफ्तर का कार्य हो या निजी जीवन का प्रश्न, प्रेम का प्रसग हो या नैतिकता का, वह सर्वदा मार्क्सवादी चिन्तक और विचारक के रूप में आचरण करता दिखाई देता है। निर्विवाद है कि वह वैचारिक स्तर पर इतना सुलझा हुआ है और अपने विश्वासों और आस्थाओ को अपने जीवन का ऐसा अभिन्न अग बना चुका है कि आचरण के स्तर पर अन्तर्विरोधों और असगतियो के लिए कोई

अवसर ही नही रहता। वह ऐसे जीवट का विचारक है कि अपने सुलझे हुए विचारों और अप्रतिम कर्मठता के कारण सुविधाहीन और अवसररहित निम्न मध्यवर्ग मे पैदा हो कर भी पार्टी मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है, जबकि आज की समाज-व्यवस्था मे उस वर्ग मे उत्पन्न व्यक्ति के प्रारभ मे ही टूट-मिट जाने की सभावना अधिक रहती है।

भूषण ने अपनी राह जीवन के प्रारभ मे ही बहुत सोच-समझकर निर्धारित कर ली थी, इसीलिए सम्पूर्ण उपन्यास मे उसमे अधिक उतार-चढाव नही दिखते, पर इसका अर्थ यह नही कि वह गतिशील पात्र नही है—गति ही तो उसका जीवन है।

(२) **मनोरमा**—मनोरमा सभ्रान्त परिवार मे उत्पन्न नारी है जिस पर उस वर्ग के संस्कार मात्र वेशभूषा तक सीमित है। वैचारिक स्तर पर वह वर्गीय सस्कारो से बिल्कुल मुक्त है और साम्यवादी जीवन-धारणाओ मे विश्वास रखती है। भूषण का साहचर्य उसके इस विश्वास को माँज कर और प्रखर बना देता है। नारी-सुलभ करुणा, दया-दाक्षिण्य और मानवता की भावना उसमे आपाद-मस्तक बसी है। निराश्रित, दुखियारी सोमा को वह अपने इन्ही गुणो के कारण शरण देती है, यद्यपि उसके घर के और लोग, उसके बैरिस्टर भाई जगदीशसहाय सरोला को छोडकर, इस बात का उग्र विरोध करते हैं। कम्युनिस्ट भूषण मे शुद्ध मानवता की भावना देखकर ही वह उसकी ओर आकृष्ट होती है। यह अलग बात है कि भूषण उसकी वास्तविकता को न पहचान पाने के कारण उसे आरम्भ मे स्वीकार नही करता।

विचारो के स्तर पर साम्यवादी मनोरमा खोखले और निर्जीव प्रतिष्ठित मूल्यो से अनास्था रखने वाली क्रांतिकारिणी नारी है। उसकी क्रातिकारिता का पहला प्रमाण हमे तब मिलता है, जब वह परिवार की इच्छा के विरुद्ध तार देकर सुतलीवाला से विवाह कर लेती है। एक तो अपनी इच्छा से और दूसरे अन्तर्जातीय विवाह करके वह एक साथ ही दो-दो क्रातिकारी कदम उठाती है।

प्रेम के सम्बन्ध मे उसकी धारणा आदर्शवादी है। परिस्थितियाँ, यदि, साथ और अवसर देती तो वह मात्र भूषण की जीवन-साथी बनकर जिन्दगी बिता देती, पर परिस्थितिजन्य विवशता के कारण सुतलीवाला से उसे ब्याह करना पडता है। प्रश्न उठता है कि यह कैसा आदर्शवाद ? प्रेम किसी और से, और विवाह किसी अन्य से ! वस्तुतः उसका आदर्श जड आदर्श नही है जो जीवन को उन्नयन की ओर न ले जाकर निष्प्राण बना देता है और जीवन-भर के लिए नाना दुःखो तथा यन्त्रणाओं का कारण बनता है। सुतलीवाला से विवाह करके उसने आदर्श को नही, आदर्श की जडता को तिलाजलि दी है। मनोरमा अपने आदर्श को परिस्थितियो के अनुरूप ढाल सकने मे समर्थ है, उसके

आदर्श में लचीलापन है, ढुलमुलपन नहीं। मुतलीवाला से ब्याह करके उसने इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है। ब्याह करने पर जब उसे मालूम होता है कि उससे गलती हुई तो वह उसे तलाक भी दे देती है। उसकी जगह कोई जड आदर्शवादी होता तो अपने तथाकथित आदर्श की रक्षा के लिए यातनाएँ झेलता हुआ जीवन को नरक बना लेता। पर मनोरमा वैसा नहीं करती।

भूषण के सम्पर्क मे आने से जो प्रभाव उस पर पड़ा, उसके कारण उसने प्रारंभ से ही स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर बनने की दिशा में प्रयास किया। लाहौर के किसी कालेज में डेढ सौ रुपये महीने की नौकरी की, पर घरवालों ने जब उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया तो वह अवैतनिक काम करने लगी। उसके अवैतनिक काम करने से जब एक दूसरी महिला प्राध्यापिका की जीविका पर आँच आई तो भूषण से यह खबर पाते ही उसने नौकरी तत्काल छोड दी। शोषण का विरोध करने वाली मनोरमा स्वयं दूसरे का शोषण कैसे करती? तदुपरान्त वह कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा लाहौर से प्रकाशित होने वाले समाचारपत्र मे कार्य करने लगी। कम्युनिस्ट पार्टी के समाचारपत्र मे इसलिए उसने कार्य किया क्योंकि यह काम उसकी वैचारिक मान्यताओ के अनुरूप था। मुतलीवाला से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने के बाद भी वह बम्बई मे कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर मे ही काम करती है। एम० ए० तक पढी-लिखी मनोरमा कोई और काम न करके कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यालय मे ही काम करती है, केवल इसलिए कि वह उसके विचारों मे मेल खाता था। भूषण जब मनोरमा को बिल्कुल अपने जीवन-स्तर और वैचारिक स्तर पर पाता है तो वह भी अनुरक्ति प्रकट करता है, पर तब तक धर्नसिह वाली दुर्घटना हो जाती है जो उसका अंत कर देती है।

मनोरमा अपनी प्रेम-संबधी आदर्शवादी धारणा के कारण ही भूषण को धनसिंह के साथ सोमा के घर भेजती है। मार्क्सवादी भूषण का विश्वास था कि अब सोमा और धनसिंह की आर्थिक-भौतिक परिस्थितियों मे बहुत बड़ा अन्तर आ गया है, इसलिए उन दोनो के प्राचीन सम्बन्धो का निर्वाह सम्भव नही, पर आदर्शवादी मनोरमा इस तथ्य को समझ नही पाती, जिसका कारण है उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रेम-धारणा। फलतः उसे बहुत बडा मूल्य चुकाना पडता है—अपना और अपने जीवन-साथी का बलिदान देकर। वस्तुतः इस बिन्दु पर मनोरमा के चरित्र मे मार्क्सवादी सिद्धान्तो का अभाव दिखाई पडता है, अन्यथा वह भी उस तरह सोचती, जिस प्रकार भूषण सोचता है।

(३) बैरिस्टर जगदीश सहाय सरोला—बैरिस्टर जगदीश सहाय सरोला प्रतिक्रियावादी पात्र हैं। सतह पर प्रगतिशील-जैसा दिखाई पडने वाला उनका रूढि-मुक्त, खुला व्यवहार उनके प्रवञ्चनापूर्ण और प्रतिगामी आचरण को छिपाने का आवरण है। वाणी मधुर, आचरण शालीन और शिष्टता लिये हुए, पर उद्देश्य अत्यन्त विषैला और

घातक। उनका सारा सौजन्यपूर्ण व्यवहार उनके घिनौने स्वार्थ तथा भोगवादी मनोवृत्ति की तृप्ति के लिए है। वे मधु-वेष्टित विष है। ऐसे पात्र समाज के लिए कही अधिक घातक होते है। गाँव का एक अशिक्षित, उजड्ड, स्पष्ट-भाषी, प्रतिक्रियावादी व्यक्ति समाज के लिए उतना हानिकर नही, जितने बैरिस्टर सरोला है। सोमा को शरण देकर वे उसका मूल्य लेंगे। वे इतने भोले नही कि यों ही शरण देते फिरे।

बैरिस्टर सरोला पूंजीवादी भोगपरक और शोषणमूलक मनोवृत्ति के ज्वलन्त प्रतीक है। वे नारी को भोग्या मानते हैं। पत्नी को भोग लेने के बाद सोमा पर आकृष्ट होते हैं, साथ ही मिसेज़ बासू पर भी उनकी दृष्टि है। नाइट-क्लबो मे जाकर पचास औरतो के साथ नाचना और भोगना, वह तो गोया है ही।

मेजर बासू को चार हजार रुपयों की मदद देते है तो लाखो का ठेका और मिसेज बासू को पाने के लिए ही। मनोरमा के प्रेम-विवाह का जो वे समर्थन करते है उसके पीछे भी उनकी कुटिल मनोवृत्ति काम करती है। विलायत से पढकर आने के कारण वे पूंजीवादी व्यवस्था के सिद्धान्तो के अनुरूप व्यक्ति-स्वातत्र्य का समर्थन करते है, इसीलिए मनोरमा के प्रेम-विवाह का भी। पर इससे भी गूढ कारण यह है कि मनोरमा के प्रेम-विवाह कर लेने से उनकी सम्पत्ति की बचत होगी। परम्परागत ढग से विवाह करने पर विशेषकर, पिता ज्वालासहाय के रहते, पचासो हजार रुपये खर्च होते। अन्ततः बैरिस्टर सरोला की चाल सफल हुई। मनोरमा का विवाह भी हुआ और सरोला-परिवार का धन भी बचा।

साम्यवाद के प्रति बैरिस्टर जगदीश की अनुरक्ति सिर्फ बौद्धिक व्यायाम के लिए है, व्यवहार और आचरण के लिए नही। लेनिन और ट्राटस्की को वे इसलिए नही पढ़ते कि इन चिन्तको के जीवन-दर्शनो के अनुसार व्यावहारिक जीवन मे आचरण करेंगे। बल्कि उनके सिद्धान्तो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा दिमागी कसरत करते हैं—मस्तिष्क को खुराक देने के लिए और शायद इसलिए कि समाजवादी सिद्धान्त यदि जबान पर रहेगे तो उनसे दूसरो को ठगने मे मदद मिलेगी।

(४) **सोमा**—'मनुष्य के रूप' उपन्यास की नायिका सोमा ऐसी चरित्र-सृष्टि है जिसके माध्यम से यशपाल ने मार्क्सवादी समाज-दर्शन और जीवन-दर्शन के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अभिव्यक्ति दी है। एक यह कि मनुष्य के सामाजिक जीवन मे आर्थिक-भौतिक परिस्थितियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। आर्थिक-भौतिक परिस्थितियाँ मनुष्य की चेतना को प्रभावित करती है। और चेतना परिवर्तन के साथ व्यक्ति के संस्कार, जीवन-मूल्य, धारणाएँ, मान्यताएँ, विश्वास आदि सब कुछ बदल जाते हैं। सोमा के जीवन के विविध मोड़ और इसके कारण उसमे

आये विचार-परिवर्तन इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। दूसरा यह कि पूंजीवादी शोषणमूलक, पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था मे न नारी-शोषण पूर्णरूपेण समाप्त हो सकता है और न नारी को स्वतंत्र व्यक्तित्व ही उपलब्ध हो सकता है, यहाँ तक कि आर्थिक आत्म-निर्भरता के बाद भी। सिने-संसार की ख्याति-प्राप्त अभिनेत्री हो जाने और आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करने पर भी सोमा (पहाडन) को किसी पुरुष का आश्रय आवश्यक है। सुतलीवाला से उसका सम्बन्ध इस सचाई के अतिरिक्त और क्या है ? यह बात व्यजना के माध्यम से कही गई है; पर इससे भी गूढतर व्यजना यह है कि जीवन के समुचित विकास का अवसर और साधन प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए। अवसर के अभाव मे अनन्त सभावनाओं वाले व्यक्ति का जीवन भी अर्थहीन बनकर रह जाता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था मे हर किसी को जीवन-विकास का समान और उपयुक्त अवसर मिलना कदापि सभव नही। मात्र समाजवादी समाज-व्यवस्था मे ही यह संभव है, अतएव जीवन-विकास की दृष्टि से पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का अन्त करना अनिवार्यतः अपेक्षित है। सोमा के व्यक्तित्व मे विकास की सारी सभावनाएं बीज रूप मे अवस्थित थी, और उसे अवसर मिला—चाहे नारकीय कष्टों और यातनाओ से गुजरने पर ही क्यो न मिला हो—इसलिए वह उन्नति के शिखर तक पहुँच सकी। यदि यह अवसर सोमा को सहजतया समाज की ओर से मिला होता तो उसका विकास सभवतः और अधिक हुआ होता। और यदि उससे अधिक न भी होता, जितना हुआ है, तो भी यत्रणा के उन नाबदानो और वीभत्स नारकीय कष्टो से तो होकर न गुजरना पडता।

कई बार सोमा के विकास को देखकर यह दोषारोपण किया जाता है कि ठेठ गँवारिन को अत्यन्त प्रसिद्ध फिल्म-अभिनेत्री बना देना यशपाल की जबर्दस्ती और खीचातानी है, इसीलिए उसका चरित्र अस्वाभाविक भी है। वस्तुतः सोमा का विकास परिमाणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता हुआ गुणात्मक परिवर्तन के बिन्दु पर पहुँचा है। पर सामान्य पाठक की दृष्टि तो उसके गुणात्मक परिवर्तन पर ही अटक कर रह जाती है, इसलिए उसे वह अस्वाभाविक लगता है। बैरिस्टर जगदीश सहाय सरोला और मनोरमा का साहचर्य तथा सान्निध्य सोमा के परिमाणात्मक परिवर्तन का काम पूरा कर चुका था और बनवारी-जैसे कलाकार के सम्पर्क ने उसमे गुणात्मक परिवर्तन ला उपस्थित किया। सोमा के रूप, सौंदर्य, आचार-विचार एवं सस्कारों मे आया परिवर्तन क्रमिक है, पाँच-छह वर्षों के अन्तराल मे आया है और वही उसके कलात्मक अभिनय में परिणत होता हुआ दिखाई पडता है। अतः स्पष्ट है कि उसका चरित्र-विकास अस्वाभाविक नही है।

मनोरमा-जैसी सहानुभूतिशीला नौकरानी को भी बहनापा देने वाली और

मुसीबतों के समय अत्यधिक आत्मीयता का व्यवहार करने वाली नारी के प्रति तथा भूषण-जैसे सहायक मनुष्य और धर्नासिंह-जैसे प्रेमी के प्रति भी उपन्यास के अन्त मे जब सोमा का अपरिचितों-जैसा रुक्ष व्यवहार दिखाई पडता है तो पाठक को लगता है कि सोमा बडी ही अमानवीय है। इस प्रसंग में मनोरमा का कथन विचारणीय है, "इसमे उसका क्या दोष ? मैंने उसका कभी कुछ नही विगाडा, परन्तु वह तो पूरे समाज से डरी हुई है।"[1] वस्तुतः यह सोमा की अमानवीयता नही, शोषणमूलक समाज-व्यवस्था के वर्बरतापूर्ण व्यवहार से उपजा हुआ भय और त्रास है। यदि इसे सोमा की अमानवीयता ही मान ले तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि यह अमानवीयता वर्तमान समाज-व्यवस्था की ही देन है। यदि सोमा अपने अतीत जीवन मे समाज द्वारा सत्रस्त न की गई होती, वह सहज-स्वाभाविक अवसर पाकर ही उन्नति के शिखर पर पहुँची होती तो उक्त व्यक्तियों के साथ उसका व्यवहार एक सहज मानव का होता, सत्रस्त और सशकित मानव का न होता। इसलिए सोमा का चरित्रगत यह दोष भी वर्तमान समाज-व्यवस्था के ही मत्थे जाता है। यशपाल पुनः इस प्रसग से व्यंजित करते है कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को बदलकर समाजवादी समाज की स्थापना होनी चाहिए।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—'मनुष्य के रूप' मे धर्नासिंह, वरकत, मजहर, मियाँ कुदर्नासिंह, मोहसिन खाँ, वसीलाल, बाबूलाल आदि सामान्य जन-जीवन के पात्र है। आज की समाज-व्यवस्था में इनका सब कुछ हर लिया गया है, ये सर्वहारा हैं, इसीलिए जब एक वर्ग-विशेष को ये सुविधा-भोगी के रूप में देखते हैं तो इनका खून खौल उठता है। प्रतिक्रिया मे ये या तो हर उचित-अनुचित कार्य करके सुविधा जुटाकर हृदय को तसल्ली देना चाहते हैं या फिर विवशता मे खून-हत्या करके जीवित मृत्यु झेलते रहते हैं। मौजूदा समाज-व्यवस्था मे इन्हे जीवन-विकास का कोई अवसर नही मिलता, इसलिए ये अनेक विकासात्मक सम्भावनाएँ अपने मे ही छिपाए एक दिन मर-खप जाते हैं। बरकत को यदि अवसर मिलता तो वह सिनेमा के क्षेत्र मे अवश्य कुछ-न-कुछ करके दिखाता, क्योकि उसमे इस प्रकार की प्रवृत्ति के बीज विद्यमान थे। ये सब के सब पात्र अवसर के अभाव मे अशिक्षित वने रहते है और जानवरो का-सा निरुद्देश्य जीवन विताते हैं। एक तरफ तो ये पात्र अभावो मे पिसने के कारण कोई भी गलत काम करने से नही हिचकते, दूसरी ओर बैरिस्टर सरोला, सुतलीवाला तथा सिने-ससार के अन्य पैसेवाले और पूँजीपति अपनी भोगवादी और शोषणमूलक मनोवृत्ति के कारण सभी तरह के गलत-सही काम करते हैं। इस प्रकार वर्तमान समाज-व्यवस्था मे हर व्यक्ति गलत काम कर रहा है। ऐसी स्थिति मे सामाजिक प्रगति और

---

१. मनुष्य के रूप, पृ० २८४

जीवन-विकास की आशा कैसे की जा सकती है ? यशपाल के अनुसार समाज के शरीर मे व्याप्त यह कोढ तभी दूर हो सकता है जब पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करके समाजवादी समाज की स्थापना की जाये और इस तरह हर किसी को विकास और प्रगति का समान अवसर दिया जाये।

(च) 'अमिता'

(१) **अमिता**—बालिका महारानी अमिता ने बौद्ध धर्मानुयायिनी माता नन्दा से प्राप्त होने वाले नित्य के उपदेश—'किसी से छीनो मत, किसी को डराओ मत, किसी को मारो मत'—को जैसे अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लिया है। उसका सम्पूर्ण आचरण इसी उपदेश के अनुकूल होता हुआ दिखाई पडता है। जहाँ कही भी उसे कोई छीनता, डरवाता या मारता हुआ दिखाई देता है उसकी करुणा बालसुलभ वाणी में मुखरित हो उठती है और वह आततायी को दण्ड देने के लिए तत्पर हो उठती है। अपने कुत्ते वभ्रु को जब वह कबूतरो पर आक्रमण करते देखती है तो क्षुब्ध होकर उसे दण्ड देने के लिए साँकल में बाँधकर महारानी नन्दा के पास ले जाती है। यूथप स्कन्द के साथ भी वह ऐसा ही व्यवहार करती है।

शोभा-यात्रा पर निकली अमिता निर्धन बच्चों को देखकर उनकी अकिंचनता पर द्रवित हो उठती है। परिणामतः अपने बहुमूल्य रत्न-जटित वस्त्र उन्हे दे देती है और महामात्य, हिता आदि के विरोध के बावजूद उन्हे हाथी पर बैठाकर राजप्रासाद में लाती है। घायल सैनिको की कष्टप्रद स्थिति से अमिता इतनी विह्वल हो जाती है कि उन्हे राजशिविका पर बैठाकर स्वतः पैदल चलती, दौडती हुई आती है।

अमिता के चरित्र का दूसरा पहलू है उसकी निर्भयता, स्वभावगत उन्मुक्तता, सकोचहीनता और खुलापन। परिस्थितियो ने उसे ऐसे वातावरण मे रखा है कि संकोच, भय और दब्बूपन के लिए वहाँ कोई अवसर नही है। माँ से प्राप्त उपदेश और परिस्थिति-प्रदत्त खुलेपन और संकोचहीनता का ही यह प्रभाव है कि चण्ड अशोक जैसे महाप्रतापी सम्राट से भी वह उसी निस्संकोच, निर्भयता और धड़ल्ले से बात करती है—उसे वभ्रु की तरह सांकल में बाँध देने तक की बात कह डालती है। उसकी बाल-सुलभ निश्छलता चण्ड अशोक पर वह मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालती है, जिससे अशोक द्रवित होकर प्रतिज्ञा कर बैठता है, "वह किसी से छीनेगा नहीं, किसी को डरायेगा नही, किसी को मारेगा नही। अब अशोक हिंसा और युद्ध से विजय की कामना नहीं करेगा। वह कलिंग की विजयी महारानी की भाँति निश्छल प्रेम से संसार के हृदयो की विजय करेगा।"[1]

१. अमिता, पृ० २३

अमिता का चरित्र यशपाल ने प्रायः आद्यन्त बडे ही स्वाभाविक रूप मे विकसित किया है, किन्तु एक स्थान पर ऐसा लगता है जैसे लेखक की दृष्टि से उसकी वालसुलभ विशिष्टता ओझल हो गई है अथवा लेखक जान-बूझकर अनदेखा करने का प्रयत्न करता है। हिता, सेठ सौमित्र की प्रवचनापूर्ण बातो में आकर अमिता को उकसाती है, बंदिनी महारानी नन्दा को सोई हुई याद को फिर से अमिता के हृदय मे जगाती है। हिता अपने प्रयत्न मे सफल होती है; अमिता माँ की याद कर विह्वल हो उठती है। यह बडा ही स्वाभाविक है, मनोविज्ञान-सम्मत है; पर जब दूसरी ही साँस में भयभीत हिता यह कहकर—"भगवती अम्मे, माता को ऐसे याद नही करते। भगवती अब वयस्क हो गई हैं" अमिता को माँ की याद करने से मना करती है तो अमिता पर बाल-सुलभ मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया वह नही होनी चाहिए थी जो उपन्यास में दिखाई गई है। अमिता को तुरन्त कहना चाहिए था—"तुम्ही ने तो माँ को याद करने के लिए कहा है, तुम्ही ने तो कहा है माँ से मिलने चलेंगे।" पर यह सब कुछ नही होता और हिता जैसा चाहती है, वही होता है। गोया, अमिता बालिका नही, कोई काठ का खिलौना है, जिसको आवश्यकतानुसार चाभी देकर हिता नचाती रहती है। अमिता की यह निर्जीवता और कठपुतलीपन उसके चरि मे खटकनेवाली बात है। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र का वडा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

(२) सेठ सौमित्र—सेठ सौमित्र तत्कालीन वैश्य वर्ग—शोषक व्यापारी वर्ग—का प्रतिनिधि पात्र है। उसका जीवन अपने वर्ग-हितों की रक्षा के लिए सर्वत्र कुटिल संघर्ष मे रत दिखाई देता है। सेठ सौमित्र समाज और राजहित के लिए उतना चिंतित नही दिखाई पडता जितना अपने साम्पत्तिक हितो की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है। जहाँ कही वह जनहित या राज्य-सहायता का कार्य करता भी है, वहाँ भी उसका कुटिल स्वार्थ अन्तर्निहित रहता है। ऐसा करके वह प्रशासन की दृष्टि में ऊँचा उठना चाहता है और भविष्य मे उससे पूरा लाभ उठाने की ताक मे रहता है। वह अपने लक्ष्य के लिए, अपने धन-सचय के लिए प्रशासन तक को धोखा देता है। वह गुण और स्वभाव से सच्चा वैश्य है। उसे पदार्थों के उपभोग मे उतना सतोप नही मिलता जितना पदार्थो पर स्वामित्व पाकर मन से लक्ष्मी का विलास करने से मिलता है।

सेठ सौमित्र मे आज के उन पूँजीपतियो का रूप दिखाई पड़ता है जो राज्य को धोखा देकर अनेक प्रकार से कर-चोरियाँ किया करते है। कलिंग पर युद्ध के वादल मँडरा रहे थे; सम्राट् अशोक के आक्रमण से राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक धन सचित करने के लिए महामात्य ने वाणिक् के लाभ का तीन-चौथाई राजकर मे राज्य-आयत कर लेने की आज्ञा प्रसारित करवा दी थी और इधर सेठ सौमित्र ने पिछली पूर्णिमा को ही, जब उक्त आज्ञा प्रसारित करवाई गई थी, अपना दूत चोल देश भेज

दिया था कि उनका सार्थ चोल से कलिंग न लौटकर पूर्व मार्ग से स्वर्णगिरि होकर अवन्तिका चला जाये। वह युद्ध-कर से अपने द्रव्य की रक्षा के लिए आचार्य सुकंठ द्वारा देश-रक्षा के लिए की जाने वाली युद्ध की तैयारियो को असफल करने का हर सभव प्रयास करता है और आचार्य के इस प्रयत्न को ब्राह्मणों के अधिकार के लिए किया जाने वाला युद्ध-प्रयास की सज्ञा देता है। इतना ही नही, सेठ पद्मज और वासल के साथ जाली प्रतिज्ञा-पत्र तैयार कर व्यापार से होने वाले अपने समस्त लाभ को बौद्ध-विहार को अर्पित कर देता है और इस प्रतिज्ञा-पत्र के द्वारा महारानी नदा की सहायता से लाभ मे प्राप्त समस्त सम्पत्ति को वह राजकर से मुक्त घोषित करवा देता है। दासी हिता को उकसा कर वह निरन्तर अमिता के मन मे अपनी माँ के लिए विह्वलता उत्पन्न करा कर आचार्य की शासन-व्यवस्था मे गत्यवरोध पैदा कर देता है।

यह सेठ सौमित्र का ही प्रयास था कि आचार्य सुकठ वाध्य होकर महारानी नन्दा को गुप्त दुर्ग से मुक्त करते हैं। वस्तुतः सेठ की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अत तक इतनी प्रवल हो जाती है कि आचार्य की सारी योजना व्यर्थ हो जाती है और कलिंग सम्राट अशोक के आक्रमण का प्रतिरोध करने मे असमर्थ सिद्ध होता है।

सेठ सौमित्र के चरित्र के माध्यम से यशपाल ने सामन्ती समाज-व्यवस्था मे चलने वाले विषैले शोषण की नग्नता उद्घाटित की है, जो यशपाल के मार्क्सवादी सिद्धान्तो के सर्वथा अनुकूल ही है। पर 'अमिता' की लक्ष्यपूर्ण कथा के ढाँचे मे सेठ सौमित्र कतई 'फिट' नही वैठता, वल्कि अनावश्यक और निरर्थक प्रतीत होता है।

(३) महारानी नन्दा—महाराज करवेल के स्वर्गवास के वाद महारानी नन्दा ससार से विरक्त होकर अभिधर्म मे शाति और सतोष पाती है। महास्थविर जीवक की चामत्कारिक सिद्धियो के प्रति उनके मन मे अगाध आस्था है। कोई भी कार्य वह महास्थविर की इच्छा के प्रतिकूल नही करना चाहती। महास्थविर के परामर्श से वह आचार्य द्वारा प्रसारित नगर मे महावलि-यज्ञ की राजाज्ञा को भी वन्द घोषित करती है। अभिधर्म पर उनका इतना प्रगाढ विश्वास है कि सम्राट् अशोक के आक्रमण से रक्षा के लिए वह तनिक भी चिंतित नही है। उनका विश्वास है कि महास्थविर की शक्ति दुश्मन का प्रतिरोध करेगी, अतएव वह तो केवल भगवान् वुद्ध के साक्षात्कार के लिए ही ध्यानस्थ हैं। नन्दा का चरित्र वस्तुतः धर्म के प्रति अधश्रद्धा का प्रतीक है, इसीलिए उनमे प्रतिक्रियावादी शक्ति ही कार्यरत दिखाई पडती है।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—यशपाल के लक्ष्य के विरुद्ध 'अमिता' की कथा वस्तुतः तत्कालीन समाज और जीवन की ही कथा है। 'अमिता' को सामान्य पाठक भी समझ सकता है कि उस समय की सामन्ती समाज-व्यवस्था में सेठो, व्यापारियो, राज-पुरुषो और सामन्तो को छोडकर शेष जनता जीवित अभिशाप झेल रही थी।

धार्मिक रूढियों का बधन जनता को इतना जकडे हुए था कि वह तथाकथित धर्म की भाषा के अतिरिक्त और कुछ बोल-समझ सकती ही नही थी। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म हर सभव तरीके से जनता को वरगलाने के प्रयत्न कर रहे थे। युद्धकाल मे जहाँ एक ओर वह महारानी के बौद्धधर्म मे विश्वास के कारण बौद्धो की सिद्धियो से आकृष्ट हो रही थी, वही दूसरी ओर महामात्य आचार्य सुकण्ठ के विसूचिका (हैजे) के प्रकोप के समय गाँवो की झोपडियो मे आग लगवाने से बीमारी का आतक दूर हो जाने पर महामात्य को वैश्वानर की सिद्धि का अधिष्ठान मान बैठी।

राजा, सामन्त और व्यापारी जनता का शोषण करने के लिए किसी भी सीमा तक स्वतत्र थे। आदमी जानवरो की तरह खरीदा-बेचा जाता था। हिता और मोद ऐसे ही क्रीतदास थे। दासो का जीवन तो बिल्कुल ही नारकीय था। वे मनुष्य होकर भी अमानव थे। 'इच्छा' नाम की चीज उनके लिए बनी ही न थी। मानव-सुलभ भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति की कामना वे किसी तरह नही कर सकते थे। हिता और मोद एक-दूसरे को प्राणो से अधिक प्यार करके भी आपस मे विवाह-सूत्र में नही बँध सकते थे। उनके प्रेम और विवाह पर तो सामन्ती धर्म ने नियत्रण लगा ही दिये थे, उनके स्वर्णाभूषण धारण करने पर भी प्रतिबन्ध था। सेठ सौमित्र द्वारा प्रदत्त कगन हिता पहन नही सकती, इसलिए वह पुनः लाचार होकर उसी को वापस कर देती है।

राज्यसत्तात्मक शोषणमूलक तत्कालीन शासन-व्यवस्था मे कलाकारों और कवियो की उपेक्षा चरम सीमा को पहुँची हुई थी। मोद-जैसा शिल्पकार दास बना जीवन का शव कन्धे पर लादे घसीट रहा था और लोहित-जैसा उत्तम कोटि का कवि भी गलियो की धूल छानता भटक रहा था।

सब मिलाकर सामान्य जन-जीवन की स्थिति अत्यन्त दुःखद और अभिशापग्रस्त थी। इसमे सन्देह नही कि कथा के इस पहलू ने मार्क्सवादी यशपाल के चित्रण को बडी ही भास्वरता प्रदान की है, पर पाठक को ग्लानिपूर्ण, आक्रोश-भरी निराशा तब होती है जब लेखक इस कथा के माध्यम से विश्व-शाति की समस्या की आवश्यकता व्यजित करना चाहता है।

(छ) 'झूठा सच'

(१) **डॉ० प्राणनाथ**—डॉ० प्राणनाथ के रूप मे यशपाल ने 'झूठा सच' मे एक ऐसे चरित्र का निर्माण किया है, जो विचार और व्यवहार दोनो स्तरो पर प्रगतिशील है। डॉ० प्राण अत्यन्त उदार-हृदय, ईमानदार और दायित्वबोध से सम्पन्न व्यक्ति है। मानवीय गुणो में उनकी अटूट आस्था है। मास्टर रामलुभाया के प्रति

उनके हृदय में दिखाई पडने वाली असीम श्रद्धा और अपार सम्मान का भाव डॉ० प्राण की अध-भक्ति और व्यक्ति-पूजा की भावना नही, मानवीय गुणों को सही-सही परखने वाली उनकी विवेक-दृष्टि की विशेषता है। आज के प्रगतिशील कहलाने वाले व्यक्तियो में प्रायः जो उच्छृंखलता और उद्दण्डता दिखाई पडती है, डॉ० प्राण मे उसका आत्यन्तिक अभाव है। उनकी प्रगतिशीलता मे उनका विवेक एवं विनम्रता झलकती है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि अपनी विनम्रता के कारण वे किसी उद्दण्डता के सम्मुख घुटने टेक देते है। उनकी विनम्रता मे इस्पात की-सी दृढ़ता है, जो उनके चरित्र की सबसे बडी विशेषता है। प्रजातन्त्रीय प्रणाली एवं समाजवादी व्यवस्था मे विश्वास करने वाले डॉ० प्राण एक ओर जहाँ अपनी सहिष्णुता और उदारता के कारण सही बात को बिना किसी हठवादिता के स्वीकार कर लेते हैं, वही गलत बात का दृढ विरोध भी करते हैं। ऐसे विरोध के समय उनके चरित्र की दृढ़ता अपने प्रखरतम रूप मे दिखाई पड़ती है। नौकरों की हडताल के समय डॉ० प्राण नौकरो की माँगें स्वीकारते हुए अपने नौकर को प्रदर्शनों में भाग लेने के लिए तुरन्त मुक्त कर देते हैं, पर जब सूद उनके और तारा के सम्बन्ध को आधार बनाकर उनपर चारित्रिक आक्षेप करता है तथा विभागीय जाँच का षड्यंत्र रचता है तो डॉ० प्राण रंचमात्र विचलित नही होते। स्वतः तो अडिग बने ही रहते हैं, विचलित होती हुई तारा को भी स्थिर और दृढ़ करते हैं। तारा तंग आकर नौकरी से त्यागपत्र दे देने की इच्छा प्रकट करती है, जिस पर डॉ० प्राण का यह विश्वास भरा गभीर उत्तर था—"प्रश्न तुम्हारी नौकरी का नही, सम्मान का है।"

डॉ० प्राण वस्तुतः जीवन को सहज-स्वाभाविक रूप मे स्वीकार करते है। उनका वैयक्तिक जीवन सहजता का अप्रतिम उदाहरण है। इसी सहजता को वे सम्पूर्ण समाज मे देखना चाहते हैं, जिसका मौजूदा पूंजीवादी विषम समाज-व्यवस्था मे एकान्त अभाव है। सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए ही वे समाजवादी व्यवस्था को अभीष्ट मानते है। इसी लिए आयोजना का प्रारूप वे समाजवादी सिद्धान्तो के आधार पर तैयार करते हैं।

तारा के साथ उनका विवाह भी इसी सहजता की परिणति है। जीवन को सहज-स्वाभाविक बनाने के लिए काम-तृप्ति अनिवार्य है, पर मात्र काम-तृप्ति ही जीवन नही है, इसके अतिरिक्त भी जीवन है। काम निस्सन्देह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, पर जब नारी से मात्र वासना-तृप्ति के लिए सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तो वह नारी का शोषण हो जाता है। डॉ० प्राण ऐसे शोषण का विरोध प्राण-पण से करते है। तारा के साथ उनका परिणय-सम्बन्ध अनुभूति के स्तर पर परस्पर आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। इस सबसे ऊपर तारा में वे उस व्यक्तित्व के दर्शन करते है, जो उनके स्वय के व्यक्तित्व का साथी होने के योग्य है, अर्थात् विचारो के स्तर पर डॉ० प्राण तारा को अपने समानान्तर पाते हैं।

(२) तारा—तारा यशपाल की अत्यन्त सजीव और प्रगतिशील चरित्र-सृष्टि है। उसके जीवन की सबसे बडी मुसीबत उसकी प्रगतिशीलता है। परम्परावाद के जजाल से घिरे समाज में व्यक्ति का प्रगतिशील होना स्वतः मे मुसीबत की बात है और यदि गरीबी का अभिशाप भी उसके साथ जुडा हो तब तो मुसीबतो का कोई अन्त ही नही। पुरुष-प्रधान बूर्जुआ समाज पुरुष का प्रगतिशील होना तो, विरोध करके, किसी तरह सह लेता है, पर यदि नारी प्रगतिशील हो जाये तो उसकी दृष्टि मे नारी का यह सबसे बडा अपराध है, जिसका दण्ड उसे मिलना ही चाहिए। तारा का अपराध यही है कि वह प्रगतिशील है और इसीलिए समाज उसे जीने तक नही देना चाहता; पर तारा का व्यक्तित्व ऐसे जीवट का है कि सभी विरोधो, बाधाओ, यातनाओ और सघर्षो से जूझता हुआ मिट जाने के बिन्दु तक पहुँच कर भी उठता हुआ, अनवरत रूप से आगे बढता रहता है।

भारतीय बूर्जुआ समाज मे नारी और उसकी अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए भी तारा विशिष्ट है। एक तरफ उसे जहाँ तमाम नारियो की भाँति समाज की बूर्जुआ मनोवृत्ति का सामना करना पडता है, वही दूसरी तरफ वह निर्जीव परम्पराओ और सड़ी गली मान्यताओ का उल्लघन कर वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि अपनाने के लिए आकुल दिखाई पडती है। उसकी विशिष्टता की झलक प्रारम्भ में ही दो रूपो में देखने को मिलती है। छात्रा के रूप मे वह प्रथम श्रेणी की विशिष्ट छात्रा है और जब गुडा सोमराज के साथ उसे ब्याह देने की चर्चा चलती है तो वह अन्य लडकियो की भाँति परम्परावादिता को सर झुका कर स्वीकार नही कर लेती,·यह अलग बात है कि उसका विरोध फलदायक नही होता, पर वह शक्ति-भर लडती जरूर है। तारा सोमराज के साथ ब्याह दी जाती है। पाठक की चेतना यह अनमेल सम्बन्ध देखकर परम्परावादिता मे आग लगा देने की अकुलाहट बडी उत्कटता से अनुभव करती है। यह सब होता है दो कारणो से—एक, तारा के पिता मास्टर रामलुभाया की आर्थिक परवशता से; दूसरे, परम्परावादिता से। एक का सम्बन्ध शासन-व्यवस्था से है और दूसरे का जीवन-दृष्टि से। यशपाल दोनो मे क्रांतिकारी परिवर्तन चाहते हैं, जिसकी व्यंजना तारा के चरित्र के माध्यम से उन्होने बडी कलात्मकता से कर दी है। क्रांति की बात किये बिना क्राति की भावना पाठक के मन मे जगाने मे सफल हुए है।

वर्तमान शासन-व्यवस्था और समाज की अवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि सोमराज के साथ बाँधकर तारा के जीवन को पीडाओं और यातनाओ का एक लम्बा, कुत्सित और बीभत्स नाटक बना देती है, जिसका पहला घिनौना दृश्य खुलता है सुहागरात को; दूसरा, मुसलमान गुंडा नब्बू के कृत्यो मे, और फिर एक-पर-एक दृश्य खुलते जाते है। पाठक का मन मौजूदा व्यवस्था और जीवन-दृष्टि के प्रति जिस मात्रा में घृणा से भर उठता है,

उसी मात्रा मे उसकी सहानुभूति तारा के प्रति उफन-उफन पडती है। पर पाठक सिर्फ सहानुभूति ही दिखाने की मनःस्थिति मे पहुँच कर नही रह जाता, उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता है; क्योंकि वह देखता है कि तारा विपत्तियों से अपनी पूरी ताकत के साथ जूझ रही है, लडते हुए उन पर विजय पाने का अथक प्रयत्न कर रही है।

दिल्ली पहुँच कर भी वह अपनी विशिष्टता प्रमाणित करती है। तमाम सामान्य शरणार्थी नारियों की भाँति उसे भी समझ कर सरकारी दफ्तरो के अधिकारी, काग्रेस के नेता आदि-आदि लोग उसके शरीर का मोल करने का हर सभव प्रयास करते हैं, पर वह सबको, अपने विवेक और कर्मठता से, काई की तरह चीरते हुए निकल जाती है। वह स्वय तो दुष्टों और लोलुपो के जाल से निकलती ही है, सीता, शीलो, कनक आदि को भी उनकी दुर्दशा और घुटन-भरी स्थितियो से उबारती है। इसका तात्पर्य यह नही समझ लेना चाहिए कि यशपाल ने उसका चित्रण अतिमानव की पीठिका पर किया है। वह मनुष्य है—मात्र मनुष्य। सामान्य व्यक्तियों की तुलना मे उसकी विशिष्टता का कारण उसका विवेक है। अपने विवेक के कारण ही वह नरोत्तम के विवाह-प्रस्ताव को हँसकर टाल देती है, यद्यपि वह उससे अत्यधिक स्नेह करती है। उसके विवेक की कसौटी डॉ० प्राणनाथ को खरा और सच्चा पाती है, इसलिए उससे एक विवेकपूर्ण मनुष्य की तरह विवाह करके वह सहज-स्वाभाविक मनुष्य होने का सबूत देती है। तारा वस्तुतः समाज के सदर्भ मे एक सामान्य और वैयक्तिक स्तर पर विशिष्ट चरित्र है। यशपाल की कलात्मक लेखनी ने तारा के रूप मे एक सशक्त और प्रेरणादायक पात्र की रचना की है।

(३) **सूद**—सूदजी मध्यवर्गीय प्रतिक्रियावादी काग्रेसी नेता है। उनका अपना कोई वैयक्तिक स्वार्थ नही है, उन्हे अपनी कोई चिन्ता नही है। सूदजी को यदि कोई चिन्ता है तो काग्रेस की शक्ति की, देश मे कांग्रेसी शासन की। कांग्रेस की शक्ति और परोक्षतः अपनी शक्ति को बढाने के लिए वे किसी को 'परमिट' दिला देते हैं तो किसी को 'कोटा'। किसी को कोई दूकान 'ऐलाट' करा देते है तो किसी को सरकारी सहायता पाने का प्रमाणपत्र दे देते है। सूदजी वस्तुतः एक 'टिपिकल काग्रेसी बास' है। "सूदजी के लिए न जमीन-जायदाद बटोर लेने की शिकायत थी, न मकान खड़ा कर लेने और बैंक-बैलेस जमा कर लेने की अफवाह थी। "उनके विरोधी भी उन्हे जर-जमीन के मोह से मुक्त मानते थे। उनके हजारो समर्थको ने उनसे लाभ उठाया था और हजारो लाभ उठाने की आशा मे थे। वे सब तन-मन से सूदजी के समर्थक थे और उनकी सहायता के लिए तत्पर थे।

सूदजी काग्रेस के निरकुश शासन के लिए और उसके माध्यम से अपनी महत्ता स्थापित करने के लिए उन सभी विरोधी शक्तियो को उखाड़ फेंकने के प्रयास मे रत थे

जो उनके मार्ग मे आती थी। सूदजी को जनता और जन-शक्तियो की उतनी चिन्ता नही थी जितनी अपनी पार्टी की। डॉ० प्राण जैसे निःस्वार्थी देशभक्त और प्रगतिशील व्यक्ति को भी वह केवल इसीलिए परेशान करने से बाज़ नही आते, क्योकि प्राण ने उनकी इच्छाओ के अनुरूप योजना के प्रारूप को बदलने से अस्वीकार कर दिया था। दूसरी ओर सोमराज-जैसा गुडा भी उनकी कृपा का पात्र था। सूद अपनी इन्ही शक्तियो के सहारे देश के महान् नेता बनने का स्वप्न देखते है पर उनकी यह प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सन् १६५७ के आम-चुनाव मे उन्हे ही ले डूबती है और उनका अस्तित्व देश की राजनीति से सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

(४) **जयदेव पुरी**—जयदेव पुरी सन् १६४२ के राष्ट्रीय आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेने के कारण कई मास तक जेल मे रह आया है। आरभ से ही उसकी चेतना मे स्वतत्रता की प्रबल भावना उमडती हुई दिखाई पडती है। अपनी इस स्वतत्र चेतना के कारण वह लाहौर के 'पैरोकार' पत्र मे अधिक दिनों तक कार्य नही कर पाता। सम्पादक के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का और हिन्दू-मुसलमानो को परस्पर लडानेवाली नीति का वह उग्र विरोध करता है। नौकरी से त्यागपत्र देकर वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए निरन्तर सघर्ष करता रहता है।

पुरी के मध्यवर्गीय सस्कार धीरे-धीरे उसकी प्रगतिशील चेतना को इस सीमा तक आच्छादित कर लेते हैं कि अन्ततः वह एक उग्र प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में हमारे सामने आता है। वस्तुतः उसका चरित्र अथ से इति तक असगतियो से, विरोधाभास से भरा हुआ दिखाई देता है। एक तरफ तो वह अपनी जाति से हटकर ब्राह्मण-कन्या कनक से विवाह करने का हर सभव प्रयास करता है तो दूसरी ओर अपनी बहन तारा को असद से मिलते देखकर फटकारता है। लगता है जैसे वह स्वतत्र प्रेम और विवाह का अधिकार केवल अपने लिए ही सुरक्षित रखना चाहता है, अपनी बहन तारा के लिए नही।

जयदेव के लेखकीय व्यक्तित्व एव प्रगतिशील विचारो से अत्यन्त प्रभावित होकर कनक उसके साथ वैवाहिक बधन मे बँध जाती है। पर दुर्बल स्नायु पुरी कनक मे अधिक दिनों तक आकर्षण नही देख पाता है। अपने परम्परागत सस्कारो के कारण वह कनक को अपनी प्रेयसी ही नही, भोग्या पत्नी और चरणदासी भी मानने लगता है। फलतः उसे स्वावलम्बिनी कनक के उग्र विरोध और अत मे वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद का सामना करना पडता है। अपने सकुचित स्वार्थों में जीनेवाला पुरी सूद के इगितो पर चलकर ही अपनी महत्त्वाकांक्षाओ को पूरा करना चाहता है। पुरी का व्यक्तित्व इतना निर्बल और खोखला है कि वह सूद के सकेतो पर अपनी बहन तारा के

चरित्र पर भी आक्षेप लगाने से बाज नही आता है। उसके स्वार्थी, पतनशील चरित्र को देखकर उसके माता-पिता तक उससे सबध तोड लेते है और अलग हो जाते हैं। अपने स्वार्थी और भोगी रूप के कारण ही वह उर्मिला को अधिक दिनों तक अपने क्रूर पजो मे नही फँसाये रह पाता है।

वस्तुतः पुरी वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय व्यक्तियों का सही प्रतिनिधि है। निर्धनता की स्थिति मे प्रगतिशीलता का आडम्बर रचता है और धन हाथ मे आते ही प्रगतिशीलता की केचुल उतार कर विषैले सर्प की तरह खूँखार और शोषक पूंजीवादी मनोवृत्ति अपना लेता है। ठीक इन्ही अर्थो मे पुरी बडा जीवन्त चरित्र है। चरित्र के माध्यम से यथार्थ अकन मे यशपाल का कलाकार पुरी के सदर्भ मे जितना सफल हुआ है, उतना अन्यत्र नही।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—'झूठा सच' वैसे तो मुख्य रूप से सामान्य जन-जीवन का ही चित्रण करने वाला उपन्यास है, जिसमे थोडे-बहुत विशिष्ट व्यक्तियो के भी दर्शन होते हैं, पर वास्तविक रूप मे सामान्य जन-जीवन को प्रस्तुत करने वाले पात्र है—केले, अमरूद, अनार आदि बेचने वाला राई, घी बेचने वाली ग्वालिन; मोची दरवाजे के मुसलमान मजदूर और कारीगर-पेशा लोग, टाँगे वाले, सब्जी, शर्बत, गडेरी आदि बेचने वाले हिन्दू-मुसलमान कुंजडे, रेस्तोराँ के नौकर और बैरे, रिक्शा-कुली, स्वतत्रता-समारोह के अवसर पर प्रसन्नता से पागल होकर नाचने-गाने वाले पहाडी युवक और युवतियाँ आदि-आदि। इन पात्रो का जीवन अज्ञान और अशिक्षा के कारण, प्राचीन सस्कारो और जीवन-मान्यताओ से बुरी तरह जकडा हुआ होने के कारण बिल्कुल पशुओ-जैसा है। इन्हे किसी राजनीतिक दल या देश की भली-बुरी अवस्था से कुछ खास सरोकार नही। रोटी-कपडे की समस्या से हटकर इनकी दृष्टि और किसी भी प्रश्न को नही देख पाती। वस्तुतः इन्हे किसी धर्म या सम्प्रदाय से भी कुछ विशेष वास्ता नही। पर अपने अज्ञान और अविवेक के कारण ये धूर्त राजनीतिज्ञों द्वारा बडी आसानी से वरगला दिये जाते है। चूँकि बरगलाहट की स्थिति मे तैश में आकर ये धर्मोन्माद और साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना से भर उठते हैं, इसलिए ऐसे अमानवीय दुष्कर्मो का वज्रपात सबसे पहले और सर्वाधिक भयानक रूप मे इन्ही पर होता है। इनमे भी जो जितना ही सीधा और निर्मल-हृदय होता है, वह इस निर्मम पाशविकता का ग्रास उतनी ही जल्दी बनता है। भोला पाधे की गली का दौलूमामा ऐसा ही उदाहरण है। उसकी निर्मम हत्या, चाहे उसकी निरीहता और अकिंचनता को ही प्रकट करे, पर पाठक की मानवीय सम्वेदनाओं को पूरी ताकत के साथ पकड़कर झकझोर देती है। वे भी अपने अमानवीय कृत्यो पर सोचने-विचारने के लिए मजबूर हो जाते है, जो आवेश मे आकर दौलूमामा-

जैसे इन्सानों का खून कर देते हैं। दीलूमामा की हत्या इन्सान से अधिक इन्सानियत की हत्या है।

इस सब अमानवीयता और पाशविकता का कारण है वह अवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि, जो मनुष्य को मनुष्य न मानकर, उसे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख आदि के खानों मे बाँट देती है, ब्राह्मण-शूद्र, शिया-सुन्नी आदि उपवर्गों मे विभक्त कर देती है। यशपाल ने इस सारे वर्णन के माध्यम से सही वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता को समाज के सम्मुख व्यजना की सहायता से प्रस्तुत किया है।

विभाजन के बाद दिल्ली और लखनऊ मे दिखाई पडने वाले शरणार्थियो के दल 'वतन' से विस्थापित होने के कारण अत्यन्त सामान्य जन-जीवन के रूप मे चित्रित हुए है। शरणार्थियो के जीवन मे मानवीय सकट का वह विकटतम समय था। जो लोग पजाब मे सुख-सुविधा का जीवन व्यतीत कर रहे थे, वे भी जीविका कमाने के लिए ऐसे-ऐसे कार्य करने के लिए विवश हो गये, जैसे कार्य उपन्यास के प्रथम भाग मे चित्रित सामान्य जन कभी करने की सोच··भी नही सकते थे। सीता अपने 'वतन' पजाब के परिचित परिवेश मे वह काम सभवतः कभी भी न करती, जो 'देश' मे आने के बाद उसे करना पडता है। शरणार्थी-शिविरो और दिल्ली तथा लखनऊ के अपरिचित परिवेश मे सीता-जैसा आचरण और काम करने वाली अनगिनत नारियाँ हैं। सायकिलो पर चलता-फिरता होटल लेकर घूमनेवालो, सडक की पटरियो पर चाट के खोमचे लगाने वालो की तो कोई गणना ही नही। यह सारा दृश्य ऐसा·दर्दनाक और मर्म-भेदी है कि पाठक की चेतना उन कारणो के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए बेचैन हो उठती है, जिनकी वजह से यह सारा दुष्काण्ड हुआ। इस सबके भीतर से भी लेखक ने इसी बात की व्यजना की है कि उस समाज-व्यवस्था और जीवन-मान्यता को तिलांजलि दे दी जानी चाहिए, जिसके कारण यह पीड़ा और दुःख का सागर विनाशकारी दृश्य प्रस्तुत करने मे समर्थ हुआ।

(ज) 'बारह घण्टे'

(१) **लारेंस**—लारेंस भौतिकवादी मान्यताओ में विश्वास करने वाला प्रगतिशील व्यक्ति है। वह प्रेम और विवाह जैसे प्रश्न पर, रूढिमुक्त दृष्टि से, उसे जीवन की पार्थिव अनिवार्य आवश्यकता मानकर, विचार करता है। यही कारण है कि जब परम्परावादी जेनी और पामर फेटम के प्रति विनी के आकर्षण को पतन की चरम सीमा मानते है, तब लारेस उसे अत्यन्त सहज-स्वाभाविक प्राकृतिकता के रूप मे स्वीकार करता है। अपने भौतिकवादी विश्वासो के कारण लारेस प्रेम की शाश्वतता का खण्डन करके उसकी शुद्ध भौतिकवादी व्याख्या करता है। 'प्रेम का सम्बन्ध आत्मा से होता है'

यह परम्परावद्ध जीवन-दृष्टि उसे स्वीकार्य नही। अपने इस विश्वास के अनुरूप वह सावित्री की ऐतिहासिक-पौराणिक कथा का विश्लेषण कर यह सिद्ध कर देता है कि सावित्री का सारा प्रयास भौतिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास था। इस तरह वह भारतीय समाज के सम्मुख इतना वडा प्रश्न उपस्थित कर देता है, जिससे भारतीय समाज की परम्परावादिता और दकियानूसीपन आमूल हिल उठता है। लारेंस की दृष्टि से स्वस्थ सामाजिकता की स्थापना तभी संभव हो सकती है, जव जर्जर और गलित रूढियो का वंधन ढीला होगा। परिवर्तित जीवन-सदर्भो में जड रूढियाँ और निर्जीव परम्पराएँ भारत के लिए साघातिक सिद्ध हो सकती हैं। यह लारेंस की ही जीवन-दृष्टि है, जिससे विनी पर परम्परावाद आक्रमण नही कर पाता, अन्यथा वेचारी दुखियारी विनी का जीना दूभर हो जाता। लारेंस वस्तुत 'वारह घण्टे' में प्रेम के सम्वन्ध मे यशपाल की और मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि का वाहक है।

(२) **विनी**—विनी मार्क्सवादी यशपाल की ऐसी चरित्र-सर्जना है, जिसके माध्यम से लेखक ने स्पष्ट किया है कि प्रेम इतनी प्रवल अनिवार्य पार्थिव आवश्यकता है, जिसकी उपेक्षा किसी भी तरह संभव नही। प्रेम, वस्तुतः, जीवन जीने का सहारा है, सहारे के अभाव मे जीवन टिके कहाँ ? प्राचीन सस्कारो वाली विनी के साथ यह घटना घटित हुई है, इसलिए यशपाल की प्रेम-सम्वन्धी मान्यताओ को, अपनी पुष्टि का, और गहरा आधार मिल जाता है। प्रारंभ से ही कोई पात्र प्रगतिशील तथा परम्परा-विरोधी होता और एक प्रेमास्पद के अभाव मे दूसरे का वरण कर लेता तो प्रतिगामी परम्परा-प्रेमी लोग उससे घृणा करके सन्तोष कर लेते, उसे पश्चिम की अधानुकृति कहकर तसल्ली पा लेते, पर विनी (प्राचीन सस्कारो वाली विनी) के सदर्भ मे वात सभवतः उन्हे असूझ लगे। विनी के फलक पर यशपाल ने जो प्रेम-अनिवार्यता का चित्र अकित किया है, उसकी वास्तविकता और यथार्थ से इन्कारा नही जा सकता। जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की उपेक्षा, यशपाल के अनुसार स्वतः जीवन की ही उपेक्षा है। रोटी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, उसकी उपेक्षा से जीवन का टिकना संभव है क्या ? भारतवर्ष जीना तो चाहता है, पर जीवन-अनिवार्यताओ की उपेक्षा करके। इसी मे से एक भयानक अन्तर्विरोध और प्रकट होता है कि हर व्यक्ति अपने लिए तो आवश्यकता की पूर्ति करना चाहता है, पर दूसरो को, धर्मोपदेश देकर, उससे वंचित रखना चाहता है।

विनी के हृदय की द्रवणशीलता सम्पूर्ण मानव-समाज की है, ठीक उसी तरह विनी की पार्थिव आवश्यकता की पूर्ति की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति की है। विनी का फेंटम के साथ प्रेम मात्र जीवन-यथार्थ का चित्रण है, प्राचीन गलित सस्कारो की काई छाँटकर 'जीवन' को दोषरहित वनाने का आह्वान है।

(३) **जेनी**—'वारह घण्टे' की जेनी परम्परावादी रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज की

सही प्रतिमूर्ति है। उसके विश्वास और आचरण मे दिखाई पडनेवाला अन्तर्विरोध भारतीय समाज मे व्याप्त अन्तर्विरोध का सूचक है। आचरण के स्तर पर वह अपने लिए हर तरह की छूट चाहती है, पर दूसरे के सदर्भ मे अत्यन्त कठोर और जड है। अपने पति पामर के विद्यमान रहते हुए भी वह लारेंस से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने मे कोई अनौचित्य और दाम्पत्य-निष्ठा की कोई क्षति नही देखती, पर बेचारी असहाय निराश्रित विनी जब अपने जीने का सहारा ढूंढ लेती है तो उसे औचित्य और निष्ठा का महानाश दिखाई पडने लगता है। प्राचीन दकियानूसी दृष्टि से वह प्रेम को आत्मिक सम्बन्ध मानती है, पर व्यवहार के स्तर पर उससे ठीक उल्टा आचरण करती है। वस्तुतः वह अपने कार्यो को, जो उसी के सिद्धान्तो के अनुसार गलत हैं, सही सिद्ध करने के लिए सिद्धांतो का ज़ामा पहना कर उनपर पर्दा डालने की कोशिश करती है। यही उसके चरित्र का और भारतीय समाज का भी अन्तर्विरोधात्मक पहलू है। यशपाल ने स्वतः जेनी के ही चरित्र के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि प्रेम आत्मिक सम्बन्ध नही, भौतिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन है। जेनी अपने पति पामर से पूर्णतः पार्थिव सन्तुष्टि नही पाती, इसीलिए तो वह लारेंस के प्रति आकृष्ट है। यदि प्रेम का सम्बन्ध आत्मिक होता वह पामर के रहते लारेंस के प्रति क्यो आकृष्ट होती ?

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—शीबू, रिक्शा-कुली, डांडी ढोने वाले, कब्रिस्तान का चौकीदार, वेलेरियो रेस्तरां के बैरे और सिवतिया 'बारह घण्टे' मे सामान्य जन-जीवन के पात्र हैं। उपन्यास मे उनका मात्र नामोल्लेख-भर हो गया है उनके जीवन और वर्गीय वैशिष्ट्य का कोई चित्र नही उभरता। आज के समाज मे उनका जीवन किन सघर्षों से गुजर रहा है, 'बारह घण्टे' का पाठक इसका कोई अनुमान नही लगा सकता। भाषा, अलबत्ता, वे ऐसी बोलते है जिससे लगता है, वे अशिक्षित हैं, पर उनके जीवन-सघर्ष की कोई भी रेखा स्पष्ट नही है, सिवाय इसके कि आँधी-पानी, तूफान-वर्षा मे भी वे अपने पेट की खातिर रिक्शा खीचते है, डाडी ढोते हैं, हड्डी-तोड परिश्रम करते हैं। वैसे यह सकेत भी उनकी दुरवस्था का चित्रण करने के लिए पर्याप्त है, पर स्पष्ट तस्वीर कही भी नही उभरती। ऐसा शायद इसलिए है कि इस उपन्यास मे यशपाल का उद्देश्य मात्र एक ही समस्या—प्रेम की समस्या—का विश्लेषण करना है। इसलिए कहा जा सकता है कि जो लेखक का उद्देश्य ही नही, उसको अपेक्षा करना. रचनाकार से अतिरिक्त माँग करना है, जो निश्चय ही न्याय-सम्मत नही।

(झ) 'अप्सरा का श्राप'

(१) **मेनका**—'अप्सरा का श्राप' मे मेनका लेखक के विचारो और जीवन-दृष्टिकोण का वहन करने वाली पात्र है। वह किसी भी ऐसे धर्म का—पातिव्रत

धर्म का भी—उत्कट विरोध करती है, जिससे व्यक्ति के आत्म-सम्मान और आत्म-रक्षा का अपहरण होता है। उसकी दृष्टि में कोई भी व्रत अथवा धर्म तभी तक वरेण्य है जब तक वह व्यक्ति के आत्मोत्थान में सहायक है; उसके कारण जब व्यक्ति के आत्म-सम्मान की क्षति तथा आत्महनन होने लगे तो वह त्याज्य हो जाता है। दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत और प्रवंचित होने पर भी जब शकुन्तला अंधश्रद्धो की तरह पातिव्रत को गले से लगाये रहती है, तब मेनका क्षुब्ध होकर शाप तक दे डालती है। रूढिग्रस्त, परम्परावादी और विवेकशून्य अंधश्रद्धों के बीच मेनका अपने युग की प्रगतिशीलता को वाणी देती है। 'प्रगतिशील' शब्द को यदि मार्क्सवादी अर्थ में न लेकर (क्योंकि तब तक मार्क्सवादी चिन्तन अस्तित्व में नही आया था) जीवन के प्रति वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के अर्थ में लिया जाये, तो निस्सन्देह मेनका प्रगतिशील पात्र है।

(२) **दुष्यन्त**—दुष्यन्त भारत के उस प्राचीन सामन्तयुगीन पुरुष-सत्ताक समाज का मूर्त रूप है जिसमे धर्म और न्याय के नाम पर शक्तिशाली सामन्त या राजा सामान्य प्रजा का निरंकुश शोषण करता था। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के सदर्भ मे पातिव्रत की लुभावनी किन्तु विषैली आचार-संहिता का प्रणयन करके उसे स्त्री के मत्थे मढ दिया गया था और पुरुष-वर्ग ने उससे अपने को बेलाग बचा लिया था। स्त्री को पातिव्रत के आकर्षक वेष्टन मे बाँधकर पुरुष ने—विशेषकर सामन्त और राजा नामक पुरुष ने—उसे अपनी वासना-तृप्ति के लिए मात्र भोग्य वस्तु बना लिया था। पुरुष अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार एक या अनेक नारियो से सम्बन्ध स्थापित कर सकता था, उसके लिए एकनिष्ठता की कोई आचार-संहिता नही थी। पर स्त्री के लिए एक-निष्ठता मे शैथिल्य घोर पाप माना जाता था। पुरुष इस तरह के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रत्येक संभव छल-छद्म और प्रवचना का सहारा लेने के लिए स्वतन्त्र था। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का आद्यन्त आचरण इसी बात का साक्षी है। वह शकुन्तला को राजमहिषी और उससे उत्पन्न सन्तान को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने का मिथ्या आश्वासन देकर उसे अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाता है और फिर उस बेचारी को कुलटा और दुराचारिणी बताकर राजदण्ड का भय भी दिखाता है।

तीन रानियों के रहते हुए भी दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर आकृष्ट होकर उसे भोगता है और फिर त्याग देता है। किन्तु जब लक्षणा का गर्भस्राव हो जाता है, तो फिर शकुन्तला को अपनाने का प्रयत्न करता है और महर्षि कण्यप के सम्मुख अपने पतिविहित अधिकार की दुहाई देता है जो कितनी उपहासास्पद प्रतीत होती है। इस दुहाई के पीछे भी उसकी कुटिल-स्वार्थी वृत्ति काम करती है। वह तत्कालीन विश्वासो के अनुसार निस्संतान मरकर नरकगामी नही बनना चाहता और साथ ही अपने विस्तृत साम्राज्य का उत्तराधिकारी भी पाना चाहता है। वस्तुतः दुष्यन्त का चरित्र लक्षणा के

इस कथन में पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता है—"स्वामी, तुम तो मधुप हो। सदा नव पराग तथा नव मधु के अभिलाषी। तुम्हे भुक्त पुष्पो से क्या अनुराग ? तुम तो नित्य नवीन के कामी हो, तुम्हे तो वैचित्र्य से आकर्षण है। तुम्हारे विस्तृत राज्य मे राजपुरुषो की भाँति ही तुम्हारी कृपा-पात्र उपपत्नियाँ भी फैली हुई हैं। सच बताओ, प्रवास मे नवीनाओ के रमण-विनोद से मन अघा गया है कि नही ? कितनी पार्वत्य तथा वन-हसिनियो का आखेट करके आये हो ?"[1] इस कथन मे दुष्यन्त तो पूरा-पूरा झलकता ही है, तत्कालीन पुरुष-सत्ताक भारतीय समाज भी पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता है।

सामान्य जन-जीवन का चित्रण—वैसे तो 'अप्सरा का शाप' उपन्यास में सामान्य जन-जीवन के चित्रण का अवसर ही नही है, फिर भी सम्राट् दुष्यन्त के सम्मान मे ग्रामीणो द्वारा आयोजित उत्सव-प्रदर्शनों मे तत्कालीन जन-जीवन की हल्की सी झलक मिल जाती है। सम्राट् के आगमन के समाचार से ग्रामीणों मे हलचल-सी मच जाती है। गाँव का मुखिया भय-त्रस्त हो उठता है। सम्राट् के सम्मान मे किसी भी प्रकार की त्रुटि न रहे, इसके लिए ग्रामीण जनता हर संभव प्रयास करती है। इससे यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत मे सामान्य जनता राजा से कितनी सत्रस्त थी। महर्षि कण्व के आश्रम मे तत्कालीन ऋषियो के आश्रम की शात और सरल व्यवस्था का सकेत मिलता है। सब मिलाकर 'अप्सरा का शाप' मे सामान्य जन-जीवन का चित्रण नही के बराबर है। इसके लिए रचनाकार नही, रचना की प्रकृति ही उत्तरदायी है।

८. यशपाल की चरित्र-रचना की प्रेरणा और प्रयोजन

यशपाल मार्क्सवादी उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों का मुख्य विषय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण से मनुष्य की मुक्ति का सघर्ष है। जीवन के आरंभिक दिनो मे उन्होने देखा कि देश ब्रिटिश-साम्राज्यशाही के राज शोषण-चक्र मे बुरी तरह पिस रहा है। राजनीतिक परतन्त्रता देश के आर्थिक शो का भी विकट अस्त्र बनी हुई थी। राजनीतिक-आर्थिक शोषण से देश को मुक्ति तथा स्वतः स्वतन्त्र होकर जीने की कामना ने ही यशपाल को क्रातिकारी ब शोषण का चक्र उन्हे उक्त दोनो क्षेत्रो के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे भी दिखाई धार्मिक अधविश्वास, परम्परागत नैतिक मान्यताएँ, निर्जीव सामाजिक परम्परा बदले हुए जीवन-सदर्भों मे अनुपयुक्त हो गये जीवन-मूल्य उन्हे भीतरी शत्रु जो राजनीतिक-आर्थिक शोषण के बाहरी शत्रुओ की तुलना मे अधिक घातक उक्त भीतरी दुश्मनो के कारण देश के सामाजिक जीवन मे अनेक प्रकार की व

१. अप्सरा का शाप, पृ० ८५

धर्म का भी—उत्कट विरोध करती है, जिससे व्यक्ति के आत्म-सम्मान और आत्म-रक्षा का अपहरण होता है। उसकी दृष्टि में कोई भी व्रत अथवा धर्म तभी तक वरेण्य है जब तक वह व्यक्ति के आत्मोत्थान में सहायक है; उसके कारण जब व्यक्ति के आत्म-सम्मान की क्षति तथा आत्महनन होने लगे तो वह त्याज्य हो जाता है। दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत और प्रवचित होने पर भी जब शकुन्तला अंधश्रद्धों की तरह पातिव्रत को गले से लगाये रहती है, तब मेनका क्षुब्ध होकर शाप तक दे डालती है। रूढिग्रस्त, परम्परावादी और विवेकशून्य अंधश्रद्धों के बीच मेनका अपने युग की प्रगतिशीलता को वाणी देती है। 'प्रगतिशील' शब्द को यदि, मार्क्सवादी अर्थ मे न लेकर (क्योकि तब तक मार्क्सवादी चिन्तन अस्तित्व में नही आया था) जीवन के प्रति वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण के अर्थ में लिया जाये, तो निस्सन्देह मेनका प्रगतिशील पात्र है।

(२) दुष्यन्त—दुष्यन्त भारत के उस प्राचीन सामन्तयुगीन पुरुष-सत्ताक समाज का मूर्त रूप है जिसमे धर्म और न्याय के नाम पर शक्तिशाली सामन्त या राजा सामान्य प्रजा का निरकुश शोषण करता था। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के संदर्भ में पातिव्रत की लुभावनी किन्तु विषैली आचार-सहिता का प्रणयन करके उसे स्त्री के मत्थे मढ दिया गया था और पुरुष-वर्ग ने उससे अपने को बेलाग वचा लिया था। स्त्री को पातिव्रत के आकर्षक वेष्टन मे बाँधकर पुरुष ने—विशेषकर सामन्त और राजा नामक पुरुष ने—उसे अपनी वासना-तृप्ति के लिए मात्र भोग्य वस्तु वना लिया था। पुरुष अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार एक या अनेक नारियो से सम्बन्ध स्थापित कर सकता था, उसके लिए एकनिष्ठता की कोई आचार-सहिता नही थी। पर स्त्री के लिए एक-निष्ठता में शैथिल्य घोर पाप माना जाता था। पुरुष इस तरह के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रत्येक सभव छल-छद्म और प्रवचना का सहारा लेने के लिए स्वतन्त्र था। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का आद्यन्त आचरण इसी बात का साक्षी है। वह शकुन्तला को राजमहिषी और उससे उत्पन्न सन्तान को राज्य का उत्तराधिकारी बनाने का मिथ्या आश्वासन देकर उसे अपनी वासना-तृप्ति का साधन बनाता है और फिर उस बेचारी को कुलटा और दुराचारिणी बताकर राजदण्ड का भय भी दिखाता है।

तीन रानियो के रहते हुए भी दुष्यन्त शकुन्तला के रूप पर आकृष्ट होकर उसे भोगता है और फिर त्याग देता है। किन्तु जब लक्षणा का गर्भस्राव हो जाता है, तो फिर शकुन्तला को अपनाने का प्रयत्न करता है और महर्षि कश्यप के सम्मुख अपने पतिविहित अधिकार की दुहाई देता है जो कितनी उपहासास्पद प्रतीत होती है। इस दुहाई के पीछे भी उसकी कुटिल-स्वार्थी वृत्ति काम करती है। वह तत्कालीन विश्वासो के अनुसार निस्संतान मरकर नरकगामी नही बनना चाहता और साथ ही अपने विस्तृत साम्राज्य का उत्तराधिकारी भी पाना चाहता है। वस्तुतः दुष्यन्त का चरित्र लक्षणा के

और अन्तर्विरोध आ गये है। प्रेम के क्षेत्र मे तो ये अन्तर्विरोध अपनी चरम सीमा को पहुँच गये है। यशपाल की समाजवादी कला-चेतना इन्हे देखकर तिलमिलाहट अनुभव करती है। वे अपनी पीड़ा को समाज के सम्मुख रखना चाहते है। पीडा की अनुभूति ही वह प्रेरणा है जो उनसे चरित्रो की सृष्टि करवाती है। हरीश और डॉ० खन्ना की चरित्र-रचना की प्रेरणा जहाँ उन्हे विदेशी राजनीतिक-आर्थिक शोपण को देखकर उपजनेवाली पीडा से मिली, वहाँ शैल, चन्दा, विनी आदि बीसियो पात्रो की रचना-प्रेरणा परम्परागत रूढ नैतिक मान्यताओ, सडी-गली सामाजिक अध-परम्पराओ एव धार्मिक अधविश्वासो आदि आन्तरिक शत्रुओ के जघन्य कार्यों को देखकर। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त दोनो प्रकार के शत्रु ही यशपाल की पीड़ा और झल्लाहट के कारण है और यह पीडा और झल्लाहट ही उनकी चरित्र-रचना की मूल प्रेरणा है।

यशपाल की चरित्र-रचना सप्रयोजन होती है। जिस जीवन-दर्शन मे उनका अटूट विश्वास है, उसके अनुसार मानव-समाज पर कोई भी ऐसी समाज-व्यवस्था और जोवन-दृष्टि न लादी जानी चाहिए, जिससे उसका किसी भी प्रकार का शोपण हो। शोषण का अन्त ही यशपाल का सर्वप्रमुख लक्ष्य है। शोषण के विरुद्ध लड़ने वाले प्रगतिशोल पात्रो के समानान्तर जब यशपाल प्रतिक्रियावादो पात्रों की सृष्टि करते है, तब एक ओर जहाँ वे प्रगतिशोलता और समाजवादी जीवन-दृष्टि का समर्थन करते है, वहाँ दूसरी ओर निद्राभिभूत समाज को यह बताना चाहते है कि जन-कल्याण मे सलग्न प्रगतिशाल शक्तियो का विरोध प्रतिगामी शक्तियाँ सिर्फ अपने और अपने वर्गीय स्वार्थो की पूर्ति के लिए कर रही है। साथ ही वे प्रगतिशील शक्तियो को अनेक प्रकार के षड्यन्त्रो और हथकण्डो का सहारा लेकर व्यर्थ करना चाहती है। इसी सत्य का उद्घाटन करने के लिए यशपाल प्रगतिशील तथा प्रतिगामी चरित्रो की रचना समानान्तर करते हैं।

८. चरित्र के आयाम

यशपाल अपने उपन्यासो मे पात्रो को चित्रित करने से पूर्व उनके परिवेश का अकन करना आवश्यक मानते हैं। मार्क्सवादी मान्यताओ के अनुसार व्यक्ति की चेतना निरन्तर उसकी परिस्थितियो से प्रभावित और प्रेरित होती रहती है। व्यक्ति की बौद्धिक चेतना का निर्माण भी परिस्थितियो के कारण होता है। यशपाल के अधिकांश पात्रो पर मार्क्सवाद का यह सिद्धान्त ज्यो-का-त्यो लागू होता है। वह अपने पात्रों को विभिन्न परिस्थितियो मे रखकर इस प्रकार विश्लेषित करते है कि उनके चरित्र के विविध आयाम स्वतः उद्घाटित हो जाते है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा ऐसी ही पात्र है। सोमा, जिसने कभी धनसिंह के निमन्त्रण को यह कहकर—'ऐसा नही कहते जी, तुम

बडे भले लोग हो' अस्वीकृत कर दिया था, यह खबर पाते ही कि उसके सास-ससुर उसे बेचना चाहते है, धर्नसिह के साथ घर छोडकर भाग निकलती है। जीवन-यात्रा के कुछ डग और भरने पर जब वह जिन्दगी का दुर्वह भार ढोने मे अपने को असमर्थ पाती है तो उसे बैरिस्टर सरोला को आश्रय का मूल्य चुकाना पडता है। फिर, परिस्थितियो मे परिवर्तन के कारण जब वह फिल्म-जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री वन जाती है तो धोखा देने वाले समाज को अँगूठा भी दिखा देती है। तात्पर्य यह कि सोमा के चरित्र के ये विविध मोड उसकी परिस्थितियो की ही देन है।

(क) अर्थ

यशपाल अपने पात्रो के चरित्र-विकास को प्रभावित करने वाली विभिन्न परिस्थितियो मे आर्थिक परिस्थितियो को सबसे अधिक शक्तिशाली मानते है, इसीलिए वह पात्रो की आर्थिक स्थितियो का अकन अवश्य करते हैं। मार्क्सवादी भी व्यक्ति के जीवन मे उसके भौतिक-आर्थिक परिवेश को सर्वाधिक महत्त्व देता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति को बनाने-बिगाडने मे आर्थिक परिस्थितियो का मुख्य हाथ रहता है। फ्रेडरिक एंगल्स का तो यहां तक कहना था कि, "किसी युग मे सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रातियो के कारण तत्कालीन दार्शनिक विचारो मे नही वल्कि उस युग की आर्थिक परिस्थितियो मे पाये जाते हैं।"[1] यशपाल स्वय लिखते है—"हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल शिष्णोदर का चीत्कार है।"[2] अत्यन्त आर्थिक विपन्नता के कारण ही सोमा के सास-ससुर उसे बेचने का उपक्रम करते है, जिसका विरोध करने के लिए सोमा वस-ड्राइवर धर्नसिह के साथ घर से भाग जाती है। इसके पश्चात् तो उसके जीवन-मच पर आर्थिक शक्ति खुलकर नाच नाचती है। धन के लोभ से यदि 'देशद्रोही' के डॉ० खन्ना को वज़ीरी डाकू कैद कर चुरा न ले जाते तो कदाचित् वह रूस जाकर मार्क्सवादी क्राति की शिक्षा लेकर उसके प्रचार के लिए भारतवर्ष न आता। अतः डॉ० खन्ना के चारित्रिक परिवर्तनो के मूल मे आर्थिक कारण ही दिखाई देता है। 'दिव्या' एव 'अमिता' उपन्यास मे दास-व्यवसायी धन के लिए दासो का क्रय-विक्रय करते हुए दिखाये गये हैं। स्वय दिव्या इस अमानवीय कुत्सित व्यापार का शिकार वनती है और उसके वाद तो उसका जीवन यातना की अतहीन कथा वनकर रह जाता है। 'पार्टी कामरेड' की कम्युनिस्ट कार्यकर्त्री कामरेड गीता पार्टी की आर्थिक सहायता के लिए

---

१. समाजवाद—काल्पनिक और वैज्ञानिक, हिन्दी संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, वम्बई; १६४६; पृ० ३७

२. देशद्रोही; भूमिका, पृ० ५

अखबार बेचा करती थी और उसी दौरान उसने सेठ भावरिया से दो सौ रुपयों का दान स्वीकार किया था। इस एक छोटी-सी घटना ने कालान्तर मे दोनो के जीवन में आमूल परिवर्तन ला उपस्थित किया। अपनी आर्थिक लाचारियो के कारण ही तारा को जिन्दगी में समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाना पडता है और न चाहते हुए भी वह सोमराज के साथ विवाह करने के लिए विवश होती है। कभी आर्थिक मजबूरियो में प्रगतिशील शक्तियो का साथ देने वाला जयदेव पुरी, प्रेस का मालिक बन जाने के बाद, पर्याप्त सम्मान और ख्याति अर्जित कर लेने के कारण शोषण का विरोध करना तो दूर रहा, स्वय गरीबो का शोषण करने लगता है।

(ख) सेक्स

यशपाल के पात्रों के चरित्र-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाला दूसरा तत्त्व काम-सम्बन्ध है। यशपाल के नायक और नायिकाएँ यदि सामाजिक क्राति के लिए प्रयत्नशील है तो काम के धरातल पर समाज की रूढ़ जर्जर मान्यताओ के विरुद्ध जूझते भी है। इन पात्रो के चरित्र की गत्यात्मकता नये काम-सम्बन्धो की स्थापना से प्रकट होती है। शैल और हरीश स्वच्छन्दतापूर्वक काम-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मार्क्सवादी क्राति का अगुवा डॉ० खन्ना विवाहिता चन्दा के प्रति अपने आकर्षण मे कोई अनौचित्य नही देखता और अपने इस सम्बन्ध को नई नैतिकता की सज्ञा भी दे डालता है। 'झूठा सच' के प्रमुख पात्र जयदेव पुरी का चरित्र उसकी वासनाओं का उभरा हुआ रूप है। वह एक ओर विधवा उर्मिला से शारीरिक धरातल पर सम्बन्ध स्थापित करता है और दूसरी तरफ अपनी प्रेयसी कनक को पाने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कनक के चरित्र में भी काम-वासना का कम महत्त्व नही है। 'बारह घण्टे' मे विनी और फेंटम के आकर्षण के मूल मे भी काम-शक्ति कार्य करती है।

(ग) सामाजिक रूढ़ियां

यशपाल के पात्र सामाजिक रूढियो से भी प्रभावित होते है। 'दादा कामरेड' की यशोदा जिस सामाजिक परिवेश मे रहती है, वहाँ नारी का स्वच्छद विचरण, पुरुषों के साथ राजनीति मे समान भाग लेना, सभव नही है। इसीलिए वह शैल के बारंबार आग्रह करने पर भी स्वतत्र रूप से राजनीतिक आन्दोलनो मे भाग नही ले पाती है। 'पार्टी कामरेड' की क्रातिकारिणी गीता भी पड़ोसियो की निन्दा और अपने साथियो की टीका-टिप्पणी से प्रभावित होती है। उसे भी अनुभव होता है कि नारी का स्वतत्र जीवन, उसकी अपनी इच्छाएँ, वर्तमान सामाजिक अवस्था मे अर्थहीन है।

दिव्या तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के कारण अपने गर्भ को अपने और अपने परिवार के कलक का कारण मानती है, इसीलिए उसे जीवन की विभिन्न यातनाओ से गुजरना पड़ता है। 'अमिता' की दासी हिता भी सामाजिक परिस्थितियो से विवश होने के कारण ही अपने प्रिय मोद का वरण नही कर पाती।

१०. यशपाल के चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ

यशपाल प्रतिबद्ध कलाकार है। मार्क्स के समाज-दर्शन की अभिव्यक्ति और प्रचार के लिए उन्होंने तदनुकूल पात्रो की सर्जना की है। वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के अभाव मे समाज अस्वस्थता का शिकार बना हुआ है। यशपाल के अनुसार स्वास्थ्य के चिह्न यदि कही दिखाई पड़ते हैं तो सिर्फ उन्ही व्यक्तियो मे, जो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि मे विश्वास और तदनुरूप आचरण करते है। ऐसे पात्रों मे भी रुग्णता और दुर्बलता यदि कही दिख जाती है तो केवल इसलिए कि जिस समाज मे उन्हे जीना पड़ रहा है, वह पूरा-का-पूरा समाज ही प्रतिगामी, दकियानूसी और परम्परावादी है। परम्परावादी समाज मे मार्क्सवादी चरित्रो की विवशता यह है कि वे जब तर्कसगत प्रगतिशील आचरण करते हैं तो समाज उनके रास्ते मे आता है। समाज के विरोध का परिणाम यह होता है कि वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। फिर असफलता उनमें अनेक कुठाओ और ग्रथियो को जन्म देती है। दूसरी ओर ये मार्क्सवादी चरित्र इतने तार्किक और उग्र होते हैं कि इनके सम्पर्क मे आने वाले परम्पराप्रेमी इनके प्रभाव की आँच से अपने को झुलसते हुए अनुभव करते हैं। परिणामतः परम्परावादियों मे भी कुठाएँ, सन्देह और ग्रथियाँ घर कर लेती हैं। इस तरह परम्परावादी तथा प्रगतिशील दोनो तरह के पात्र कुठाओं और फिर रुग्णता तथा अस्वस्थता के शिकार हो जाते हैं। इस स्थिति से समाज को, यदि, बचना है तथा स्वस्थ सामाजिकता का विकास करना है तो, यशपाल के अनुसार वैज्ञानिक जीवन-दर्शन अपनाना ही पडेगा। उनके अनुसार वह दर्शन मार्क्सवाद है। इसी बात को ध्यान मे रखकर यशपाल ने अपने चरित्रों का चित्रण किया है।

यशपाल के पात्रो की कुछ चरित्रग तविशेषताएँ हैं, जो उन्हे 'यशपालीय' बना देती हैं। इन विशेषताओ को चार भूमिकाओं पर देखा जा सकता है।

(क) मनोवैज्ञानिक धरातल पर (चरित्र-चित्रण)

यशपाल ने अपने कई पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया है। मनुष्य का अहं बड़ा प्रबल होता है। वह किन्ही कारणों से जब आहत होता है

तो व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की ग्रंथियाँ जन्म लेती हैं। ये ग्रंथियाँ व्यक्ति-मन को कुंठाग्रस्त बना देती हैं। परिणामतः व्यक्ति के अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह, हीनता की भावना और अनावश्यक संकोच आ जाते हैं, जिनके कारण व्यक्ति का व्यवहार कभी-कभी बड़ा अस्वाभाविक तथा अवसर के अनुपयुक्त हो जाता है। यशपाल के अनेक पात्रों में इस तरह की कुंठा दृष्टिगोचर होती है। 'दादा कामरेड' में यशोदा के पति लाला अमरनाथ, 'देशद्रोही' में चन्दा के पति राजाराम, कामरेड भूषण, 'झूठा सच' में जयदेव पुरी इस तरह के पात्र हैं। कुंठाग्रस्त लाला अमरनाथ यशोदा की शारीरिक पवित्रता पर बेमतलब सदेह करने लगते हैं। सन्देह का क्रम इतना बढ़ जाता है कि वे सदा उसी उधेड़बुन में पड़े रहते हैं। 'देशद्रोही' के राजाराम तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। वे चन्दा को बिलकुल चरित्र-भ्रष्ट मान बैठते हैं, जिसकी सचाई सिद्ध करने के लिए एक दिन उसे निर्वस्त्र कर उसके वस्त्रों की जाँच तक कर डालते हैं। 'झूठा सच' का जयदेव पुरी निर्धनता के कारण हीनता-ग्रंथि से ग्रस्त है। महेन्द्र नैयर के सामने वह ठीक से बैठ तक नहीं पाता। 'देशद्रोही' के भूषण के मन में उच्च शिक्षा प्राप्त कर प्राध्यापक बनने की महत्वाकांक्षा थी, पर करनी पड़ी उसे पचहत्तर रुपये महीने की बैंक की नौकरी। उसकी सारी आशाओं-आकांक्षाओं पर वज्रपात हो जाता है। फलतः मनोरमा को, जोकि, उसके प्रति मनसा पूर्णतः समर्पित है, पास तक नहीं आने देता। भूषण की कुंठाग्रस्तता उसी के जीवन को विडम्बित करके नहीं रह जाती, उसका घातक प्रभाव मनोरमा पर भी पड़ता है। सारांशतः उक्त सभी उदाहरण कुंठा के दुष्परिणाम हैं, परन्तु प्रथम दो उदाहरण सेक्स-सम्बन्धी कुंठाग्रस्तता के हैं और अंतिम दो निर्धनता एवं गरीबी से उत्पन्न कुंठा के।

'दिव्या' का पृथुसेन और 'अमिता' की राजमाता ऐसे चरित्र हैं, जो क्रमशः जीवन से पलायन कर जाते हैं और उपराम हो जाते हैं। पृथुसेन का पलायन जीवन-संग्राम में पराजित होने के कारण है और राजमाता का उपरमित होना जीवन-सौभाग्य छिन जाने के कारण। दोनों ही परिणतियाँ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं।

मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रित कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो काम-पीड़ित हैं। 'देशद्रोही' का डॉ० खन्ना सेक्स-प्रेरित होकर ही चन्दा की गोद में शरण पाना चाहता है। इसके लिए वह प्रत्येक सम्भव छल-छद्म का सहारा लेता है। जब सारे अस्त्र व्यर्थ सिद्ध होते हैं तो अमोघ अस्त्र चलाता है, 'दादि' बनकर चन्दा की गोद पाने की कामना करता है और बहुत हद तक अपने उद्देश्य में सफल भी होता है। 'दादा कामरेड' की फ्लोरा इतनी काम-पीड़ित है कि अपने नास्तिक (?) पति राबर्ट से तलाक लिये बिना ही अवैध गर्भ धारण कर लेती है। तलाक का काम यथाशीघ्र कानूनन पूर्ण करने के लिए राबर्ट उसे हर तरह की सहायता देने को तैयार था, पर फ्लोरा में इतनी

प्रतीक्षा का धैर्य कहाँ ? और वह किसी धर्मान्ध से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। 'दिव्या' के पृथुसेन में सेक्स चरम सीमा को पहुँचा हुआ दिखाई देता है। दिव्या पर प्रेम प्रकट कर वह उसका भोग करता है। दिव्या गर्भ धारण करती है और पृथुसेन उसे ठुकरा कर सीरो से ब्याह कर लेता है। सीरो को भोगना स्वाभाविक ही है क्योंकि वह उसकी परिणीता है। पर पृथुसेन के मन में दिव्या को पाने की लालसा फिर भी बनी रहती है। अनेक दासियो और परिचारिकाओं का शारीरिक भोग तो, गोया, उसके लिए सामान्य बात है। उसकी काम-चपलता को देखकर ही सीरो के मन में प्रतिक्रिया होती है, परिणामस्वरूप वह भी सागल के अनेक युवक-सामन्तो से काम-सम्बन्ध जोडती है, जिसे पृथुसेन सह नही पाता। ससार त्याग देने और बौद्ध-भिक्षु बन जाने के बाद भी पृथुसेन के मन से काम-भावना तिरोहित नही हुई है। दिव्या को पाने का कुत्सित लोभ अब भी उसके मन मे गाँस की तरह फँसा हुआ है, तभी तो वह पांथशाला पहुँच कर दिव्या को बौद्ध-भिक्षुणी बन जाने का निमंत्रण देता है।

मार्क्सवाद व्यक्ति को समाज के सदर्भ मे देखता है। सामाजिक परिवेश में चित्रित व्यक्ति समाजोन्मुख होगा—समाजोन्मुख अर्थात् बहिर्मुखी। यशपाल मार्क्सवादी हैं, इसलिए, स्वभावतः, उनके चरित्र सामाजिक परिवेश में चित्रित हुए हैं। बहिर्मुखता इसलिए, उनके चरित्र की विशिष्टता है। पर कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो बहिर्मुखी होने के बावजूद आत्मचिन्तन मे लीन रहते है, मानसिक द्वन्द्व के शिकार बने रहते हैं। यशोदा के पति अमरनाथ चौबीसो घण्टे मानसिक द्वन्द्व मे पडे रहते हैं। उनके मन में चोर बैठ गया है, उन्हे सन्देह है कि यशोदा की शारीरिक पवित्रता नष्ट हो गई है। इसी एक कारण से वे भयानक आन्तरिक संघर्षों से गुजरते हैं। सामाजिक व्यवहार के स्तर पर तो उनके चरित्र की बहिर्मुखता स्पष्ट है, पर फिर भी उनका मन अन्तर्मथित है, वे लड रहे हैं अपने से, अपने मन से, अपने सन्देह के कारण। राजाराम की स्थिति और भी विकट है। उनका मानसिक उद्वेलन इस बात तक का विचार नही करता कि वे चन्दा को निर्वस्त्र करके किसकी इज्जत लूट रहे है। वजीरी डाकुओ द्वारा अपहृत कर लिये जाने के बाद से डॉ॰ खन्ना की जिन्दगी मे जो मानसिक अधड़ आता है, और जिसके परिणामस्वरूप वह भीतर-ही-भीतर गुन-गुनकर घुटते रहने के लिए विवश हो जाता है, उसका अन्त उसके जीवन के अन्त के साथ ही होता है। 'झूठा सच' की तारा का जीवन दाँव पर लगा हुआ है, जिसे जीतने के लिए वह शक्ति-भर लडती है, पर जब समझ जाती है कि अब परिवार के साथ लड़ना व्यर्थ है तो अपने से ही लडने लगती है। स्वयं से उसकी लडाई, उसकी जिन्दगी के अधिकांश तक चलती रहती है।

(ख) सामाजिक धरातल पर

यशपाल के राजनीतिक-सामाजिक उपन्यासों के प्रायः सभी प्रमुख पात्र सामाजिक धरातल पर चित्रित किये गये हैं। क्रांति ही उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य है इसलिए सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में वे संघर्षरत दिखाई पड़ते हैं। राजनीतिक स्तर पर वे साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ते रहते है और सामाजिक स्तर पर रूढिवादिता तथा परम्परावाद के विरुद्ध। 'दादा कामरेड' का हरीश एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध आतंकवादी क्रांतिकारी और फिर समाजवादी मार्क्सवादी के रूप में लड़ता नजर आता है तो दूसरी ओर पूंजीवादी शासन-व्यवस्था के खिलाफ जनवादी आन्दोलन को भड़काकर हड़तालों और प्रदर्शनो का आयोजन करता है। साथ ही सामाजिक स्तर पर नारी-स्वातंत्र्य का समर्थन करता हुआ रूढ़िग्रस्त प्रेम एव विवाह-प्रथा का खुलकर उल्लघन करता है। नारी होने के कारण शैल राजनीतिक आन्दोलनो मे उतना उग्र भाग तो नही ले पाती, पर वर्तमान समाज-व्यवस्था में बन्दी नारी, जिस सीमा तक जाकर अपनी भूमिका निभा सकती है, निभाती है। सामाजिक क्षेत्र मे प्रेम और विवाह-सम्बन्धी बधनो को तोड़ने मे तो वह हरीश से भी आगे है। 'देशद्रोही' का डॉ० खन्ना राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त करने तथा शोषणमूलक पूंजीवादी व्यवस्था को समूल नष्ट करके समाजवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना करने के लिए शहीद हो जाता है। नारी-स्वातत्र्य का वह उत्कट पक्षधर है। प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे उसकी भी वही धारणाएँ हैं जो हरीश की हैं। 'झूठा सच' का डॉ० प्राण इन्ही से मिलता-जुलता, फिर भी इनसे थोडा भिन्न है। हरीश और डॉ० खन्ना जबकि राजनीतिक क्षेत्र मे सक्रिय लड़ाई लड़ते देखे जाते हैं, तब डॉ० प्राण इस रूप मे नही दिखाई देता। पर यह तो परिवर्तित परिस्थितियों का परिणाम है—डॉ० प्राण के समय तक देश आजाद हो चुका था। सामाजिक क्षेत्र में भी हरीश और डॉ० खन्ना एक ओर तथा दूसरी ओर डॉ० प्राण मे अन्तर है। वस्तुतः हरीश और खन्ना सक्रिय कार्यकर्ता हैं, और डॉ० प्राण चिन्तक तथा विचारक। विचारों के स्तर पर वह ठीक वही सोचता और चिन्तन करता है, जिसे हरीश और डॉ० खन्ना कार्यान्वित करके दिखाना चाहते है। हरीश और खन्ना की तरह डॉ० प्राण कम्युनिस्ट न होते हुए भी मार्क्स के वैज्ञानिक चिन्तन मे विश्वास रखता है। यही कारण है कि परित्यक्ता तारा के विगत जीवन पर पर्दा डालकर वह उसे जीवन-साथी के रूप मे सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

(ग) दार्शनिक (मार्क्सवादी) संदर्भ में

यशपाल मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे आस्था रखते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्तो की व्यंजना के लिए उन्होंने दो पद्धतियाँ अपनाई हैं। कुछ पात्र ऐसे हैं जो स्पष्टतः

मार्क्सवाद का प्रचार करते हैं। 'दादा कामरेड' का हरीश, 'देशद्रोही' का डॉ० खन्ना, 'दिव्या' का मारिश, 'मनुष्य के रूप' का भूषण तथा 'पार्टी कामरेड' की गीता ऐसे ही पात्र हैं। इन्हे जब भी अवसर मिलता है, मार्क्सवाद पर प्रवचन दे डालते है। इनके जीवन का उद्देश्य ही मार्क्सवाद का प्रचार करना है। परन्तु 'दिव्या' की दिव्या, 'मनुष्य के रूप' की सोमा तथा 'झूठा सच' का जयदेव पुरी ऐसे पात्र हैं जिनके चरित्र-विकास में मार्क्सवादी सिद्धान्त प्रतिफलित होता हुआ दिखाई पड़ता है। ये, वस्तुतः, मार्क्सवादी पात्र नही हैं, पर इनका जीवन मार्क्सवादी सिद्धान्तो के अनुरूप विकसित होता है। मार्क्स की मान्यता है कि मनुष्य के जीवन में अर्थ सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आर्थिक परिस्थितियो मे परिवर्तन व्यक्ति की चेतना और जीवन-मूल्यो मे परिवर्तन का कारण होता है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा का जीवन-विकास इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण है। कांगडे की गरीब विधवा सोमा की जीवन-धारणाएँ तब आमूल परिवर्तित दिखाई देती हैं, जब वह फिल्म-जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री 'पहाडन' बनकर अतुल वैभव की स्वामिनी बन जाती है। सोमा का यह परिवर्तन उसकी आर्थिक परिस्थितियो में परिवर्तन के ही कारण है। 'झूठा सच' का जयदेव पुरी गरीबी की मार से जब तक आहत रहता है, तब तक उसके जीवन-विश्वास कुछ और रहते हैं, पर जब वह सूद की सहायता से सम्पत्तिशाली बन जाता है, तो उसकी मान्यताओं मे बुनियादी परिवर्तन लक्षित होते हैं। यह सिर्फ इसलिए कि पुरी की आर्थिक परिस्थितियो में परिवर्तन आ गया है।

मार्क्सवादी सिद्धान्तों की श्रेष्ठता एवं वरेण्यता सिद्ध करने के लिए यशपाल ने मार्क्सवादी चरित्रो के समानान्तर मार्क्सवाद-विरोधी पात्रों की भी सृष्टि की है। कोई रग अपने विरोधी रग की पृष्ठभूमि पर ही अधिक खुलता और चटक दिखता है। 'दादा कामरेड' के लाला ध्यानचन्द, 'देशद्रोही' के बद्रीबाबू, 'पार्टी कामरेड' के भायाजी आदि मार्क्सवाद-विरोधी और कांग्रेस में आस्था रखने वाले पात्र हैं। ये सब प्रतिक्रियावादी पात्र हैं। ये हैं तो राष्ट्रवादी, पर राष्ट्र का हित प्रतिक्रियावाद के रास्ते चलकर करना चाहते हैं। ये राष्ट्र का हित अपने वर्गीय हित की रक्षा मे देखते हैं। इसीलिए जब मार्क्सवादी पात्र वर्ग-संघर्ष का सहारा लेकर पूंजीवाद और परम्परावाद का विरोध प्रगतिशीलता का परिचय देकर करना चाहते हैं, तब ये अपने वर्गीय हितो पर सकट आया देखकर उनके विरुद्ध जनमत को उकसाते और उनका प्रतिवाद करते है। यहां तक तो ठीक है। पर यशपाल जब देश की जनता में जड जमा लेने वाली कांग्रेस और उसके कार्यकर्ताओ मे दोष ही दोष देखते है, तब प्रतीत होता है जैसे वे पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण से ऐसा कर रहे हैं। यशपाल ने स्वतः 'सिंहावलोकन' तथा अपने 'देशद्रोही' उपन्यास में यह तथ्य स्वीकार किया है कि कांग्रेसी आन्दोलन की जड़े देश के जन-जन तक फैल गई थीं। यदि यह ऐतिहासिक सचाई है तो यह मानना पड़ेगा कि कांग्रेस और उसके

कार्यकर्ताओ मे कुछ ऐसे वैशिष्ट्य और गुण भी अवश्य रहे होंगे जिनके कारण देश की जनता उस ओर वेग से आकृष्ट हुई। यशपाल के उपन्यासों मे चित्रित एक भी कांग्रेसी पात्र ऐसा नही जो जनता को आकृष्ट करने वाले गुणों से सम्पन्न हो। पाठक को यह बात खटके बिना नही रहती। कलाकार की वस्तुपरक ईमानदारी और कलात्मक तटस्थता के सामने तब पाठक विवश होकर प्रश्नचिह्न लगा देता है। वस्तुत: यशपाल ने जानबूझकर ऐसे कांग्रेसी पात्रों की सर्जना की है, जो दभी, पाखण्डी, प्रपची और दुर्गुणो के आगार है। ऐसे पात्रो के बीच स्वभावत: कम्युनिस्ट पात्र अपनी ईमानदारी, त्याग, सेवा और बलिदान के कारण चमक उठते है।

(घ) कलात्मकता के स्तर पर

कलात्मक दृष्टि से विचार करने पर यशपाल के चरित्रों का विकास कलात्मक और अकलात्मक दोनो ढंग से हुआ है। यशपाल मार्क्सवादी हैं। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति की चेतना मे परिवर्तन भौतिक-आर्थिक परिस्थितियो में परिवर्तन के कारण होता है। 'पार्टी कामरेड' के भावरिया मे चारित्रिक परिवर्तन तो होता है, पर उसकी भौतिक आर्थिक परिस्थितियाँ ज्यो-की-त्यो है। इसलिए भावरिया का परिवर्तन अमार्क्सीय है, पर जिस तरह से गीता के प्रभाव से उसके जीवन मे मोड़ आता है, वह बडा ही सहज और मनोवैज्ञानिक है। 'देशद्रोही' की राजबीबी अपने पति डॉ० खन्ना की मृत्यु का समाचार पाकर कुछ दिन हतचेत-सी रहती है जो बड़ा ही स्वाभाविक है। कालान्तर मे बद्रीबाबू की सहानुभूति और ममत्वपूर्ण व्यवहार पाकर वह उनके साथ ब्याह कर लेती है। उसे एक पुत्र भी पैदा होता है। ठीक इसी स्थिति मे चन्दा घायल डॉ० खन्ना को लेकर राज के घर पहुँचती है। राज डॉ० खन्ना से मिलने तक से इन्कार देती है। मानवीयता का तकाजा यह था कि उसे डॉ० खन्ना से कम-से-कम एक बार मिल तो लेना चाहिए था, पर ऐसा वह इसलिए नही करती कि एक बार का उजडा हुआ जीवन बसाने के बाद अब वह फ़िर उसे उजाड़ने को तैयार नहीं है। जीवन मे अब वह और दु:ख नही झेलना चाहती है। उसका ऐसा करना बडा मनोवैज्ञानिक है और इसीलिए अकलात्मक नही है। इसी तरह, सोमा, यशोदा, चन्दा, पृथुसेन आदि पात्रो का चरित्र-विकास कलात्मकता के स्तर पर खरा उतरता है। उनमे और दोष-गुण चाहे जो हो, पर चरित्र-विकास में कलात्मकता की रक्षा पूरी हुई है।

अकलात्मक चरित्र-विकास 'अमिता' के चण्ड अशोक का हुआ है। संपूर्ण भारतवर्ष पर राज्य करने का स्वप्न देखने वाले महत्वाकांक्षी हिंस्र अशोक का हृदय-परिवर्तन मामूली अमिता की बातों से हो जाता है। यह हृदय-परिवर्तन पाठक के गले के नीचे उतरता ही नही। उसके हृदय का चाहे जितना शुभ परिवर्तन हुआ हो, पर है बडा ही

अस्वाभाविक। लेखक ने अपने उद्देश्य (विश्व-शांति की स्थापना) की पूर्ति के लिए जबर्दस्ती अशोक का हृदय बदल दिया है, जो बडा ही अस्वाभाविक और इसीलिए अकलात्मक लगता है।

यशपाल के कुछ पात्र ऐसे हैं जो आद्यन्त एक समान बने रहते हैं, उनमे कोई परिवर्तन नही आता। ऐसे पात्र स्थिर पात्र कहलाते है। जीवन में एक बात—मार्क्सवाद—उन्होंने सीख ली है, उसी को वे हर समय दुहराते रहते है। यही कारण है कि उनके जीवन का कोई विकास नही हो पाता। वे प्रारम्भ मे जैसे दिखाई पडते है, वैसे ही अन्त तक बने रहते है। हरीश, मारिश, भूषण, गीता आदि यशपाल के ऐसे ही औपन्यासिक पात्र है।

११. निष्कर्ष—यशपाल का चरित्र-चित्रण मार्क्सीय या अमार्क्सीय

यशपाल ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुरूप अपने औपन्यासिक पात्रो का सृजन किया है। वे पात्रो के माध्यम से सिद्धान्तो का सचेतन प्रतिपादन और प्रचार करते हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास मे कोई-न-कोई ऐसा मार्क्सवादी पात्र होता है जो सभी विरोधी विचारधारा वाले पात्रो का खण्डन करता हुआ अपने मत की स्थापना करता है। फिर भी कुछ पात्र ऐसे मिलेंगे, जिनके चरित्र-विकास मे, लेखक के प्रयास के बावजूद, मार्क्सवादी सिद्धान्त लागू नही होते। यह उपन्यासकार यशपाल की अपनी सीमा है।

यशपाल ने अपने प्रायः सभी प्रमुख पात्रो का चयन मध्यवर्ग से किया है। इससे रुष्ट होकर मार्क्सवादी समीक्षको ने, विशेषकर डॉ० रामविलास शर्मा ने यशपाल के मार्क्सवाद-सम्बन्धी ज्ञान के विषय मे सन्देह प्रकट किया है। डॉ० शर्मा का तर्क यह है कि क्रान्ति यदि सभव है तो मात्र सर्वहारा वर्ग के द्वारा। मार्क्स ने भी क्रांति सिर्फ श्रमिको के द्वारा संभव मानी थी। पर रूस और चीन की जन-क्रांति मजदूरो ने नही, किसानो ने की है। उक्त दोनो देशो में क्रांति हुई, पर मार्क्स की भविष्यवाणी के विरुद्ध। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ भिन्न होती है। मार्क्स ने मजदूर द्वारा ही क्रांति की भविष्यवाणी जर्मनी और फ्रांस जैसे औद्योगीकृत देशो की परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर ही की थी। रूस और चीन औद्योगीकृत राष्ट्र नही थे, इसलिए वहाँ मजदूरो द्वारा क्रांति सम्भव नही हो सकी। भारतवर्ष की परिस्थितियाँ अपनी हैं। इसका बहुत कुछ औद्योगीकरण हो चुका है और बहुत सीमा तक यह कृषि-प्रधान देश भी बना हुआ है। यहाँ किसान अब भी प्राचीन संस्कारो और जीवन-मान्यताओ से ऐसे चिपके हुए तथा अप्रबुद्ध हैं कि उनसे निकट भविष्य मे किसी क्रांतिकारी आन्दोलन की आशा करना सम्भव नही। मजदूर अवश्य पीडित और विपन्न हैं, पर उनकी आवश्यकताएँ इतनी

सीमित हैं कि वे लाख दुःख झेलकर भी किसी तरह अपना गुजारा कर लेते हैं। मध्य-वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है जो बुद्धिजीवी तथा महत्वाकांक्षी होने के नाते सर्वाधिक क्षुब्ध है। आवश्यकताएँ उसकी उच्च वर्ग के समान है और साधन निम्न वर्ग की भाँति। ऐसी दशा मे पीड़ा और घुटन की जिस स्थिति से वह वर्ग गुजर रहा है, उससे अधिक कोई अन्य वर्ग नही। स्वाभाविक है उसका असन्तोष और क्षोभ भी सबसे अधिक होगा। क्रांति की आशा असन्तुष्ट और क्षुब्ध से ही की जा सकती है। यशपाल ने सम्भवतः इसी वास्तविकता को ध्यान मे रखकर अपने क्रांतिकारी पात्रो का चयन मध्यवर्ग से किया है। यह तथ्य सामान्यतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुरूप नही दिखाई पड़ता (क्योंकि मार्क्स संघर्ष और क्रांति की शक्तियो की मूल भूमि निम्न श्रमिक वर्ग को ही मानते हैं), पर यह मार्क्सवाद की मूल भावना के पूर्णतः अनुरूप है। बस, सामाजिक संदर्भ की भिन्नता के कारण कलात्मक रूपायन में मूल से थोड़ा हटा हुआ प्रतीत होता है।

—:०:—

अध्याय छः :: उपन्यासों का कथ्य (उद्देश्य)

१. उपन्यासों में जीवन-दर्शन

साहित्य मूलतः जीवन की व्याख्या है। उपन्यास साहित्य की एक मुख्य विधा है। अतः उपन्यास न केवल कथा कहता है अपितु जीवन की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। उपन्यास जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है और उसी झाँकी के माध्यम से उपन्यासकार का कथ्य। चूँकि उपन्यास एक सचेतन सर्जन है; इसलिए उपन्यास मे जीवन की व्यञ्जना ही नही, उसकी व्याख्या भी होती है और उस व्याख्या के माध्यम से जीवन-दर्शन भी व्यक्त होता है। यह दूसरी बात है कि यह दर्शन घटना-प्रवाह के संयोजन मे ऐसा घुल-मिल जाता है कि प्रत्यक्षतः इसका आभास नही हो पाता। कला की दृष्टि से प्रत्यक्ष आभास जितना ही कम हो, उपन्यास उतना ही शक्तिशाली और समर्थ होता है।

उपन्यासकार कथा के माध्यम से जीवन के विविध पक्षो एवं परिस्थितियों का उद्घाटन और विवेचन करता है। अतएव जीवन के अनुभूत सत्यो का चित्रण उपन्यास मे सहज और स्वाभाविक है। वर्तमान समाज का वर्गमूलक स्वरूप, सामान्य मानव-जीवन की कुठाएँ, अतृप्त वासनाएँ, आर्थिक वैषम्य, फलतः गरीबों का शोषण आदि सामाजिक समस्याओ से उपन्यासकार का मानस-लोक निरन्तर प्रभावित होता रहता है। जीवन के विविध कटु-मधुर अनुभवो से जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे वह कुछ निष्कर्षों पर पहुँचता है। इन्ही निष्कर्षों से जीवन के प्रति उसके मन में विशिष्ट विचार निर्मित होते हैं। धीरे-धीरे उपन्यासकार अपने जीवन-सम्बन्धी विचारो को जीवन के प्रति कुछ विशेष दृष्टिकोण में समाहित कर लेता है। ये विशिष्ट दृष्टिकोण ही उपन्यासकार के जीवन दर्शन के अग रूप में उपन्यासो मे अभिव्यक्ति पाते हैं।

प्रतिभा-सम्पन्न सशक्त उपन्यासकार अपने चतुर्दिक् ससार का निरीक्षण ही नही, वरन् उसमे घटित घटना-व्यापारों पर मनन भी करता है। सामाजिक मानव के चरित्रगत विविध मोड, उसकी प्रवृत्तियाँ एवं उसके मनोवेगो की सूक्ष्म परख उपन्यासकार की विशेषता है। अपने सूक्ष्म चिन्तन के बल पर उपन्यासकार जीवन की विविध समस्याओ और तत्सम्बन्धी अनुभूत सत्यो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर उपन्यास को इतना गरिमा मडित बना देता है कि उसका जीवन-दर्शन उपन्यास के बीच स्वतः मुखरित हो उठता है। उपन्यासकार के जीवन-दर्शन के अन्तर्गत समाज की आर्थिक,

नैतिक आदि मूलभूत समस्याओ का समाधान प्रस्तुत होता है। सामाजिक आदर्शो एव उसकी मान्यताओ का मापदण्ड क्या है और क्या होना चाहिए ? इस सम्बन्ध में उपन्यासकार का जीवन-दर्शन उत्तर देता है। उपन्यास मे प्रस्तुत मानव-जीवन के विविध छायाचित्र उपन्यासकार के जीवन-दर्शन को व्यक्त करने वाले मूलभूत सत्यों से लिपटे होते है। ये सत्य उपन्यासकार के निरीक्षण, मनन एव चिरंतन मानसिक उथल-पुथल के परिणाम होते हैं। हर श्रेष्ठ उपन्यासकार अपने सबल 'एव व्यापक विश्वासो को इन्ही सत्यो से परिपुष्ट कर अपने उपन्यास मे व्यक्त करता है।

उपन्यासकार का दर्शन दार्शनिक के तात्विक दर्शन से भिन्न तथा व्यावहारिक होता है। दार्शनिक जीवन एव जगत् के चरम सत्यो तक पहुँचने का यत्न करता है; उपन्यासकार इन चरम सत्यो की उतनी चिंता नही करता जितनी सामाजिक प्रश्नो की। यदि वह चरम सत्यों की बात करता है तो केवल मानवीय एव सामाजिक सदर्भो में ही। दार्शनिक, मानवीय और सामाजिक सदर्भों की चिन्ता से मुक्त रहता है। वह निरपेक्ष सत्य का अन्वेषक है, जब कि उपन्यासकार का सत्य समाज-सापेक्ष होता है। दोनो की अभिव्यक्ति के माध्यम मे भी बडा अंतर है। उपन्यासकार के पास जीवन का जो माध्यम है, वह उसकी शक्ति ही नही, मजबूरी भी है। दार्शनिक उस मजबूरी से मुक्त होता है। इसलिए जहाँ एक सत्य को रूपायित करने का प्रयत्न करता है, दूसरा उसे अनिवार्यत: 'अरूप' रूप मे ही रखता है।

साहित्यकार जीवन के सत्य की प्रतिष्ठा जितनी गहराई और सफलता से उपन्यास मे कर पाता है, उतनी साहित्य की अन्य विधा मे नही। जान्स महोदय का तो यह कहना है कि सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य की किसी अन्य विधा द्वारा सभव ही नही है। जान्स का यह मत अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, पर उसमें निहित सत्य की अवहेलना भी नही की जा सकती। उपन्यास जीवन की व्यंजना है। जीवन एक अनन्त प्रवाह है जिसमे नित्य नये प्रश्नों, नयी समस्याओ की तरगे उठा करती हैं। उपन्यासकार इन्ही से परिचालित होकर अपने दृष्टिकोण से निरन्तर इनका हल प्रस्तुत करता है। स्वर्गीय उपन्यासकार प्रेमचन्द उसे सच्चा कलाकार नही मानते जिसकी अपनी कोई 'फिलासफी' न हो। उनका मत है—"अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी 'फिलासफी' के बिना कोई सच्चा कलाकार नही हो सकता। अपनी आँखो से जीवन देखो, अपने अनुभव से जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।"[1]

उपन्यासकार यशपाल के जीवन-दर्शन का समग्रता मे विस्तृत विश्लेषण करने के पूर्व उनके प्रत्येक उपन्यास का मूल कथ्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. 'प्रेमचन्द अंक : 'हंस', पृ० ८५१

२. उपन्यासों का कथ्य

(क) 'दादा कामरेड'

यशपाल मार्क्सवादी साहित्यकार है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी चिंतन की बुनियाद है—हर प्रकार शोषण से मानव-समाज की मुक्ति। 'दादा कामरेड' की मूल चेतना जनवादी चिन्तन है। तत्कालीन भारतवर्ष का राजनीतिक शोषण ब्रिटिश साम्राज्यशाही के हाथों अत्यन्त घिनौने रूप मे हो रहा था। इस शोषण से देश को मुक्ति दिलाने के लिए उस समय मुख्य रूप से तीन राजनीतिक दल—कांग्रेस, आतंकवादी क्रांतिकारी दल और समाजवादी साम्यवादी दल—सक्रिय थे। यशपाल ने अपनी सहानुभूति समाजवादी साम्यवादी दल को दी है। इसके कारण है।

कांग्रेस का आन्दोलन गाधीजी के नेतृत्व मे चल रहा था, अर्थात् गाधीवादी सिद्धान्तो के आधार पर ही कांग्रेस की नीतियाँ निर्धारित होती थी। गाधीवादी दर्शन का मूलाधार है सत्य और अहिंसा। अहिंसा के निरीह अस्त्र से गुलामी की वेडियो को काटना, यशपाल-जैसे विचारक की दृष्टि मे अत्यन्त कठिन था। और यदि इसके माध्यम से राजनीतिक मुक्ति की सभावना को स्वीकार भी कर लिया जाये, तो भी यह मानना पडता है कि सामाजिक-आर्थिक स्तर पर चलने वाले अनेक प्रकार के शोषणो को दूर करने का कोई कार्यक्रम कांग्रेस के पास नही था। ईश्वर और धर्म मे गहन आस्था के कारण गांधीवादी दर्शन यह मानकर चलता है कि सामाजिक विषमता और अत्याचार आदि सब प्रभु की लीला हैं। कोई अमीर इसलिए है कि उसने पूर्वजन्म मे सत्कर्म किये थे। उसी का फल आज अमीरी के रूप मे वह भोग रहा है। ठीक वैसे ही गरीव अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल पा रहा है। धर्म ने नारी की सामाजिक मर्यादा और आचरण के सबंध मे कुछ शाश्वत विधान—पातिव्रत, एकनिष्ठता, पति को देवता समझ-कर पूजन—बनाये हैं, इसलिए इनका पालन नारी का सबसे बडा कर्तव्य है। दूसरे शब्दो मे यह कि स्थापित समाज-व्यवस्था और परपरागत मान्यताएँ अमानत के रूप मे वना-कर रखी जानी चाहिए ताकि यथास्थिति वनी रहे। तात्पर्य यह कि सामाजिक शोषण ज्यो-का-त्यो चलता रहे। कार्य-कारण शृंखलामूलक वैज्ञानिक चिन्तन—द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद—मे विश्वास करने वाले यशपाल इस तरह की अधभक्ति और विवेकशून्यता पर कैसे विश्वास करते ? 'दादा कामरेड' में इसीलिए यशपाल ने जनता के वीच व्यापक रूप मे राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने वाले गांधीवादी कांग्रेसी आन्दोलन के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी अवैज्ञानिकता, विवेकशून्यता, एकांगिता एव निरीहता के कारण अस्वीकार कर दिया है। इस आन्दोलन को यशपाल की सहानुभूति न मिलने का यही कारण है।

आतंकवादी क्रातिकारी आन्दोलन के प्रति यशपाल की सहानुभूति न रही हो, ऐसी बात नही; बल्कि उक्त दल के तो वे अत्यन्त सक्रिय कार्यकर्ता थे—ठीक वैसे ही, जैसे 'दादा कामरेड' का हरीश उपन्यास के प्रारंभ मे है। परन्तु आतंकवादी दल की हत्या, लूट-खसोट, डकैती आदि प्रवृत्तियों के कारण, जिनसे जनता की सहानुभूति दल खोता जा रहा था—यशपाल की आस्था उसमे न रही। दूसरे, दल का नियत्रण कार्य-कर्ताओं पर इतना कडा था कि विचार-स्वातत्र्य के लिए तनिक भी गुंजाइश नही रह गई थी, दल-पूजा की भावना उसमें भयानक रूप से घर कर गई थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि किसी वैज्ञानिक चिन्तन की आधारभूमि इसके पास नही थी। निस्सन्देह इस दल के निर्भीक, बहादुर कार्यकर्ता ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ तक हिला देने मे समर्थ साबित हुए थे, पर प्राणो की बाज़ी लगाकर लड़ मरने के अलावा इनके पास और किसी तरह का कार्यक्रम नही था। ये क्रातिकारी तो थे, पर क्राति का अर्थ ही इनको स्पष्ट न था। इनकी 'क्राति' मात्र ध्वंसमूलक थी, निर्माणात्मकता के बीज वहाँ बिल्कुल नही थे। समाजवादी चेतना से सम्पन्न यशपाल की दृष्टि मे क्राति का अर्थ था विध्वस की राख के भीतर से निर्माण के बीज का अंकुरित होना। क्राति का अर्थ ही होता है रचनात्मक विद्रोह—ऐसा ध्वंसपरक कार्य जिसमे नये सृजन की सम्भावनाएँ हों। इसीलिए आतकवादी क्रांतिकारी दल से उनकी आस्था उठ गई और वैज्ञानिक चिन्तन की पीठिका पर आधारित मार्क्सवाद में विश्वास हो गया—ठीक वैसे ही, जैसे 'दादा कामरेड' मे हरीश।

सामाजिक स्तर पर चलने वाले शोषण राजनीतिक शोषण से कही अधिक घातक और सर्वग्रासी थे—पूँजीपतियो द्वारा आम जनता का शोषण, धर्म के नाम पर वास्तविक जीवन का शोषण, न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत मानवीय न्याय का शोषण अर्थात् अन्याय का पोषण और इन सबसे बढकर नारी का शोषण। समाजवादी कला-कार की दृष्टि सबसे पहले उसी बिन्दु की ओर खिचती है, जहाँ शोषण का चक्र सर्वा-धिक तेजी से चलता रहता है। यही कारण है कि यशपाल ने नारी-शोषण के प्रश्न को 'दादा कामरेड' में सबसे अहम प्रश्न के रूप में उठाया है और उसके ब्याज से धर्म, नैतिकता, सदाचार, सामाजिक मूल्य आदि प्रश्नो को विश्लेषित किया है। शैल के रूप मे जिस 'नये ढग की लड़की' (नारी) किन्तु समाज में वास्तविक अस्तित्व रखने वाली नारी, की सृष्टि 'दादा कामरेड' मे की गई है, उससे परम्परागत मान्यताओं और स्थापित मूल्यो मे विश्वास करने वालों को चाहे जितनी चोट लगे, पर है यह सामाजिक यथार्थ ही। यथार्थ को न देखना, या देखकर भी अनदेखा करना सत्य से आँखे चुराना है, जिसका अर्थ होता है स्वयं को धोखा देना। 'दादा कामरेड' की शैल स्वयं कुछ न होकर घृणा से नाक-भौं सिकोडने वालों की अतृप्त परन्तु जागरूक, सक्रिय प्रवृत्ति ही

है। समाज मे मनुष्य की यह प्रवृत्ति अपना काम किये जा रही है।......उस प्रवृत्ति को घृणित समझकर उसे तृप्त करने की चेष्टा करके भी, उसकी निन्दा करते जाना ही क्या आज की परम्परागत आचार और नैतिकता नही है ?"[1] समाज का जीवन तो बदल गया है, पर क्रमागत जीवन-मूल्य और नैतिक धारणाएँ नही बदली हैं। फिर कैसे मेल बैठे ? जीवन नया, धारणाएँ और दृष्टिकोण पुराने, फिर समाज मे विसगतियाँ और अन्तर्विरोध नही होंगे तो और क्या होगा ? इसलिए प्रश्न है, केवल परिस्थितियों के अनुसार नैतिक धारणा बदलने का। संक्षेप मे 'दादा कामरेड' का यही मूल कथ्य है।

(ख) 'देशद्रोही'

अपने पहले उपन्यास 'दादा कामरेड' की ही तरह यशपाल ने 'देशद्रोही' मे भी दो प्रश्न उठाये हैं–(१) राजनीतिक, और (२) सामाजिक। ये दोनो प्रश्न एक ही मूल चेतना के दो रूप हैं; पर 'दादा कामरेड' मे जहाँ 'आतकवादी क्रातिकारी दल' का भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में विलय और उसका पुष्टिकरण प्रमुख राजनीतिक प्रश्न था, वहाँ 'देशद्रोही' मे १६३८-३६ ई० से लेकर १६४२ ई० तक के भारतीय राजनीतिक क्षेत्र मे कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अदा की गई भूमिका का स्पष्टीकरण और प्रकारान्तर से उसका औचित्य सिद्ध करना प्रमुख प्रश्न है।

द्वितीय महायुद्ध में रूस के सम्मिलित होने के पूर्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति क्या रुख था और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उसके क्या कार्यक्रम और नीतियाँ थी तथा रूस के, युद्ध मे सम्मिलित हो जाने पर उसका दृष्टिकोण और नीतियाँ क्या हो गई, इसी का विशद विवेचन और स्पष्टीकरण 'देशद्रोही' का राजनीतिक प्रश्न है। लेखक को स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता इसलिए मालूम पडी कि उस समय कम्युनिस्ट पार्टी पर देशद्रोह का दोषारोपण किया गया था। डॉ० खन्ना पर राजाराम द्वारा लगाया देशद्रोह का आरोप वस्तुतः देश की जनता के एक बहुत बड़े भाग द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाया गया देशद्रोह का आरोप ही है। मरणासन्न खन्ना जिस प्रकार अपने को उक्त दोष से रहित बताता है, उसी प्रकार यशपाल तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं और क्रिया-कलापों का विश्लेषण कर यह सिद्ध करते है कि कम्युनिस्ट पार्टी देशद्रोही नही, देश पर अपना सर्वस्व होम देने वाली थी। उसकी नीतियो और राजनीतिक दूरदर्शिता को न समझने वाली भारतीय जनता ने भ्रमवश यह अभियोग उस पर लगाया है। कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियो के स्पष्टीकरण के क्रम मे यशपाल ने देश के तत्कालीन सर्वप्रमुख राजनीतिक दल कांग्रेस की नीतियों और कार्य-

---

१. दादा कामरेड : दो शब्द, पृ० ७

क्रमो का भी विश्लेषण किया है और यह दिखाया है कि कांग्रेस, निस्सन्देह, उस समय की सर्वप्रमुख राजनीतिक पार्टी थी, जनता पर उसका अत्यधिक प्रभाव था, पर उसकी नीतियाँ श्रमिकजन-विरोधी, पूँजीवाद-समर्थक, समझौतावादी और भीरुता से भरी हुई थी। काग्रेस का दक्षिण-पक्ष तो पूँजीपतियो के इगितो पर नाचता ही था, मेहनत-कश जनता की उसे तनिक भी चिंता नही थी; वाम-पक्ष भी, जो स्वभाव से उग्र था और क्राति द्वारा राज्य-परिवर्तन मे विश्वास करता था, अपनी दोषपूर्ण मूलभूत नीतियो के कारण अदूरदर्शिता का शिकार वना हुआ था।

कम्युनिस्ट पार्टी, चूंकि, समाजवादी सिद्धान्तो मे विश्वास रखने वाली थी, इस-लिए महायुद्ध के प्रारभ से लेकर जर्मनी के रूस पर आक्रमण करने तक तो वह साम्राज्य-वादी शक्तियो के युद्ध मे अपने देश के साधनो और जनता की शक्ति का उपयोग किये जाने के विरुद्ध थी और दूसरी ओर देशी शोषकों, पूँजीपतियो और उनके नियत्रण मे कार्य करने वाली काग्रेस से जूझती थी, किन्तु रूस पर जर्मनी के आक्रमण के बाद फासि-स्टवाद और नाजीवाद का विरोध एव मित्र-राष्ट्रो की सहायता करना उसकी परि-वर्तित नीति वन गई। ऐसा करने का कारण यह था कि फासिस्ट शक्तियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भी भयानक शोषक थी। उनका मूलभूत सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय नीति थी, "ससार के पराधीन और निर्बल राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रो के उपयोग के लिए है।"[1] ऐसी स्थिति मे कम्युनिस्ट पार्टी ने स्वीकार किया कि देश की जनता को सम्मिलित होकर फासिस्ट-विरोधी युद्ध में सहयोग देना चाहिए और साम्प्रदायिकता का विष समाप्त कर मुस्लिम लोग तथा काग्रेस मे समझौता होना चाहिए, जिससे ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय सरकार की स्थापना मे और अधिक अड़चने न डाल सके। इसके लिए उन्होने लीग द्वारा उठाई गई 'पाकिस्तान' की माँग को भी स्वीकार कर लिया। इसी वीच अगस्त, सन् १९४२ ई० से काग्रेस द्वारा 'भारत छोड़ो' आन्दोलन छेड दिया गया, जिसमे उसके नाम पर व्यापक स्तर पर देश मे विध्वसात्मक कार्य प्रारभ हुए। कम्युनिस्ट पार्टी ने इसका भी विरोध किया। उसका कहना था कि विध्वसात्मक कार्यों से अपने ही देश की सम्पत्ति नष्ट होती है। जव देश मे इतनी गरीवी और विपन्नता छायी हुई है, तो राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करना अपने ही पैरो पर कुल्हाड़ी मारना है। इन्ही सव कारणो से कम्युनिस्ट पार्टी गलतफहमियो का शिकार हुई और उसे 'देशद्रोही', 'रूस का दलाल', 'गद्दार' आदि कहा गया। यशपाल ने 'देशद्रोही' मे इन्ही सव भ्रातियो और आरोपो का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। 'देशद्रोही' पढ़कर लगता है कि उसमे मार्क्सवादी सिद्धान्तो की कलात्मक अभिव्यक्ति कम और पार्टी-नीति का

---

१. देशद्रोही, पृ० २४५

स्पष्टीकरण अधिक है। यशपाल इस रचना में पार्टी-प्रवक्ता के रूप में ही दिखाई देते है।

सामाजिक प्रश्न के रूप मे यशपाल ने 'देशद्रोही' मे स्त्री-पुरुष सबध को अपनी विवेचना का विषय बनाया है, जिसमे स्त्री की सामाजिक स्थिति, पुरुषो का नारी के प्रति दृष्टिकोण, प्रेम, विवाह आदि प्रश्न प्रसगानुकूल जुडते और विश्लेषित होते गये हैं।

बूर्जुआ समाज मे स्त्री घर की अन्य वस्तुओ के समान मात्र-वस्तु मानी जाती है—पुरुष की मात्र सम्पत्ति, जिसे पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहे, वैसा भोगे। प्रकृति के विधान के अनुसार तो वह व्यक्ति होती है, पर बूर्जुआ सामाजिक विधान के अनुसार व्यक्तित्वहीन व्यक्ति—ऐसी मानवी, जिसका कोई भी स्वतत्र अस्तित्व नही, जिसके विचारों का कोई अर्थ नही, जो पुरुष के इगितो पर हिलने-डुलने वाली जीवित गुडिया होती है और पुरुष की विलासिता की आग मे अपने शारीरिक सौदर्य की आहुति डालकर उसे पहले तो भडकाने वाली, फिर शात कर देने वाली होती है। मार्क्सवादी यशपाल को यह सामाजिक अन्याय और शोषण बिल्कुल असह्य लगता है। उनकी दृष्टि मे इस सारे शोषण और जुल्म का कारण है जीवनयापन के लिए स्त्री का पुरुष पर अवलम्बित होना, आर्थिक दृष्टि से उसका आत्म-निर्भर न होना। जब डॉ० खन्ना चन्दा से कहता है, "स्त्री की स्थिति ही समाज में ऐसी है। जब तक उसे जीवन के साधन जुटाने का स्वतत्र अवसर और अधिकार नही, उसकी स्वतत्रता, प्रेम और आचार सब पुरुष का खिलौना है",[1] तब यशपाल उसके व्याज से उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि करते है। आर्थिक स्वावलम्बन के अभाव मे नारी के लिए और किसी भी स्वतत्रता का कोई मतलब नही होता। नारी का आर्थिक परावलम्बन और फिर उसका शोषण पूंजीवादी व्यवस्था के शरीर का नासूर है। यदि समाज को जीवित और स्वस्थ रखना है तो इस प्राणघातक नासूर पर बड़ी निर्ममता से नश्तर चलाना होगा। यशपाल की दृष्टि मे, निश्चय ही, वह नश्तर मार्क्सवाद—समाजवाद—का है।

आर्थिक आत्म-निर्भरता के अभाव मे नारी अन्य क्षेत्रो मे चाहे जितनी जागरूक और स्वतत्र हो जाये, उसे पुरुष की अधीनता स्वीकार करनी ही पडेगी। राजदुलारी खन्ना राजनीतिक दृष्टि से जागरूक होकर भी, उस क्षेत्र मे काफी कार्य कर लेने के बाद भी, बद्रीबाबू का आश्रय स्वीकार करने के लिए विवश है। डॉ० खन्ना के सम्पर्क के कारण चन्दा राजनीतिक चेतना से सम्पन्न होकर, क्राति कर डालने के लिए मन से पूर्णतः तैयार हो जाने के बाद भी अन्ततः राजाराम की प्रताडना और मार खाकर घर की

---

१. देशद्रोही, पृ० २७५

चहारदीवारी मे बंद होने के लिए मजबूर हो जाती है। यदि ये नारियाँ आर्थिक दृष्टि से अपने पैरो पर खडी होती तो उन पर ये अत्याचार कभी भी न होते और होते भी तो वे कदापि उसे सहने को तैयार न होती। यमुना पर इस तरह का कोई भी अन्याय इसलिए नही हो पाता कि वह आत्म-निर्भर है। शिवनाथ सुजान के साथ यमुना के प्रेम को बिल्कुल नही पसन्द करता, पर यमुना को उससे पराङ्मुख नहीं कर पाता। यमुना यदि शिवनाथ पर आश्रित होती तो निश्चय ही सुजान से प्रेम न कर पाती। और तब उसे शिवनाथ की पसन्द के व्यक्ति को चाहना पडता।

इस प्रकार यशपाल ने 'देशद्रोही' में उक्त दोनों प्रश्नो—राजनीतिक व सामाजिक—का मार्क्सवादी विवेचन करने का प्रयत्न किया है, पर जहाँ सामाजिक प्रश्न का मार्क्सवादी विश्लेषण करने मे उन्हे काफी हद तक सफलता मिली है, वहाँ राजनीतिक प्रश्न के बारे मे उनकी दृष्टि तत्कालीन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की मात्र नीतियों के स्पष्टीकरण में उलझ कर ही रह गई है, मार्क्सवाद तो नेपथ्य में छूट गया है।

(ग) 'दिव्या'

'दिव्या' मे यशपाल ने ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के भारतीय समाज और व्यक्ति की गति तथा प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। मार्क्सवाद इतिहास का अध्ययन मानव-समाज के लिए आवश्यक मानता है, पर श्रद्धा-विश्वास के साथ नही, विश्लेषण करके। इतिहास के विश्लेषण की इस प्रक्रिया मे वह मानव-समाज की गति और प्रवृत्तियों को जानना चाहता है और उसको सम्मुख रखकर ऐसे समाज-निर्माण के लिए प्रयत्न करता है, जिसमे उन भूलो और त्रुटियो की पुनरावृत्ति न हो, जो इतिहास के आँचल पर कलक बनकर उभर चुकी हैं। मार्क्सवादी यशपाल ने 'दिव्या' में इसी दृष्टि से तत्कालीन व्यक्ति और समाज का विश्लेषण किया है। यह बात महत्वपूर्ण नही है कि उस समय के किसी व्यक्ति का नाम मिथोद्रस, रुद्रधीर या पृथुसेन था या नही, किसी अभिजातवशीय कन्या का नाम दिव्या या सीरो था या नही, या फिर किसी ब्राह्मण या बौद्ध-भिक्षु का नाम आचार्य प्रवर्धन या चीवुक था या नहीं, महत्वपूर्ण यह है कि तत्कालीन उपलब्ध वाङ्मय के आधार पर उस समय के समाज और व्यक्ति की जीवन-दृष्टि क्या थी, उस समय के समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध, स्थिति और अवस्था क्या थी ?—'दिव्या' मे इसी का प्रस्तुतीकरण यशपाल का उद्देश्य है। इसीलिए प्रस्तुत उपन्यास मे इतिहास की घटनामूलक बारीकियो की अपेक्षा करना उचित नही।

वैसे तो मद्र गणराज्य था, पर वहाँ की समाज-व्यवस्था सामन्ती थी। सम्पूर्ण समाज द्विज और अद्विज दो वर्गों मे विभक्त था। द्विज, द्विजत्व के अभिमान में अपने को

सर्वश्रेष्ठ मानते थे—चाहे वे कितने ही 'अपदार्थ' क्यों न हो—और अद्विजो को भृत्य-कार्य करने के लिए जन्म धारण करने वाला अपना दास, चाहे वे कितने ही गुणी, पराक्रमी और शूर ही क्यो न हो। उस समाज मे मनुष्य के गुणो की परख उसके जन्म-कुल के आधार पर होती थी। महापराक्रमी यवनराज मिलिंद से परास्त होकर भी, उसकी अधीनता स्वीकार करके भी द्विज अपने द्विजत्व के अहकार मे ऐठे रहते थे। दार्वराज केन्द्रस के आक्रमण का सामना करने की क्षमता किसी द्विज मे नही थी, सामना करके उसे परास्त किया यवनवीर पृथुसेन ने, फिर भी द्विज-वर्ग पृथुसेन की श्रेष्ठता स्वीकार करने के लिए तैयार नही था। विडम्बनापूर्ण अहमन्यता का उदाहरण इससे बढकर मिलना कठिन है। अपनी अहमन्यता का शिकार द्विज-वर्ग—जिसका नेतृत्व रुद्रधीर करता है—छल का सहारा लेकर पृथुसेन जैसे पराक्रमी वीर को अपदस्थ कर देता है। पृथुसेन के पतन और रुद्रधीर की कपट द्वारा उपलब्ध विजय दिखाकर यशपाल जब यह लिखते हैं कि "मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना होकर गणराज्य और सागल नगरी से हीनवर्ग की उच्छृंखलता दूर हो गई।" तब वह यही व्यजित करना चाहते हैं कि मद्र पुनः सामन्ती व्यवस्था के अधीन एक ओर घोर विलासिता के पक में डूबने के लिए तथा दूसरी ओर दासत्व और शोषण की चक्की मे पिसने के लिए विवश हो गया। पृथुसेन की पराजय निश्चय ही अद्विजो की पराजय है, पर उस पराजय से पाठक तिलमिलाये विना नही रहता और वह आक्रोशपूर्ण विचार करने लगता है कि किसी 'अपदार्थ' को—चाहे वह द्विज ही क्यों न हो—शासन-सूत्र हस्तगत करने का क्या अधिकार है? आज के पाठक को वर्तमान समाज-व्यवस्था के निर्माण मे यह विचार स्वस्थ प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार 'दिव्या' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर निर्मित होकर भी हमे वर्तमान सामाजिक सदर्भों से जोडती है। ऐतिहासिक या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर निर्मित, रचना का यही महत्व होता है।

'पृथुसेन की पराजय' और 'पाठक के आक्रोशपूर्ण विचार' वाले हमारे कथन से यह भ्रम नही होना चाहिए कि पृथुसेन चारित्रिक दृष्टि से बिल्कुल निर्दोष है। उसके चरित्र मे भी अनेक त्रुटियाँ है, वह भी सामन्ती मनोवृत्ति का है, भोगवादी मनोवृत्ति उसमे भी है; शक्ति के भोग द्वारा तृप्ति प्राप्त करने की भावना उसमे भी है। उपन्यास मे यदि उसकी विजय दिखाई गई होती तो कुलीनता-अकुलीनता का एक कोढ समाज के शरीर से अवश्य दूर हो गया होता, पर सामन्ती भोगवादी मनोवृत्ति का रोग फिर भी उसमे रह जाता। यही कारण है कि लेखक ने दिव्या के सन्दर्भ मे दार्शनिक, विचारक मारिश की विजय दिखाकर उस मनोवृत्ति की महत्ता प्रतिपादित की है जो मात्र एक स्वस्थ मनुष्य की मनोवृत्ति है। स्वस्थ सामाजिकता के लिए मारिश की भौतिकवादी वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि अत्यन्त आवश्यक है।

मद्र गणराज्य की सामन्ती शासन-व्यवस्था में दो वर्गों की स्थिति अत्यधिक शोचनीय थी—एक दास वर्ग और दूसरा नारी वर्ग की। वैसे तो हर व्यक्ति अपने से छोटे का शोषण करता दिखाई पड़ता है, पर दास-दासियों की दशा तो अत्यन्त नारकीय थी। वे मनुष्य होकर पशुवत् जीवन जीने के लिए विवश थे। छाया अपने प्रेमी वाहुल को सिर्फ इसलिए प्रेम नही कर सकती, क्योंकि वह दासी है। दास होने का अर्थ था अपने स्वामी के लिए जीना-मरना, स्वतः अपने लिए नही। इस निर्मम अत्याचार की पराकाष्ठा छाया के निम्नलिखित वक्तव्य मे दिखाई देती है। दिव्या छाया पर कृत्रिम रोष प्रकट करते हुए कहती है—"तुझमे तनिक भी शील नही। इसी प्रकार की धृष्टता के कारण आर्ये अमिता ने तुझे अपने कक्ष से निकाला होगा।"[1] छाया इसके उत्तर मे कहती है—"नही भद्रे! उस सन्ध्या आर्य विनय अपने कक्ष मे ही थे। उन्होंने कादम्बिनी का पात्र उपस्थित करने की आज्ञा दी। पात्र प्रस्तुत करने पर आर्य ने कौतुक से हाथ मेरे अंग पर दवा दिया। मेरे लजाकर सकुचाने से आर्ये कुपित हो गई। वोली, तू छली और कुलटा है। दासी होकर कुल-ललनाओ की भाँति लाज का नाट्य करती है।"[2]

युवती छाया यौवन-सुलभ लज्जा के कारण—वह भी एक विशेष सन्दर्भ मे—यदि सकुचा जाती है तो यह उसका छल और कुलटापन है। जैसे छाया से यह आशा की जा रही है कि वह अपने को युवती-नारी क्यो समझ रही है, मनुष्य क्यो समझ रही है, काठ की पुतली क्यो नही समझती? समाज का एक वहुत वड़ा वर्ग जव इस तरह निर्जीव वन जाने के लिए विवश हो तो स्वस्थ सामाजिकता की क्या आशा की जा सकती है?

तत्कालीन समाज मे नारी की भी स्थिति ऐसी ही दारुण थी। समाज का प्रत्येक पुरुष—वर्णाश्रम के अनुसार चाहे वह कुलीन हो अथवा अकुलीन—नारी के शोषण को अपना अधिकार और कर्तव्य मानता था। नारी चाहे अभिजात-कुल की हो या निम्न कुल की, जैसे शोषित होने के लिए ही पैदा हुई थी। भोग्या के अतिरिक्त उसका कोई दूसरा रूप था ही नही। मारिश से अशुमाला (दिव्या) का यह कथन उक्त तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है—"परन्तु उस सार्थकता को नारी पा सकती है केवल अपने अस्तित्व के मूल्य मे, केवल पुरुष की भोग्या वनकर।"[3] परन्तु उपन्यास के अन्त में दिव्या और चार्वाक मारिश का आश्रय के परस्पर आदान-प्रदान के आधार पर सम्बन्ध स्थापित कराकर लेखक ने समकालीन समाज को यह व्यंजनापूर्ण सन्देश दिया है कि उसे

---

१. दिव्या, पृ० २१५
२. दिव्या, पृ० २२०
३. दिव्या, पृ० २७१

रूढ़ियो और गलित परम्पराओं के जंजाल को साहस के साथ चीरकर समानता के धरातल पर (प्रत्येक के व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए) स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

(घ) 'गीता पार्टी कामरेड'

'पार्टी कामरेड' प्रमुख रूप से राजनीतिक उपन्यास है, यद्यपि आनुषगिक रूप में सामाजिक समस्या पर भी थोडा-बहुत दृष्टिपात हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद सन् १९४६ ई० मे देश मे प्रान्तीय असेम्बलियों के आम चुनाव हुए। उस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियाँ क्या थीं, इन राजनीतिक दलो तथा नौसेना द्वारा अदा की गई भूमिकाएँ कितनी सही थी और कितनी गलत, सन् १९४२ ई० के आन्दोलन के समय स लेकर १९४६ ई० के आम चुनाव तक कम्युनिस्ट पार्टी किन कारणो से देश की जनता की गलतफहमियों की शिकार बनी रहीं, इन्ही बातो का विवेचन और स्पष्टीकरण 'पार्टी कामरेड' का मूल उद्देश्य है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की लोकप्रियता और राजनीतिक महत्व स्वीकार करते हुए भी यशपाल उसकी तत्कालीन नीतियों को दोषपूर्ण मानते है। यशपाल के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी ने जो राजनीतिक मार्ग अपनाया था, वह वस्तुवादी था। कम्युनिस्ट पार्टी ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग का समर्थन किया। पदमलाल भावरिया से गीता इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर कहती है—"हम तो कहते हैं, जहाँ मुसलमानों की बस्ती ज्यादा है, वहाँ उन्हे अपनी राय से चलने दो। किसी को जबरन पकडे रहने से एकता थोडे ही होती है। मुसलमानो को अपना भला-बुरा करने दो। वे अपनी इच्छा से अपना नफा देखकर आपसे खुद मिलेंगे, तभी एकता होगी। उन्हे जबरन पकड़कर रखोगे तो तुमसे लडते रहेंगे और वक्त पर धोखा दे जायेंगे। बस, यही है पाकिस्तान।"[1]

यशपाल ने अपनी सहानुभूति नौसैनिक-विद्रोह को भी दी है। नौसैनिक विद्रोह के समय जब देश की जनता विद्रोह की आग भडका कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उसमें जलाकर भस्मसात् कर देने के लिये उतावली और कटिबद्ध थी, तब कांग्रेस जनता को हतोत्साहित कर विद्रोह से पराङ्मुख करने के प्रयत्न मे लगी हुई थी। नौसैनिक-विद्रोह के समय कांग्रेस के अत्यन्त प्रमुख नेता सरदार पटेल द्वारा दिया गया वक्तव्य उक्त तथ्य की ही पुष्टि करता है—"जनता इस नाजुक परिस्थिति मे सब प्रकार शान्त रहे। हडताल आदि द्वारा नगर मे किसी प्रकार की अशांति का कारण न होना चाहिए। जहाजी

---

१. पार्टी कामरेड, पृ० ३६

सिपाहियों ने नेताओं से सलाह लिये विना सेना का अनुशासन भंग किया है। उनके इस काम में किसी प्रकार का सहयोग जनता को न देना चाहिये।"[१] स्मरणीय है कि हड़ताल का आयोजन कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किया गया था।

सरदार पटेल के वक्तव्य से भावरिया-जैसा व्यापारी और पूंजीपति भी क्षुब्ध हो उठा। भायाजी-जैसी कांग्रेसी की, हड़ताल न करने की; प्रार्थना ठुकरा कर भावरिया कांग्रेस–संस्था और उसकी नीतियों को ही ठुकराता है। हड़ताल सफल होती है और कांग्रेस को मुँह की खानी पड़ती है। 'पार्टी कामरेड' मे यही राजनीतिक समस्या चित्रित है।

सामाजिक समस्या, अन्य पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह, 'पार्टी कामरेड' में भी पूंजीवादी समाज में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के प्रश्न की है। गीता–जैसी सुशिक्षिता नारी भी मौजूदा पूंजीवादी पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष के आश्रय के विना कोई काम नही कर सकती। अन्य कार्य तो दूर रहे, शुद्ध राजनीतिक क्षेत्र में भी वह कुछ नही कर सकती। गीता की माँ तो यह अनुभव करती ही है—"जिसे ओट देने वाला मर्द नही, उसका दुनिया मे कौन है?"[२] और उसका यह सोचना इसलिए अधिक नही खटकता, क्योंकि वह पूर्णतः पूंजीवादी समाज के संस्कारों से युक्त है, पर जब गीता-जैसी समाजवादी मान्यताओं वाली सुशिक्षिता को भी माँ की तरह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है—"भाई की भोली और उत्तेजनापूर्ण बातें गीता के लिए कितने सन्तोष का कारण थी। उसने एक बाँह का सहारा अनुभव किया। वह बाँह देखने में कितनी दुबली–पतली कमजोर हो, है तो मर्द की बाँह। वह अकेली नहीं है। शामू छोटा है तो क्या? है तो लड़का......मर्द! उसके सहारे वह खड़ी हो सकेगी।"[३] तो लगता है, इस पूंजीवादी व्यवस्था के क्षमताहीनों के लिए तो कार्य और विकास करने का अवसर नही है, क्षमता-सम्पन्नो के लिए भी वही स्थिति है। अवसर के इस अभाव को यशपाल सामाजिक विकास की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं, जिसका निर्मूलन आवश्यक ही नही अनिवार्य है। पूंजीवादी समाज ने चेहरे पर आचरण का एक मुखौटा पहन लिया है, जिसे वह सच बताना चाहता है, पर हर व्यक्ति जानता है कि वह मुखौटा शत-प्रतिशत झूठा है। सही बात तो यह है कि "पूंजीवाद मे आचार कुछ नहीं, उसका आधार केवल धन का सम्मान है।"[४] धन के पर्दे के पीछे चाहे जितने अनाचार किये जायें, सब छिप जाते हैं।

---

१. पार्टी कामरेड, पृ० ८३
२. पार्टी कामरेड, पृ० ६८
३. पार्टी कामरेड, पृ० ७०
४. पार्टी कामरेड, पृ० २३

कांग्रेस की नीतियों की तुलना में यशपाल यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों को सही और इसीलिए वरेण्य मानते हैं, पर एक ईमानदार कलाकार की तरह उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की भी विसंगतियों, बुराइयों और दोषों का अनावरण किया है। पार्टी का अंकुश इतना कड़ा हो गया था कि वह व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप की सीमा तक पहुँच गया था। गीता से प्रश्नोत्तर करते हुए प्रान्तीय कमेटी के कामरेड का यह कथन व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप का अप्रतिम उदाहरण है—"निजी और व्यक्तिगत क्या? तुम्हारा जीवन अपने लिए है या उद्देश्य के लिए?"[1] जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अपहरण की प्रवृत्ति किसी संस्था मे इस सीमा तक आ जाती है, तो उसमें सिद्धान्तगत जडता घर करने लगती है, जो एक दिन स्वय उस संस्था को जड और निर्जीव बना देती है। इसके अतिरिक्त गीता के प्रति मेघनाथ-जैसे कामरेड के दुष्टतापूर्ण व्यवहार और चारित्रिक ओछेपन की ओर भी यशपाल ने इगित किया है। वे पार्टी सदस्य हैं, इस नाते उन्हे बख्श नही दिया है। प्रत्येक कलाकार से इस ईमानदारी की अपेक्षा की जाती है। यशपाल ने पाठक की यह अपेक्षा-पूर्ति बहुत ही अच्छी तरह की है।

(ङ) 'मनुष्य के रूप'

'मनुष्य के रूप' का चित्र-फलक अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है, जिसके केंद्र में मार्क्सवादी यशपाल ने प्रेम और नैतिकता को अवस्थित करके उनके सम्बन्ध मे पारम्परिक मान्यताओ और शाश्वतता के सिद्धान्त को परखने का प्रयत्न किया है। मार्क्सवादी होने के कारण यशपाल की मान्यता है कि, "सब चीजो की तरह जीवन मे प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है।"[2] मार्क्सवाद का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ससार की प्रत्येक वस्तु मे द्वन्द्वात्मकता की स्थिति स्वीकार करता है। और इसीलिए उसे परिवर्तनशील भी मानता है। प्रेम इसका अपवाद नही। मार्क्सवादी यशपाल प्रेम को गतिशील और परिवर्तनशील मानते है। उनका कहना है कि भौतिक परिस्थितियाँ मनुष्य की चेतना को निश्चित रूप से प्रभावित करती हैं, इसीलिए भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ मनुष्य की चेतना भी बदलती रहती है और मनुष्य की चेतना जब-जब बदलती है, तब-तब प्रेम, नैतिकता आदि के सम्बन्ध मे उसकी धारणाएँ भी बदलती हैं। परिवर्तन के इस क्रम मे नई मान्यताओ को प्राचीन मान्यताओ से सघर्ष करना पडता है, क्योंकि प्रतिष्ठित मूल्य और मान्यताएँ नई मूल्य-मान्यताओ को स्वीकृति

१. पार्टी कामरेड, पृ० ७५
२. मनुष्य के रूप, पृ० ८६

देने के लिए सरलता से तैयार नही होतीं। सोमा का जीवन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। सोमा को जीवन के जिन मोड़ों से होकर गुजरना पड़ता है, उनके आधार पर यशपाल ने यह निष्पत्ति प्रस्तुत की है कि, "प्रेम जीवन में शरीर की अनुभूति और आवश्यकता से पृथक् वस्तु नही है।"[१] सच्चा प्रेम तो, यशपाल के अनुसार, वही संभव है जहाँ वह मात्र 'आत्मतुष्टि' की भूमि पर स्थित हो, पर पूँजीवादी समाज मे प्रेम को पुरुष-वर्ग ने नारी-शोषण का शक्तिशाली अस्त्र बना लिया है। वह नारी को आश्रित बनाकर रखता है और उसे अपना शरीर देकर उस आश्रय का मूल्य चुकाना पडता है। पूँजीवादी समाज मे नारी यदि अपने पैरों के बल खडी भी हो जाये तो भी सामाकिज मान्यताओ एव तज्जन्य सस्कारों के कारण उसे किसी पुरुष का आश्रय या आड़ स्वीकार करनी ही पडती है। फिल्म-जगत् की अत्यन्त प्रसिद्ध अभिनेत्री हो जाने तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता के बाद भी सोमा द्वारा सुतलीवाला का ग्रहण इसी सचाई की ओर सकेत करता है। पराश्रय और शोषण नारी-जीवन से तब तक उन्मूलित नहीं होंगे जब तक पूरी समाज-व्यवस्था न बदल जाये। 'मनुष्य के रूप' मे इसी समाज-व्यवस्था के परिवर्तन की आवश्यकता की ओर इगित किया गया है, जो उपन्यास का मूल कथ्य है। पर यह सब व्यंजना के सहारे किया गया है। मूल कथ्य अभिधात्मक नही, व्यंग्य है, इसलिए रचना का कलात्मक मूल्य अत्यधिक बढ जाता है।

प्रेम की परम्परागत धारणाएँ इतनी रूढिग्रस्त, जड तथा निर्जीव हो गई है कि वे जीवन के सहज-स्वाभाविक विकास मे कदम-कदम पर बाधाएँ उपस्थित करती रहती हैं। ये बाधाएँ जीवन को नरक-तुल्य बना देती हैं। मनोरमा यदि पुसत्वहीन सुतलीवाला के साथ प्राचीन प्रेम-विश्वासो के कारण चिपकी रहती, तलाक न दे देती तो उसका जीवन नारकीय बनने मे क्या सन्देह था ? धनसिह के साथ यदि सोमा अपनी ससुराल से न भाग जाती तो उसका जीवन कितनी भयानक यत्रणाओ और नारकीय कष्टो से गुजरता, उसकी हम सहज ही कल्पना कर सकते है। तात्पर्य यह कि तब प्रेम उनके जीवन मे निश्चित रूप से बाधक बनता। यशपाल के अनुसार "प्रेम तो जीवन की सहायक और पूरक वस्तु है। जीवन मे अड़चन बनकर प्रेम चल नही सकता।"[२] "जब प्रेम नित्य जीवन मे असह्य स्थिति पैदा करने लगता है तो वह जीवन का बाधक होकर स्वय समाप्त हो जाता है, उसकी जगह घृणा पैदा हो जाती है।"[३] सोमा और मनोरमा दोनों का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

---

१. मनुष्य के रूप, पृ० ८७

२. मनुष्य के रूप, पृ० ८६

३. मनुष्य के रूप, पृ० ८७

नैतिकता के प्रश्न को यशपाल ने मात्र प्रेम तक ही सीमित नही रखा है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उनकी दृष्टि इस प्रश्न को लेकर प्रवेश करती है और वहाँ व्याप्त विकृत नैतिकता का पर्दाफाश करते हुए उस पर कसकर प्रहार करती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय मेजर बासू और बैरिस्टर जगदीश सहाय सरोला का परस्पर साठगाँठ करके बिल्ली की आँतो की जगह सड़ी सुतली 'सप्लाई' करना और उसपर तेजाब गिरवाकर अनुपयोगी बना देना, सेना के अफसरों का अपनी पत्नियो को साथ रखना और साथ ही क्लबों में परायी स्त्री के साथ नाचना, पर सामान्य सैनिको को पत्नीहीन रहने का नियम बनाना, गाँव के अशिक्षित लोगो का बात-बात मे भगवान् और खुदा की दुहाई देकर अपने धार्मिक होने का प्रमाण देना, पर दुखियारी सोमा जैसी अबलाओ के साथ बर्बरतापूर्ण व्यवहार करना, धनसिह जैसे ड्राइवरो का परायी स्त्री के सम्बन्ध मे गन्दी-से-गन्दी बाते करना, पर अपनी स्त्री के बारे मे दूसरो द्वारा उसी तरह के किये गये आचरण से क्रुद्ध होकर हत्या तक कर देना, कानून और व्यवस्था की रक्षक समझी जाने वाली पुलिस का भक्षक-जैसा व्यवहार तथा अनैतिकता का घोर आचरण करना, अपने को कला का उपासक कहने वाले फिल्म-जगत् के लोगो द्वारा सभी हथकण्डो और छल-बल से अभिनेत्रियो को वासना-पूर्ति का साधन बनाने के लिए विवश करना, आदि आदि बीसियों प्रश्न है, जिनपर व्यग्य करते हुए यशपाल ने पूरे समाज और प्रशासन से यह प्रश्न किया है कि यह कौन-सी नैतिकता है। यदि उनके पास इसका उत्तर नही है तो जिस समाज और शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत यह सब हो रहा है, उसे बदल डालना चाहिए। तभी जीवन को सही अर्थों मे नैतिकता मिल सकेगी।

राजनीतिक पृष्ठभूमि के रूप मे इस उपन्यास मे द्वितीय विश्वयुद्ध-काल की राजनीतिक घटनाएँ है। 'देशद्रोही' उपन्यास मे हमने उस पर विशद् रूप से विचार किया है, अतएव यहाँ जानबूझकर उसकी विवेचना नही की जा रही है। हाँ, 'आजाद हिन्द फौज' के कार्यकलापो का वर्णन 'मनुष्य के रूप' मे अन्य उपन्यासो की अपेक्षा अवश्य अधिक विस्तार से हुआ है। यशपाल ने 'आजाद हिन्द फौज' की नीतियो की भी आलोचना की है। उनके अनुसार 'आजाद हिन्द फौज' द्वारा किया जाने वाला अंग्रेजो का विरोध और फासिस्ट-शक्तियो का समर्थन दोषपूर्ण है, क्योंकि फासिस्ट जापान अंग्रेजो की तुलना मे अधिक बर्बर और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का था। उदाहरण के तौर पर लडाई के मैदान में 'आजाद हिन्द फौज' के सैनिकों के साथ जापानी अफसरो के दुर्व्यवहार को प्रस्तुत किया जा सकता है।

'मनुष्य के रूप' प्रमुखतः सामाजिक उपन्यास है। सामन्तवादी-पूंजीवादी सस्कारो और व्यवस्था के बीच घुटते हुए समाज की विसगतियो और दुरवस्थाओ को समाज के सामने उघाडकर रखना ही प्रस्तुत उपन्यास का लक्ष्य है। और उस लक्ष्य के

भीतर से सुनाई पड़ती है एक ध्वनि, जो समाजवादी समाज-व्यवस्था अपनाने का सन्देश देती है। इस प्रकार लेखक ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों की स्थापना का पूरा प्रयास किया है, पर कलात्मक तटस्थता के साथ और व्यंजना का सहारा लेकर ही। सम्पूर्ण उपन्यास गोमा की कथा के माध्यम से मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्यंजना करता है।

(च) 'अमिता'

'अमिता' की विवेचना का केन्द्रबिंदु, जैसा कि स्वतः यशपाल ने प्राक्कथन में लिखा है, विश्व-शांति की समस्या है। संसार के वे देश भी, जो आज महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं, पर जो कभी युद्ध की विभीषिका और संहारकता प्रत्यक्ष झेल चुके हैं, विश्व-शांति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। शस्त्रों की होड़ करके, शस्त्रों का उत्पादन कर शक्ति-सन्तुलन करके, संसार के राष्ट्र देख चुके हैं कि उससे मानव-समाज को सुख-शांति मिलने के बदले अस्तित्व का खतरा ही अधिक अनुभव हुआ है। सम्पूर्ण संसार का जीवन चौबीस घण्टे, जैसे कच्चे धागे से लटक रहा है। ऐसी स्थिति में युद्ध की संभावनाओं से बचने और मानव-समाज की अस्तित्व-रक्षा के लिए विश्व-शांति अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसी विचार-बिंदु के ताने-बाने से बुनकर 'अमिता' की कथा ऐतिहासिक कल्पना की भूमिपर अवस्थित यशपाल ने जिस कथा के सहारे करने का प्रयत्न किया है, वह इतनी शिथिल, बिखरी हुई, टूटी, अविश्वसनीय और इसीलिए अर्थहीन है कि लगता ही नहीं कि 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'दिव्या' आदि के लेखक यशपाल ही इसके भी रचनाकार हैं। यशपाल से आलोचकों की और चाहे जो असहमति रही हो, पर सभी एक स्वर से यशपाल की 'किस्सागोई'—कथा कहने के ढंग—के कायल रहे हैं। 'अमिता' पढ़कर पाठक का वह विश्वास हिल उठता है। वह समझ ही नहीं पाता कि यशपाल-जैसा किस्सागो कथाकार इतनी अविश्वसनीय कथा भी गढ़ सकता है।

सम्पूर्ण उपन्यास में प्राक्कथन का कथन तो कहीं ढूंढे भी नहीं मिलता। हाँ, अशोककालीन कलिंग की सामन्ती समाज-व्यवस्था का चित्रण अवश्य विश्वासोत्पादक ढंग से हुआ है। समाज में दासों की दुरवस्था का, धर्म के नाम पर होने वाली प्रवंचनाओं और हिंसा का, धनियों तथा महाधनियों द्वारा किये जाने वाले शोषण और कुत्सित स्वार्थ-पूर्ति के लिए चली जाने वाली कुटिल राजनीतिक चालों का अत्यन्त निर्मम और मार्मिक चित्रण 'अमिता' कहीं अधिक विश्वास से सम्प्रेषित कर पाती है। हिंसा और मोद की निश्छल प्रेम-कथा, सेट्ठी सोमित्र की प्रवंचनापूर्ण धर्म-निष्ठा और राजनीतिक चाल तथा बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म का संघर्ष और हिंसा इसके प्रमाण हैं। यदि उपन्यास का लक्ष्य तत्कालीन शोषणमूलक सामन्ती समाज-व्यवस्था के चित्रण के माध्यम

से आज की पूँजीवादी समाजव्यवस्था पर व्यंग्य करना होता, तो 'अमिता' की कथा अधिक उपयुक्त और तर्कपूर्ण प्रतीत होती; किन्तु उपन्यास का लक्ष्य तो विश्वशांति की समस्या है और कथा का सारा विस्तार अपने मे तत्कालीन सामाजिक चित्रण को समेटे हुए है। तात्पर्य यह कि मुख्य बात अत्यन्त गौण हो गई है और गौण बात अत्यन्त प्रमुख। गौण-स्थान-प्राप्त प्रमुख उद्देश्य—विश्व-शांति की समस्या—की यदि कलात्मक परिणति भी हुई होती तब भी उतनी न खटकती, पर 'अमिता' मे तो बालिका अमिता के निश्छल भोलेपन के प्रभाव से व्यक्ति-विशेष अशोक का मनोवैज्ञानिक हृदय-परिवर्तन कराया गया है, जो बिल्कुल आरोपित लगता है— एक बिल्कुल भिन्न-प्रकृति की लम्बी कथा पर दूसरी छोटी अदनी-सी कथा का आरोपण। निश्चय ही अशोक का व्यक्तिगत हृदय-परिवर्तन आज की शस्त्रास्त्रों के बीच उठ खडी हुई विश्वशांति की समस्या का कोई भी समाधान नही है। यदि मगध और कलिंग की जनता और सेनाएँ युद्धभूमि के भीषण नर-सहार को देखकर युद्ध की व्यर्थता का अनुभव करती और समझौतापूर्ण शांति की घोषणा करती, तो निश्चय ही आज के युद्धत्रस्त ससार को युद्ध विरत होने का एक व्यजनापूर्ण सन्देश मिलता, पर 'अमिता' मे एक व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन कराकर जिस प्रकार युद्ध-पराड्मुखता और विश्व-शांति की स्थापना का सन्देश दिया गया है, चिन्त्य है। 'पार्टी कामरेड' की आलोचना मे गीता के सम्पर्क से सेठ भावरिया के हृदय-परिवर्तन को हमने गाधीवादी हृदय-परिवर्तन स्वीकार किया है और इसीलिए यशपाल पर गाधीवाद के हृदय-परिवर्तन वाले पहलू का प्रभाव माना है। 'अमिता' मे गाधीवादी हृदय-परिवर्तन जैसे मार्क्सवादी यशपाल पर पूर्णता हावी हो गया है। अपनी समग्र सचेतनता और सजगता के बावजूद यशपाल गांधीवाद के प्रभाव से नही बच सके। इसका तात्पर्य यही है कि कोई भी लेखक या कलाकार युगधर्म से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित हुए बिना रह नही सकता।

(छ) 'झूठा सच' : दो खंडों में—

१—वतन और देश
२—देश का भविष्य

'झूठा सच' यशपाल की अत्यन्त सशक्त औपन्यासिक कलाकृति है। इसमे यशपाल की जीवन-मान्यताएँ बडी कलात्मकता से अभिव्यक्त हुई हैं। 'झूठा सच' से पूर्व की रचनाओ द्वारा ही, यद्यपि, यशपाल अपने को एक सशक्त उपन्यासकार के रूप मे स्थापित कर चुके थे, फिर भी उन रचनाओ मे उनकी कला और जीवन-दर्शन की पारस्परिक स्पर्धा मे कला पिछडती हुई और जीवन-दर्शन आगे बढ़ता हुआ दिखाई

पडता है। 'झूठा सच' मे, निर्भ्रान्त रूप से, उनकी कला ने, वर्षों के अभ्यास के कारण जीवन-दर्शन पर पूर्ण विजय पाई है। सर्जक कलाकार से, रचना की उदात्तता और गरिमा के लिए, जिस कलात्मक तटस्थता की अपेक्षा की जाती है, 'झूठा सच' में वह अपने पूरे उत्कर्ष के साथ दृष्टिगोचर होती है।

यशपाल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपने जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए वे मानते हैं कि संसार मे सब कुछ, द्वन्द्वात्मक स्थिति के कारण, सदा परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही जीवन और जगत् का सबसे बड़ा शाश्वत सत्य है। परिवर्तन के अलावा और कुछ भी शाश्वत नही—न ईश्वर, न धर्म, न विश्वास, न मान्यताएँ, न आचरण, न व्यवहार, न परम्परा, न परिस्थितियाँ, न शासन-व्यवस्था, न सामाजिक नियम, न मनुष्य का अन्तःकरण और चेतना। परिवर्तन की प्रक्रिया मे ये सब बदलते हैं, पर जब समाज और उसमे रहने वाला व्यक्ति, विवेकहीनता और दृष्टि दोष के कारण, इन्हे अपरिवर्तनीय तथा शाश्वत मान लेता है, तो एक प्रकार का गत्यवरोध पैदा हो जाता है और उस गत्यवरोध के गर्भ से जन्म लेती है अनेक प्रकार की विसंगतियाँ, अन्तर्विरोध, सडांध, रुग्णता, क्षयशीलता, मरणोन्मुखता, जड़ता, निर्जीवता और सर्वनाश। 'झूठा सच' के प्रथम भाग मे भोला पाधे की गली को प्रतीक बनाकर देश के जिस जीवन का चित्रण किया गया है, वह उक्त प्रकार की विवेकशून्यता और दृष्टि-दोष से बुरी तरह ग्रस्त है। व्यापक रूप मे राष्ट्रीय स्तर पर धर्मांधता और साम्प्रदायिक विद्वेष की तथा लघु रूप मे भोला पाधे की गली के स्तर पर परम्परावादिता की चिनगारियाँ जीवन को जलाकर भस्मसात् कर देने के लिए भीतर-ही-भीतर एकत्र होती रहती हैं, जिनका अत्यन्त भयानक और सर्वग्राही विस्फोट देश के विभाजन के रूप में होता है। विभाजन की आँधी मे देश का जीवन वृन्तच्युत पत्ते की भाँति ठोकरें खाता, इधर-उधर लडखड़ाता भटकता फिरता है। ऐसी परिस्थिति में सहायता के लिए न ईश्वर आता है, न धर्म; न 'वाहे गुरु' आते है, न अल्लाह, न परम्पराएँ आती है, न रूढिप्रियता। वल्कि ये ही सब तो जीवन को जला डालने के लिए सर्वनाशी भट्ठी मे झोंक देने का कारण हैं। यदि ये कारण न होते तो देश का विभाजन न होता, तारा को असद के स्थान पर अत्यन्त क्रूर नीचाशय गुण्डा सोमराज से बँधना न पडता और फिर नब्बू की पाशविकता का शिकार न बनना पड़ता, शीलो को रतन के स्वस्थ-सुखद सम्पर्क के बदले मनोहर की अर्धाङ्गिनी न बनना पडता, सीता को कपडो के लिए शरीर न बेचना पडता, बन्ती को पति की दहलीज पर सर पटककर प्राण न दे देना पड़ता, जयदेव पुरी को गरीबी के कारण उर्मिला का ट्यूशन न करना पडता, फिर उर्मिला जयदेव के जीवन मे न आती और तब कनक का जीवन कुछ दिनो के लिए नरक न बनता। ये सारी प्रलयकारिणी घटनाएँ इसलिए घटी कि प्राचीन

जीवन-मान्यता, धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक उन्माद, शोषणमूलक समाज-व्यवस्था आदि सबने मिलकर लोगों का विवेक छीन लिया था, लोग समझदारी के स्तर पर खोखले और रिक्त हो गये थे। लेकिन ये घटनाएँ घटी, यह ऐतिहासिक सचाई है। 'झूठा सच' का प्रथम भाग 'वतन और देश' हर प्राचीन मान्यता को शाश्वत मानने वाले खोखले समाज की यथा-तथ्य तस्वीर उरेह कर विरत हो जाता है। यद्यपि भोला पाधे की गली तथा पजाब में रहने वाली शिक्षित नई पीढी प्राचीनता के सस्कारो को झाडकर वैज्ञानिक जीवन-पद्धति अपनाने के लिए सुगबुगाती नजर आती है, पर प्राचीनता और परम्परावादिता के बंधन इतने कडे हैं कि नवीनता उसी मे घुटकर रह जाती है और अपने विकास का मार्ग नही पाती।

उपन्यास के दूसरे भाग 'देश का भविष्य' में प्रारम्भ से ही जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं, वे सबसे पहली बात जो पाठक से कहते हैं, वह यह है कि परिवर्तन जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। यदि उसे समाज, व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो स्तरो पर स्थान ग्रहण करने देगा तो जीवन सहज ढंग से विकसित होता रहेगा, अन्यथा परिवर्तन-क्रम रुँधते-रुँधते एक दिन विस्फोटक रूप धारण कर लेगा, जिसके विध्वसक स्फोट मे सारी प्रतिक्रियावादी बाधाएँ जलकर स्वाहा हो जायेगी और जीवन फिर से अपने को नये सिरे से शुरू करेगा। भोला पाधे की गली एवं तत्कालीन पंजाब के प्रायः सभी हिन्दू-सिखो को तथा भारतवर्ष के असंख्य मुसलमानों को वतन-परिवर्तन के बाद जो नया जीवन प्रारम्भ करना पडता है, वह सिर्फ इसलिए कि परिवर्तन के नियमो की माँगे उन्होंने अनसुनी कर दी थी, बदले हुए युग के अनुसार उन्होने जीवन को, उसकी मान्यताओ-धारणाओं को, धर्म और सम्प्रदाय को बदलने से इन्कार कर दिया था। विभाजन से पूर्व अन्तर्जातीय विवाह, लडकियो का नौकरी करना आदि-आदि बाते जो अनुचित मानी जाती थी, विभाजन के बाद वे सब उचित हो गईं। कहाँ रही फिर शाश्वतता की मान्यता? वस्तुतः सारे नियम और विधि-निषेध जीवन को बेहतर बनाने के लिए होते हैं। नियम और विधि-विधान मनुष्य द्वारा निर्मित किये जाते हैं, जो जीवन को सँवारने के लिए होते हैं। ये उपरि-संरचनाएँ (सुपर स्ट्रक्चर्स) हैं। जीवन के बदल जाने पर उपरि-सरचनाओ को बदल देना आवश्यक होता है, पर जब समाज विवेक-शून्यता के कारण उपरि-सरचनाओं को ही जीवन की अपेक्षा अधिक महत्व देने लगता है, तो जीवन में सडाध और विसंगतियो का भर उठना अवश्यभावी हो जाता है। और तब वैसे ही परिणाम भुगतने पडते हैं, जो 'झूठा सच' के पात्रो को भोगने पडे है। 'झूठा सच' मे चित्रित तत्कालीन जीवन का यह सामाजिक पहलू है।

उपन्यास मे अंकित राजनीतिक पक्ष और अधिक विद्रूप, धब्बेदार तथा घिनौना है। वे राजनीतिक नेता ही थे, जिन्होने विभाजन की प्लावनकारी परिस्थितियाँ

पैदा की। राजनीतिज्ञ न किसी धर्म और मजहब का कल्याण चाहते है और न किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का। वे मात्र अपना हित देखते हैं। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए वे दुनिया का बडे से बडा अहित कर सकते है, करते है। कायदे-आजम जिन्ना के सम्मुख अत्यन्त घृणित स्वार्थ-भरी महत्वाकांक्षा न होती तो संभवतः देश का विभाजन न होता। पर इसके लिए सिर्फ जिन्ना ही जिम्मेदार नही, उन नेताओं और समाज-व्यवस्था पर भी इसका उत्तरदायित्व जाता है, जिन्होने मुसलमानो के प्रति परायेपन का व्यवहार किया। मुसलमान प्रायः आर्थिक दुरवस्था के शिकार थे, सामाजिक स्तर पर वे लगभग उपेक्षित और सम्मान के अयोग्य माने जाते थे। स्वाभाविक था कि उनमें गैर-मुस्लिमों के प्रति, हिन्दुओ-सिखों के प्रति भयानक असन्तोष होता। इस असन्तोष की आग मे राजनीतिक नेताओं के स्वार्थों की आहुतियाँ पड़ गईं, और फिर जो हुआ वह कितना अनभीष्ट, अमानवीय और बर्बरतापूर्ण था, इतिहास जानता है। विभाजन से पूर्व की जनता बिल्कुल अशिक्षित, धर्मान्ध, परम्परा-प्रेमी, अविवेकी तथा अवैज्ञानिक थी, इसलिए राजनीतिक नेताओ ने उन्हे जैसे चाहा, गुमराह किया; जिसका परिणाम भीषण नरमेध के रूप मे दिखाई पडता है। पर विभाजन के बाद की जनता के, पहले की तुलना मे, अधिक शिक्षित, विवेक-सम्पन्न तथा वैज्ञानिक दृष्टियुक्त हो जाने के कारण सूद-जैसा अत्यन्त प्रभावशाली नेता भी उसे बरगला नही पाता। फलस्वरूप प्रजातंत्रात्मक आम चुनाव मे सूद को पराजय का मुँह देखना पड़ता है।

विभाजन के बाद देश में भ्रष्टाचार का जैसे तूफान आ गया। कुनबापरस्ती, भाई भतीजावाद, रिश्वतखोरी, मँहगाई, राजनीतिक नेताओ की धाँधली, शरणार्थियों की विवशता से अनुचित लाभ उठाने की नेताओ की भावना, शरणार्थी नारियो की इज्जत से खेलने की उनकी दुष्प्रवृत्ति, राजनीतिक लाभ कमाने के लिए सभी तरह के गलत-सही काम, चुनाव जीतने के लिए हर प्रकार के हथकण्डो का प्रयोग आदि-आदि सैकडो प्रश्न ऐसे है, जिन्हे उपन्यास के दूसरे भाग में यशपाल ने अभिव्यक्ति दी है और उसके माध्यम से कांग्रेसी शासन-व्यवस्था पर पूरी शक्ति के साथ प्रहार किया है। कांग्रेस पहले से ही एक प्रकार से पूँजीपतियो के नियन्त्रण में थी। स्वतन्त्रता के बाद जब देश का प्रशासन उसके हाथ में आया, तो वह पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बन गई, उनके इंगितो पर नाचने लगी। परिणामतः पं० नेहरू द्वारा लगाया गया समाजवाद का नारा मात्र शाब्दिक रह गया। समाजवादी व्यवस्था पूँजीपतियो के मनोनुकूल भला कैसे होती ? पं० नेहरू के समाजवादी लक्ष्यों के अनुरूप डॉ० प्राणनाथ द्वारा तैयार किये गए आयोजन के प्रारूप का विरोध सूद इसीलिए तो करता है। डॉ० प्राण का खुला विरोध न कर पाने के कारण सूद उन पर चारित्रिक आक्षेप करके उन्हे रास्ते से हटा देना चाहता है। इस प्रकार पूँजीपतियों ने कांग्रेस और प्रशासन तथा

अर्थतंत्र को हथिया लिया है। विदेशी साम्राज्यवादी शोषको के स्थान पर देशी पूंजीपति शोषक बन बैठे हैं। शोषण यथावत् कायम है, बल्कि कुछ माने में पहले के मुकाबले बढ़ गया है। "राजनीति इस स्तर पर आ गई है तो देश का क्या होगा" पण्डित गिरधारीलाल के ये शब्द इस संदर्भ मे ध्यान देने योग्य हैं। जनता ने स्वातन्त्र्योत्तर जीवन के जो सपने सँजोये थे, वे धूल मे मिल गये हैं। जनता का यह झल्लाहट-भरा आक्रोशपूर्ण कथन कितना मार्मिक और सारगर्भित है—"इससे तो अंग्रेजो का राज अच्छा था। अब तो धाँधली और घूसखोरी के लिए किसी का डर ही नही रहा।"[१]

काग्रेसी नेताओ का कितना नैतिक और चारित्रिक अधःपतन हो गया है, इसके प्रमाण अवस्थी जी, मिस्टर रावत, मिस्टर अगरवाला, मिसेज अगरवाला, प्रसाद जी आदि के आचरण और व्यवहार हैं। जो अवस्थी पुरी से बात तक नही करता, वही युवती कनक को देखकर उसे नौकरी दिलाने का हर सभव प्रयास करता है। प्रसाद जी तारा को एक साड़ी देकर खरीद लेना चाहते है। मिस्टर अगरवाला तथा मिस्टर रावत भी कुछ ऐसी ही हरकते करते हैं।

प्रधान मत्री प० नेहरू के सार्वजनिक भाषणों को आधार बनाकर यशपाल ने जो व्यग्य किया है, वह वस्तुतः प्रत्येक देशवासी को चिन्तातुर कर देने लायक है। प्रधान मत्री के पास बस एक ही वक्तव्य है जिसे वे लगातार दस-बारह वर्षों से सार्वजनिक सभाओ मे कहते आये है। उसके अलावा, उनके पास न कोई नवीन चिन्तन है और न कोई मौलिक नयी बात। जब देश का प्रधान मत्री चिन्तन के स्तर पर इतना रिक्त हो गया हो तो देश की प्रगति की क्या सभावना की जा सकती है?

जनतत्र मे, जनता के हितो का उत्तरदायित्व प्रेस और समाचारपत्रों पर बहुत अधिक होता है। पर नेताओं एवं पूंजीपतियो ने अपने पैसे के बल पर, उन्हे भी खरीद लिया है। पुरी का सूद की इच्छा के अनुसार लिखना, इसी बात का उदाहरण है। पुरी बुद्धिजीवी है, पर गणतत्र भारत मे बुद्धिजीवियो की अवस्था बिके गुलामो की-सी है।

इस प्रकार यशपाल ने 'झूठा सच' मे सन् १९४२ से लेकर १९५७ तक के भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का यथा-तथ्य चित्राकन किया है। जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्याप्त बूर्जुआ मनोवृत्ति का पर्दाफाश करते हुए समाज को पूरी निर्ममता से धक्का देकर जगाने का प्रयत्न किया है और नवीन जीवन-मान्यता तथा समाजवादी समाज-व्यवस्था अपनाने का आह्वान किया है। पर यह सब हुआ है बड़ी ही कलात्मकता के साथ।

---

१. झूठा सच : दूसरा भाग—देश का भविष्य, पृ० ३४८

(ज) 'बारह घण्टे'

'बारह घण्टे' यशपाल की एक ऐसी कला-सर्जना है जिसमे मात्र एक प्रश्न को विवेचना का आधार बनाया गया है—प्रश्न है, जीवन के सन्दर्भ मे प्रेम का स्वरूप। प्रेम के सम्बन्ध मे भारतवर्ष की परम्परागत धारणा शाश्वतता की है, अर्थात् प्राचीन धारणाओ के अनुसार प्रेम शाश्वत होता है। शाश्वतता की इसी धारणा के कारण उसका सम्बन्ध शरीर से नही, शाश्वत आत्मा से माना गया। "यहाँ की सस्कृति और परम्परा मे प्रेम और विवाह को आत्मिक सम्बन्ध माना गया है,"[1] जेनी का यह कथन तथा पामर का कहना कि, "यह तो आत्माओं का सम्बन्ध है"—इसी जीवन-दृष्टि की ओर इगित करता है।

यशपाल प्रेम को शाश्वत न मानकर, जीवन जीने के लिए प्रेम की शाश्वत आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार "मानव-जीवन मे व्याप्त प्रेम की अनिवार्य आवश्यकता" शाश्वत है। विनी इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए फेंटम को अपनाती है। प्रेम के बिना वह जी नही सकती—शायद कोई भी नही जी सकता। यदि जियेगा तो निरुद्देश्य और मानव-जीवन निरुद्देश्य जीने के लिए नही है—ठीक वैसे ही, जैसे सावित्री नही जी सकती थी। सावित्री को, चाहे जैसे भी हो, सत्यवान पुनः मिला। सावित्री सत्यवान की मात्र स्मृति के बल पर नही जी सकती थी, पार्थिव आवश्यकता की पूर्ति के लिए सशरीर सत्यवान का आधार उसे चाहिए था। विनी यमराज से लड़कर अपने पति रोमी को तो सशरीर वापस नही ला सकी, ला भी नही सकती थी, पर रोमी के रूप मे फेटम को अवश्य अपनी पार्थिव आवश्यकता की पूर्ति का आधार स्वीकार किया। अधश्रद्ध और रूढ़ि-सकीर्ण व्यक्ति सावित्री को तो प्रेम का आदर्श स्वीकार करता है, पर विनी को हृदय की पूरी घृणा से देखता है। जीवन के इस ज्वलन्त प्रश्न को यशपाल ने समाज के सामने रखकर उसे स्वीकारने या नकारने की चुनौती दी है। आज के वैज्ञानिक युग मे अंधश्रद्धा या विवेकहीन अस्वीकृति के लिए कोई स्थान नही है। पुस्तक की भूमिका मे इसीलिए यशपाल ने परिवर्तित जीवन को प्राचीन दृष्टि से देखने वालो के सम्मुख विनयपूर्वक चुनौती रखी है—"पाठक विनी के व्यवहार को केवल सस्कारगत नैतिकता के विश्वास से ही नही, आधुनिक परिस्थिति-बोध से प्रेरित चिन्तन से भी देखने का यत्न करे।"[2]

जेनी और पामर, फेटम के साथ विनी के प्रेम-सम्बन्ध को निष्ठाहीन, अनैतिक

---

१. बाहर घण्टे, पृ० २६
२. बारह घण्टे, पृ० ३

तथा अनुचित बताते हैं। वे यह नही समझते कि, "निष्ठा शून्य से नही, पात्र से निबाही जाती है।" यदि रोमी, प्रत्येक दृष्टि से विनी का समानधर्मा था, जीवित होता और फिर भी विनी किसी अन्य के प्रति आकृष्ट होती, तो सभवतः यशपाल भी उस पर निष्ठा-हीनता का आरोप लगाते, पर विनी के पास तो निष्ठा-निर्वाह का कोई आधार ही नही है। आश्चर्य तो तब होता है जब जेनी, जिसकी निष्ठा का आधार (उसका पति) विद्यमान है, फिर भी लारेस के प्रति आकृष्ट है, विनी को निष्ठाहीन कहती है। वस्तुतः निष्ठाहीन, यदि कोई है तो, जेनी है। विनी ने तो मात्र निष्ठा का आधार ढूँढ़ा है। आधार के अभाव मे निष्ठा किस पर की जाय ? जेनी स्वतः चाहे जो कुछ करे, सबको निर्दोष और क्षम्य मानती है, पर विनी के अत्यन्त ईमानदार और स्वस्थ आचरण को अक्षम्य बताती है। जेनी के रूप मे लेखक ने वर्तमान भारतीय समाज की वास्तविक मनोदशा और अन्तर्विरोधात्मक आचार-सहिता का ही उद्घाटन किया है।

इसी सन्दर्भ मे यशपाल ने नैतिकता और औचित्य के प्रश्न पर भी विचार किया है। जेनी और पामर विनी के प्रेम को अनैतिक और अनुचित बताते हैं। यशपाल के रूप में लारेंस उनकी तत्सबधी प्राचीन मान्यताओ का खण्डन करता है। प्रेम मे जब स्वार्थ और धोखा हो, तब वह अनैतिक हो सकता है। विनी और फेटस का प्रेम 'परस्पर सहारे' के रूप मे है, "वह 'व्यथा मे व्यथा का स्पर्श' है, 'व्यथा को व्यथा का सहारा' है। स्वार्थ और धोखे के लिए उसमे अवसर कहाँ ? फिर वह अनैतिक कैसे ?"[१]

विनी का पत्र पाकर जेनी और पामर क्रोध के मारे उबल पडते हैं। पामर कह उठता है फेटम के घर विनी के रात रह जाने से, "लोग तो वही समझेंगे, जो ऐसी हालत मे समझा जाता है, जो 'नेचुरल' होता है, जो मर्द औरत मे आकर्षण से होता है, जिसे लोग स्वाभाविक समझते हैं।"[२] पामर का वक्तव्य कितना बेमानी और खोखला है ? वह समझ ही नही पाता कि वह क्या कह रहा है। एक तरफ तो विनी के इस व्यवहार को वह अनुचित कहता है और दूसरी ओर 'नेचुरल' और 'स्वाभाविक'। जो व्यवहार 'नेचुरल' और 'स्वाभाविक' होगा, वह अनुचित कैसे हो सकता है ? जैसे पामर का कथन अर्थहीन है, उसी तरह आज का पूंजीवादी भारतीय समाज अर्थहीन प्रलाप करता रहता है। यशपाल इस निरर्थक प्रलाप और तदनुरूप बेमानी आचरण को सामाजिक स्वास्थ्य मे लिए घातक मानते हैं।

वस्तुतः 'बारह घण्टे' का मुख्य उद्देश्य प्रेम-कहानी कहना नही, मौजूदा भारतीय समाज की प्रेम-सम्बन्धी निर्जीव धारणाओ का पर्दाफाश करना है। इसके माध्यम से

---

१. बारह घण्टे, पृ० ७४
२. बारह घण्टे, पृ० ६५

यशपाल जीवन और प्रेम-सम्बन्ध को तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का परामर्श देते हैं, जिससे सन्तुलित और स्वस्थ सामाजिकता की स्थापना हो सके।

(झ) 'अप्सरा का श्राप'

'अप्सरा का श्राप' उपन्यास मे यशपाल ने केवल एक प्रश्न को अपने चिन्तन का केन्द्रविन्दु वनाया है, वह प्रश्न है पुरुप-सत्ताक समाज में युग-युग से नारी के निर्दय शोषण का। "........पुरुप ने स्वार्थ के प्रमाद मे नारी को अपने निरकुश भोग की वस्तु वना लेने के लिए, उसे अपनी पशु-सम्पत्ति के समान स्वत्त्वहीन बना दिया है। पुरुष ने नारी को स्ववश रखने के प्रयोजन से उसके नारीत्व और व्यक्तित्व को पातिव्रत की धारणाओं से बाँधकर उसे पत्नी-मात्र बना लिया है। पति-पुरुष ने पति-पत्नी के सम्वन्ध मे एक-निष्ठता का धर्म केवल पत्नी पर आरोपित करके, स्वयं स्वामी वन, पत्नी को अधीन वना लिया है।"[1] मेनका का यह कथन स्वतः यशपाल का ही कथन है। मार्क्सवादी होने के कारण यशपाल स्वस्थ सामाजिकता की स्थापना चाहते हैं और यह तव तक सम्भव नही, जब तक समाज मे चलने वाला शोषण पूर्णतः समाप्त न हो जाये। समाजवादी लेखक शोषण की उपेक्षा किसी भी तरह नही कर सकता। शोषण जहाँ उग्रतम रूप में होगा, मार्क्सवादी कलाकार की दृष्टि सवसे पहले वही जा अटकेगी। भारतीय समाज में नारी का शोषण सदा से होता आ रहा है, कम-वेश आज भी हो रहा है; इसलिए यशपाल वार-वार इस प्रश्न पर विचार करते हैं। प्रायः अपने सभी उपन्यासों मे यशपाल ने इस प्रश्न पर विचार किया है, पर फिर भी इस पर विस्तृत रूप से विचार करने की आवश्यकता सम्भवतः उन्हे अनुभव होती रही, जिसका परिणाम है 'अप्सरा का श्राप'।

दुष्यन्त मिथ्या आश्वासन और छद्म-वचनों के द्वारा शकुन्तला का भोग कर लेने पर उसे अपनी परिणीता स्वीकारने से इन्कार कर देता है। इतना ही नही, वह उसे कुलटा और स्वैरिणी तक कह डालता है, पर शकुन्तला, जिसकी शिरा-धमनियों में पुरुप-प्रधान भारतीय समाज ने पातिव्रत का अनर्थकारी रसायन घोल दिया है, अपने व्रत से चिपकी रहती है। यह शकुन्तला पर पातिव्रत-रसायन का ही प्रभाव है कि वह दुष्यन्त के छल, कपट और स्वार्थ का भण्डा फूट जाने पर भी उसे अपना पति मानकर उसकी अधीनता सहर्ष स्वीकार करती है। मेनका उसे अनेक प्रकार से समझाती है, वह उसे वताती है कि नारी मानव पहले है और पतिव्रता वाद मे। "आत्मरक्षा, आत्मनिर्भरता, आत्म-सम्मान मानव-धर्म हैं। नारी भी मानव है; इसीलिए ये धर्म उसके भी हैं। "व्रत तथा

---

१. अप्सरा का श्राप, पृ० १०७

धर्म का प्रयोजन आत्मोत्थान है, आत्म-हनन नही।"[1] पर जब शकुन्तला उससे यह कह कर कि "माता ! पतिव्रता नारी, व्यक्ति अथवा मानव नहीं, पतिव्रता मात्र होती है।"[2] उसकी बात अनसुनी कर देती है तो वह क्रोध के मारे झुंझलाहट-भरी स्वीकृति—'एवमस्तु'—देकर चली जाती है। मेनका का क्रोधपूर्ण 'एवमस्तु' पुस्तक में शकुन्तला पर तो कोई प्रभाव डालता नही दिखाई पड़ता, पर पाठक पर उसका पूरा प्रभाव पडता है, पाठक तिलमिलाहट अनुभव करता है, पाठक-नारी सम्भवतः अधिक तिलमिलाहट अनुभव करती है और शकुन्तला की स्थिति से अपने को उबारने की भीतर-ही-भीतर पूरी तैयारी कर लेती है। 'अप्सरा का श्राप' के लेखक का नारी के हृदय मे तिलमिलाहट की अनुभूति जगाना ही उद्देश्य है।

दूसरी ओर छली, व्यसनी और प्रवचक दुष्यन्त के आचरण के प्रति आक्रोश जगाना भी लेखक का लक्ष्य है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मे अपने युग की साहित्यिक मान्यताओ के अनुसार कुछ ऐसी अलौकिक घटनाओ की योजना की है, जिससे प्रवचक, भोगी दुष्यन्त पाठक की दृष्टि मे निर्दोष बना रहता है। दुर्वासा के श्राप और अँगूठी खो जाने की घटना की अवतारणा करके कालिदास ने दुष्यन्त को पाठक के आक्रोश और घृणा से बचा लिया है; पर आधुनिक वैज्ञानिक युग के लेखक यशपाल उन अलौकिक प्रसगो की आयोजना कर नही सकते थे। आज का वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न पाठक और लेखक प्रत्येक घटना के पीछे कार्य-कारण शृखला देखना चाहता है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के व्यवहार के पीछे यशपाल ने ऐसे ही कारण की सम्भाव्य कल्पना की है, जिसके आधार पर दुष्यन्त अत्यन्त लम्पट, कामी, भोगी, स्वार्थी और प्रवचक सिद्ध होता है और इसीलिए पाठक की गहरी घृणा और उग्र आक्रोश का लक्ष्य भी बनता है। पुरुष की परम्परागत भोगमूलक, शोषक और स्वार्थी प्रवृत्ति को अनावृत्त कर उस पर पाठक का क्रोध और आक्रोश जगाना ही यशपाल का 'अप्सरा का श्राप' में प्रमुख लक्ष्य रहा है, जिसमे वे पूर्णतः सफल हुए हैं।

३. यशपाल के उपन्यासों में जीवन-दर्शन संबंधी मूलभूत प्रश्न और उनके समाधान

(क) भौतिकवादी मान्यताएँ

यशपाल अपने निबन्धो मे ही नही, उपन्यासो मे भी मार्क्सवाद की व्यंजना करते हैं। उन्होंने जीवन-दर्शन के रूप में मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को

१. अप्सरा का श्राप, पृ० १२८   २. अप्सरा का श्राप, पृ० १२८

स्वीकार किया है। मार्क्सवादी विचार-दर्शन और उसकी मान्यताओ मे यशपाल का अटूट विश्वास है। पात्रो का व्यक्तित्व और घटनाओ का विश्लेषण भी इस वात को स्पष्ट करता है कि वे मार्क्सवादी दर्शन को पूर्णतः स्वीकार करके चलते हैं। यह दूसरी वात है कि उसकी अभिव्यक्ति मे यशपाल का उपन्यासकार शत-प्रतिशत सफल न हो पाया हो (जैसा कि डॉ० रामविलास शर्मा कहते है)।

ईमानदार मार्क्सवादियो की तरह यशपाल सच्चे भौतिकवादी है। वह इसी जीवन और जगत् को सत्य मानते हैं। प्रत्यक्ष जीवन और वर्तमान संसार मे उनका पूर्ण विश्वास है। मारिश के शव्दो मे, "यह जीवन ही सत्य है, यह ससार ही सत्य है। जो पाना है, इसी जीवन मे पाओ।"[1] यशपाल मानव-विचारो को स्वतंत्र सत्ता के रूप मे अस्वीकार करते हैं। वे जीवन और विचार दोनो का अभिन्न सम्वन्ध मानते हैं। उनका कथन है—"जीवन के विना विचारों की कल्पना करना सभव नही, इसलिए जीवन से स्वतत्र सत्ता की वात करना भी युक्ति-सगत नही जान पड़ता।......आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार जिस समाज का जीवन जिस ढग का होता हैं, उस समाज के विचार भी उसी ढग के होते है। अतः यह मानना पडेगा कि विचारो की सत्ता ठीक वैसी ही चीज है, जैसे कटी डोर की पतग। विचारो की सत्ता पूर्णतः जीवन से तभी स्वतत्र हो सकती है जव विचारों का जीवन से कोई सम्पर्क न रह जाने पर भी विचारो की सत्ता वनी रहे। ऐसी आदर्शवादी विचारधारा जीवन की वास्तविकताओ की उपेक्षा करके जहाँ चाहे उड़ा करती है और स्वयं जीवन को ही मिथ्या वताकर जीवन की वास्तविकता का निरादर करना चाहती है।"[2] अत. यशपाल मार्क्स की तरह विचारो को जीवन की सृष्टि एव आर्थिक परिस्थितियो का परिणाम मानते है। रूमानी कल्पना, आकाशी चिन्तन और हवाई आदर्शो से विचारो का वह कुछ भी सम्वन्ध नही मानते। यशपाल मार्क्सवाद की तरह शाश्वत आदर्शों के विरुद्ध गत्यात्मक एव परिवर्तनशील विचारो का समर्थन करते हैं। "समाज की विचारधारा का ऐसा कोई स्रोत नही जिस पर मनुष्य-समाज का प्रभाव और नियंत्रण न हो। मनुष्य को इस वात की स्वतंत्रता है कि वह अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समाज के कल्याण के लिए अपनी विचारधारा को ढलने दे।"[3] इस प्रकार यशपाल परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप नये सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करते हैं। उन्होंने शाश्वत आदर्शों और

---

१. दिव्या, पृ० १४०

२. श्रीयशपाल अभिनदन ग्रथ ; 'यशपाल की मान्यताएँ'—वासुदेवनन्द प्रसाद, पृ० १३८

३. वही, पृ० १३९

विचारो का खण्डन करते हुए लिखा है, "शाश्वत आदर्शों और विचारों की स्वतंत्र सत्ता की कल्पना जनता और मानव-समाज से आत्म-निर्णय का अधिकार छीन कर उन्हे पशु बना देने का सबसे सफल साधन रही है। शोषक वर्ग आज भी उस साधन को छोड देने के लिए तैयार नही है।"[1]

भौतिकवादियो की तरह यशपाल भी गति को भूत का धर्म मानते हैं। अतएव समाज मे उन्हे सर्वत्र परिवर्तन लक्षित होता है। परिवर्तन समाज के विकास की आवश्यक शर्त है। संसार मे सभी पदार्थ गतिमान है। "......गति का अर्थ है, एक समय और स्थान से दूसरे समय और स्थान मे प्रवेश करना, अर्थात् परिवर्तन। यह परिवर्तन ही गति है, गति ही जीवन है। अमरता का अर्थ है—अपरिवर्तन, गति-हीनता।"[2] इस प्रकार यशपाल जीवन के लिए, समाज के लिए परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। मारिश इस परिवर्तन मे सुख और आकर्षण का अनुभव करता है। रत्नप्रभा के यह कहने पर कि इस नश्वर शरीर द्वारा प्राप्त सुख भी नश्वर और अस्थायी है, वह इसका प्रतिकार करते हुए कहता है, "हम जितने पदार्थ अपने चारों ओर देखते हैं, उनमे से कोई भी सदा एकरूप, एकरस, एकगंध नही रहता। जिसे हम नाश कहते हैं, वह केवल परिवर्तन है। अमरता का अर्थ है अपरिवर्तन। यदि संसार मे कोई परिवर्तन न हो तो उस ससार मे क्या सुख और आकर्षण होगा।"[3]

सामाजिक मान्यताओ, विविध सामाजिक सम्बन्धों एवं पात्रो के वैयक्तिक विकास मे इस प्रकार का परिवर्तन यशपाल के उपन्यासों मे प्रायः मिलता है। बौद्धकालीन उपन्यास 'दिव्या' मे धर्मास्थान से पृथुसेन के पक्ष में दिया गया निर्णय निश्चित रूप से ब्राह्मणो के एकाधिकार की परम्परा को चुनौती है। अतएव परिवर्तन का बीज लिये है; भले ही इसके मूल मे प्रेस्थ का दासत्व-मुक्त होना, पृथुसेन का गण-परिषद् द्वारा सम्मानित होना कार्य करता है। पर धर्मस्थ की यह घोषणा, "धर्मास्थान कोई स्वयंभू और स्वतत्र वस्तु नही है। वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है। न्याय व्यवस्थापक के अधीन है।"[4] निश्चित रूप से परिवर्तन की स्वीकृति है। पृथुसेन जो एक दिन दिव्या के आत्म-समर्पण से धन्य हो उठा था, महासामन्त बनने के लोभ मे सीरो के प्रति प्रेमाभिनय मे दिव्या को ठुकरा देता है। ब्राह्मण-परिवार में पली दिव्या क्रीतदासी और अत मे स्वतंत्र नर्तकी वेश्या अंशुमाला के रूप में

१. यशपाल : देखा, सोचा, समझा ; पृ० १०३
२. यशपाल : दिव्या, पृ० १५६
३. दिव्या, पृ० १४०
४. दिव्या, पृ० २६

चित्रित हुई है। पात्रों के विकास में इस प्रकार का परिवर्तन अन्य उपन्यासो में भी देखा जाता है। 'दादा कामरेड' की शैलवाला का नित्य परिवर्तित रूप, भले ही वह कामजन्य हो, अंत मे परम्परागत आदर्शों को तोडकर क्रांतिकारी भौतिकवादी स्थापना के रूप में व्यक्त होता है, जब शैलवाला अपने गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए समाज की अवहेलना करके दादा के साथ घर छोड़कर चली जाती है। (जन्म से ही) क्रांतिकारी दादा भी अत में कम्युनिस्ट दादा मे परिवर्तित हो जाते है। 'मनुष्य के रूप' मे सोमा के वदलते हुए रूप से कौन अपरिचित होगा? सोमा, जो एक दिन धनसिह के लिए प्राण दे रही थी, अंत में भूषण और धनसिह को देखकर उपेक्षा कर जाती है। अपने रक्षक भूषण को मरणासन्न देखकर वह जरा भी नही पसीजती। जिस पति से तलाक पाकर मनोरमा प्रसन्न होती है, उसी से विवाह रचाने के लिए सोमा व्याकुल हो उठती है। 'देशद्रोही' की राज मे भी इसी प्रकार का परिवर्तन लक्षित होता है। जिस राज के सम्बन्ध में डॉ० खन्ना सोचता है, "यदि किसी भी प्रकार का कोई भी समाचार राज तक पहुँचे ही न तो बेचारी अनन्त प्रतीक्षा मे आँखे खोले बैठी रहेगी।"[1] वही पतिप्राणा राज अत मे मरणासन्न डॉक्टर को देखने के लिए दीवार के बाहर नही आती। वदलते हुए पारिवारिक प्रेम की ओर भी यशपाल ने सकेत किया है। भाई से रिहाई के लिए पैसा न पाने पर भाई का स्नेह भी खन्ना को फरेव लगता है। वह सोचता है, "जब भाई को भाई से सहायता मिलने की आशा नही, वल्कि हानि की ही आशा है तो फिर प्रेम और आकर्षण कैसा?"[2] 'झूठा सच' का पुरी सूद की कृपा पाकर आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाने पर कितना बदल जाता है, उसकी कल्पना भी नही की जा सकती। अपनी वहन तारा के ही नही, अपने शुभेच्छु डॉ० प्राण के विरुद्ध भी वह जहर उगलने से वाज नही आता। वस्तुतः इन पात्रो के परिवर्तन मे सामाजिक सम्वन्धो के उलट-फेर मे मूलतः अर्थ कार्य करता है। आर्थिक परिस्थितियो मे परिवर्तन आने पर सामाजिक परिवर्तन अनिवार्य हो उठते हैं।

यशपाल ने अपनी भौतिकवादी मान्यताओं को प्रस्तुत करने के लिए अन्य राजनीतिक विचारधाराओ को भी स्थान दिया है। ऐसा करने वाले उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अन्य विरोधी विचारधाराओ के सैद्धातिक पक्षो का यथार्थ-अंकन करे, केवल उनके व्यावहारिक पक्ष की खामियो का प्रदर्शन ही नही। "यशपाल के उपन्यासों में यह कमियाँ अर्थात् प्रचारात्मक स्वरूप कही नहीं मिलेगा। वह अपने विचारो के प्रति आस्थावान रहते हुए भी अन्य विचारधाराओ के प्रति कही भी

---

१. देशद्रोही, पृ० १८
२. देशद्रोही, पृ० ५४

संकीर्ण नही दिखाई पड़ते। यह उनकी प्रमुख विशेषता है। उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओ एवं राजनीतिक पात्रों के प्रति तटस्थता अपनाई है।"[1] परन्तु गहराई से देखने पर यशपाल के उपन्यासो में लेखक का मार्क्सवादी पूर्वाग्रह किसी-न-किसी रूप में अवश्य व्यक्त हुआ है। वह अपनी भौतिकवादी विचारधारा को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अन्य विरोधी विचारधाराओ पर कीचड उछालने से नही चूके है। इन विरोधी विचार-धाराओं को सदोष सिद्ध करने के लिए तथा अपने भौतिकवादी विचार-दर्शन की महत्ता प्रमाणित करने के लिए कही-कही यशपाल ने घटनाओ को अप्रत्याशित मोड़ दिया है। प्राय: उनके अधिकाश उपन्यासो मे उनका एक प्रमुख प्रवक्ता रहता है जो अवसर पाकर उपन्यासकार की भौतिकवादी मान्यताओ की व्याख्या प्रस्तुत करने लगना है। 'दादा कामरेड' का समस्त घटना-चक्र, लगता है, जैसे क्रातिकारी दादा को महान् कम्युनिस्ट बनाने के लिए तथा समाज की समस्त आदर्शवादी मान्यताओं का खण्डन कर शैलबाला के द्वारा प्रदर्शित व्यवहारो मे भौतिकवादी मान्यताओं की घोषणा का प्रयास है। न्याया-धीश के सामने हरीश का वर्तमान न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध मे दिया गया वक्तव्य भी लेखक की अपनी विचारधारा को प्रकट करने का आग्रह है। 'देशद्रोही' मे डॉ० खन्ना को अपनी विचारधारा का प्रतिपादक और महान् चरित्र बनाने के हेतु लेखक अत्यन्त कर्मठ पात्र सोशलिस्ट शिवनाथ को हठात् पर्दे के पीछे ढकेल देता है। कांग्रेस के सम्बन्ध मे यशपाल का सर्वविदित रुख सर्वत्र एक-सा ही है, चाहे 'देशद्रोही' के बद्रीबाबू का चरित्रां-कन हो, चाहे 'झूठा सच' के सूद, पुरी एवं अन्यान्य काग्रेसजनो का। ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' मे मारिश लेखक की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। मारिश के अभाव मे जैसे लेखक की भौतिकवादी मान्यताएँ पगु हो जाती हैं। अतएव जहाँ भी भौतिकवादी मान्यताओ का प्रश्न उठता है, मारिश की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। 'बारह घण्टे' मे डी-वाई० एस० पी० लारेस, जेनी और पामर के रूढिवादीपरम्परागतआदर्शो को प्रस्तुत करने वाले तर्कों को खडित कर विनी के जीवन में आये अप्रत्याशित मोड का भौतिकवादी आधारो पर समर्थन करता है। 'अप्सरा का शाप' मे मेनका जैसे सामन्तकालीन राजनीतिक व्यवस्था को अनुचित, अग्राह्य सिद्ध करने एवं नारी परतत्रता के मूल कारण को ध्वस्त करने के लिए ही चित्रित की गई है। उसके माध्यम से लेखक ने भौतिकवादी धारणाओ के अनुकूल स्वतंत्र आत्म-निर्भर नारी की कल्पना की है। अपने वृहत् उपन्यास 'झूठा सच' मे यद्यपि लेखक व्यापक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि अपना कर विविध घटनाओ का सृजन करता है, फिर भी कम्युनिस्टो के ससर्ग में आते ही वह अपने निष्पक्ष, सर्वा गीण दृष्टि-

---

१. डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास—समाजशास्त्रीय अध्ययन, पृ० ३४७

कोण से हटने लगता है। चड्ढा, गिल, मर्सी, कौल सबके सामने पहुँच कर वह एकमात्र कम्युनिस्ट और विशुद्ध भौतिकवादी रह जाता है।

(ख) अर्थतंत्र : उत्पादन के साधन और वितरण की व्यवस्था

अर्थ समाज की मूलभूत शक्ति है, जीवन का आधारभूत स्तम्भ है। अर्थतंत्र ही सामाजिक जीवन को निरन्तर परिचालित किये रहता है। अर्थतंत्र के अन्तर्गत उत्पादन के साधन तथा वितरण की व्यवस्था आती है। उत्पादन के साधन पर अधिकार रखने वाले लोग समाज के इतर वर्गों एव उनकी समस्याओ को अपने अनुरूप बनाकर नियन्त्रित करते हैं। अतः जब उत्पादन के साधन मुट्ठी-भर लोगों के अधिकार मे आ जाते हैं, तो समाज शोषक और शोषित दो वर्गों में बँट जाता है। शोषक वर्ग निरन्तर साधनहीन, गरीब मजदूर-किसानो के श्रम का उपयोग करता है। वह उतरोत्तर उन मदूजरो के उत्पादन से मोटा होता रहता है। 'देशद्रोही' मे करीम डॉ० खन्ना की ओर इगित करते हुए भारतवर्ष और वहाँ की शोषणमूलक समाज-व्यवस्था पर व्यग्य करता है—"काफिरो के मुल्क मे शैतान का राज्य है। वहाँ दो तरह के आदमी हैं—एक काम करने वाले, दूसरे खाने वाले। मेहनत करने वाले खूब मेहनत करते हैं और कमा कर आराम से रहने वालो को देते हैं। सब रुपया आराम करने वाले रखते हैं। मेहनत करने वालो को थोड़ा-थोडा खाने को देते हैं कि वह मोटे होकर काम करना बद न कर दे।"[1] इस तरह समाज का शोषक वर्ग निरन्तर मजदूरो के शोषण पर पला करता है और उन्ही को अशक्त करने की चेष्टा मे रत रहता है। समाज का यह शोषक वर्ग सामाजिक अर्थतत्र को अपने अन्तर्गत रखने के कारण समाज की हर सुविधा का हकदार होता है। समाज की हर व्यवस्था को अपने शोषण के साधन-रूप मे क्रियान्वित करता है। न्याय-व्यवस्था हो अथवा सामाजिक मान्यताओ का प्रश्न हो, यह सब उसके स्वार्थ को पूरा करने के लिए अपना अस्तित्व रखते हैं। यह शोषक श्रेणी यदि कलाकार का भी सम्मान करती है, साहित्य की भी आराधना करती है तो केवल इस दृष्टि से कि साहित्यकार अपनी साहित्यिक कृतियो में उसके दृष्टिकोण को चरितार्थ करे, उसकी मान्यताओ को प्रतिफलित करे। 'झूठा सच' मे जयदेव पुरी-जैसे कलाकार की खोज हर पत्र के कार्यालय से होती है। उसकी कहानियों, भावपूर्ण गद्यो और हास्य रस के लेखो के लिए लोग उससे निरन्तर अनुरोध करते, परन्तु इस अनुरोध मे कोई भूलकर भी उसकी कहानियो के पारिश्रमिक की चर्चा नही करता, "मानो वे कला की चर्चा मे कुछ रुपयो की बात लाकर महान् कलाकार का अपमान न करना चाहते हो। परन्तु पुरी

---

१. देशद्रोही, पृ० २२

को अपने परिवार की आवश्यकता के लिए न कमा पाने के अपमान की वेदना बींधे दे रही थी।"[1] पुरी अच्छा लिखता था, उसमे साहित्यिक प्रतिभा थी, परन्तु वह अपनी कृतियो को प्रकाशित नही करा सकता था। अतएव उसकी कृतियों का मूल्य प्रेस के मालिकों, पत्रों के सम्पादको की दया पर निर्भर था। आखिर वह शोषित जो ठहरा! वर्तमान न्याय-व्यवस्था पर प्रहार करते हुए 'दादा कामरेड' मे हरीश ने उसे पूँजीपतियो के स्वार्थों के लिए निर्मित बताया है। उस व्यवस्था से, जो मालिको के स्वार्थों की पूर्ति का साधन है, न्याय की आशा कैसे की जा सकती है? इसीलिए हरीश न्यायाधीशो के सामने अपने को निर्दोष सिद्ध कर न्याय की याचना नही करता, वरन् न्याय की पूँजीवादी धारणा पर प्रहार करता है और शोषण के विनाश के लिए अततः फाँसी के तख्ते पर झूल जाता है।

मार्क्सवादी यशपाल समाज की अर्थ-व्यवस्था पर किसी एक वर्ग के अधिकार को अनुचित एव अन्यायपूर्ण मानते है। वह उसका विरोध करते है। जीवन-निर्वाह के समुचित साधनो पर सबके अधिकार को स्वीकार करते हैं—"जीवन-निर्वाह के साधनो पर हमारा अधिकार हो। अपनी शक्ति के उपभोग और विकास का हमे अवसर हो।"[2] पूँजीपति, जो मजदूरो के श्रम का अनुचित लाभ उठाकर लाखो-करोडो के मालिक बन बैठते हैं, यशपाल उन्हे डकैत कहते हैं—"यह मिले तुम्हारे और तुम्हारे भाइयो की मेहनत से खडी की गई है।"[3] "मजदूरो की मेहनत की कमाई को जब आप पूँजीपतियो के कब्जे मे देखते है तो इसे क्योकर डकैती नही समझते।"[4] सामाजिक अन्याय और आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए यशपाल ने वर्ग-सघर्ष का समर्थन किया है। वह मानते हैं, "वास्तव मे यह झगडा श्रेणियो का है।...भद्रश्रेणी के सम्पन्न गमलो में सजा हुआ सहृदयता से महकता हुआ यह समाज अपने आप मे चाहे कितना संतुष्ट हो, परन्तु समाज के लिए तो यह अन्याय है।"[5] आर्थिक विषमता को दूर कर नये समाज की रचना के लिए वह क्रांति को श्रेयस्कर मानते हैं। क्राति के सबध मे उनकी धारणा है—"क्रांति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार मे सशस्त्र संघर्ष ही नही है, हमारी क्राति का लक्ष्य एक नवीन, न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है। इस क्राति का उद्देश्य पूँजीवाद को समाप्त कर श्रेणीहीन समाज की स्थापना करना,

---

१. 'झूठा सच'; भाग १ : वतन और देश, पृ० ३६
२. दादा कामरेड, पृ० ६६
३. दादा कामरेड, पृ० ७०
४. दादा कामरेड, पृ० ७३
५. देशद्रोही, पृ० ८८

विदेशी और देशी शोषण से जनता को मुक्त कर आत्म-निर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषको के हाथ से शासन-शक्ति लेकर मजदूर श्रेणी के शासन की स्थापना करना है।

समाज की प्रत्येक समस्या के मूल मे आर्थिक विषमता पाई जाती है। आर्थिक परतन्त्रता के कारण ही समाज में नारी मात्र भोग्या के रूप में स्वीकार की गई है, जैसे उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व ही न हो। वह पुरुषो के भोग के लिए उत्पन्न की गई एक वस्तु-मात्र है, जिसका स्वामित्व पुरुष के कठोर पंजो मे है। अमरनाथ अपनी पत्नी यशोदा को बडी बेफिक्री के साथ फटकारते हैं—"अगर इस घर में रहना है तो जैसे मैं कहूँगा वैसे ही रहना होगा।"[1] तात्पर्य यह कि नारी पुरुष से प्राप्त आर्थिक आश्रय के मूल्य मे अपनी स्वतन्त्र चेतना का गला घोटकर अपने सर्वस्व को पुरुष के चरणों पर न्योछावर कर देती है। 'देशद्रोही' में राज आरंभ मे घर में केवल इसीलिए सम्मानित होती है क्योंकि उसके पति डॉ० खन्ना को ऊँची नौकरी मिल गई है। परन्तु विधवा हो जाने पर वही कुलक्षणा वधू बन जाती है। वह अपनी इच्छा से अपनी बहन चंदा के साथ मसूरी भी नही जा सकती। राजाराम भी अपनी पत्नी चंदा पर अविश्वास करते है, उसे यातना देते हैं क्योंकि उसका आचरण उनकी पसन्द के अनुकूल नही है। आखिर, नारी के प्रति पुरुष-वर्ग का इतना शोषण क्यो ? ऐसा अत्याचार क्यो ? क्योंकि उसके पास अपने जीवन के साधन जुटाने का स्वतन्त्र अवसर और अधिकार नही है। इसीलिए उसकी स्वतन्त्रता, प्रेम और आचार सब पुरुष का खिलौना है। नारी दिव्या के रूप मे क्रय-विक्रय की सामग्री भी बन जाती है। उसे दास व्यापारी श्रेष्ठी प्रतूल बीस स्वर्ण-मुद्रा मे मथुरा के दास-व्यवसायी भूधर के हाथो बेच सकता है। भूधर से पुरोहित चक्रधर अपनी संतान को स्तन-पान कराने के लिए पचास स्वर्ण-मुद्रा मे उसे खरीद लेता है। गाय की तरह दिव्या बाध्य होकर अपने शाकुल को स्तन पान न कराकर अपने स्वामी की संतान को स्तन-पान कराती है और उल्टे फटकार भी सुनती है। नारी का इतना भयंकर शोषण क्या पुरुष-वर्ग के आर्थिक साधनों पर एकाधिकार के कारण नही है ? क्या सामन्ती-युग का राजा अपने काल का सर्वश्रेष्ठ शोषक होने के नाते अभुक्त कामिनियो के भोग के लिए लालायित नही रहता था ? दुष्यन्त के सम्बन्ध मे अनुसूया ने गौतमी से कहा, "क्षत्रिय राजा तो नये देशों और अभुक्त-कामिनियो की विजय तथा आखेट को ही विनोद और पुरुषार्थ समझते हैं।"[2]

---

१. दादा कामरेड, पृ० १२४

२. अप्सरा का शाप, पृ० ७३

वर्तमान अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन के साधनो तथा वितरण पर प्रभुतासम्पन्न शोषक-वर्ग का एकाधिपत्य होने के कारण उत्पादन मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाले मजदूरो का स्थान नगण्य हो चला है। जिन श्रमिकों के अभाव मे उत्पादन की समस्त प्रक्रिया ठप्प हो सकती है, उन्ही मजदूरो को कम-से-कम वेतन देकर उनके द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य को हथिया लेना पूंजीपतियो का लक्ष्य हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मजदूर-वर्ग निरन्तर मिटता चला जा रहा है, फिर भी वह अपने शोषको के लिए उत्पादन-व्यवस्था की खाद तैयार करता है। समाज की वर्तमान विषम व्यवस्था के सम्बन्ध मे यशपाल का कथन है—"पूंजीवादी पद्धति मे धनिको की व्यवस्था ऊँचे फलदार वृक्षो की भाँति होती है। चोटी पर सुशोभित होने वाले फल, फूल और मनोरम पल्लवो के नीचे शाखाएँ, तने और फिर जडे होती है। फल, फूल और पत्ते धन को बैंकों में सचित रखने वाले साहूकार हैं जो किसी भी उद्योग-धन्धे को सफल या असफल कर देने की सामर्थ्य रखते है। वे किसी उपयोगी पदार्थ को पैदा करने के लिए हाथ-पैर नही हिलाते। वे केवल अकों द्वारा समाज के धन का नियत्रण करते हैं। ······पृथ्वी के भीतर अधकार मे दबी जडे है जो मिट्टी और गिलाजत में दबी रहकर रस तैयार करती है। स्वयं जडो के पास कुछ नही रह पाता।"[1] मजदूर-वर्ग ही समाज की वे जडे हैं जिनके ऊपर शोषक पूंजीपतियो का यह फूलदार वृक्ष टिका है। इन्ही मजदूरो के शोषण का अंत उपन्यासकार का लक्ष्य है। यशपाल के कम्युनिस्ट पात्र जहाँ कही भी अवसर पाते है, इस शोषण की भर्त्सना करते हैं, इसको ध्वस्त करने की योजना भी बनाते हैं। 'दादा कामरेड' का हरीश, 'देशद्रोही' का शिवनाथ, 'मनुष्य के रूप' का भूषण, 'झूठा सच' के गिल और चड्ढा प्रायः आर्थिक शोषण के सम्बन्ध मे चर्चा करते है, उसे मिटाने की योजना भी बनाते है। इसके लिए इन पात्रो ने कही-कही पर मजदूरो की क्रांति का भी आश्रय लिया है। 'दिव्या' का मारिश नारी के शोषण का कट्टर विरोधी है। दिव्या को समान अनुभूतियो के आधार पर स्वीकार करने के लिए अपनी बाँहो को बढा कर जैसे उसने नारी-शोषण को समाप्त करने की ठान ली है। वह नारी को मात्र भोग्या के आसन पर न बैठा कर जीवन मे सहचरी के रूप मे स्वीकार करता है।

मजदूर-वर्ग अपने मालिको के शोषण से निरन्तर असन्तोष और अभावो की आग में जलता रहता है। एक-न-एक दिन उसकी जलन उग्र रूप धारण कर शोषक वर्ग को पूर्णतया भस्म कर देने के लिए आगे बढ़ जाती है। हडताल आदि आन्दोलनो में

१. देशद्रोही, पृ० १४८

मजदूरों का यह उग्र रूप घटनाओं के रूप मे दिखाई पड़ता है। 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' दोनो की प्रमुख घटनाएँ मिल-मालिकों के विरुद्ध मजदूरो की हड़ताल से सम्बद्ध है। इन उपन्यासों मे घटनाओं का विवेचन भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया गया है। लगता है यशपाल मार्क्सवादी क्रान्ति को भारत मे भी ज्यो-का-त्यों स्वीकार कर लेना चाहते है। यही कारण है कि वह क्रान्ति की कल्पना केवल मजदूरों के बीच ही कर पाते हैं, अन्यथा उन्होंने शोषित किसानो को भी अवश्य देखा होता, उनकी पीडा को भी क्राति मे बदलने का प्रयास करते। परन्तु मार्क्सवाद के जन्मदाता मार्क्स ने क्रांति का सक्षम नेतृत्व मजदूरों में ही माना है। यशपाल उनके सिद्धान्त को अक्षरशः स्वीकार करते हैं। परन्तु 'झूठा सच' मे यशपाल का क्रांति के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण कुछ बदला हुआ दृष्टिगोचर होता है। यहाँ उन्हे क्रान्ति के जनतान्त्रिक तरीको पर भी कुछ विश्वास होने लगता है। अतएव जनता की शक्ति पर भरोसा करते हैं और जनतंत्रात्मक पद्धति के सहारे सामाजिक क्राति, जिसके अन्तर्गत आर्थिक विषमता अपने-आप समाप्त हो जायेगी, मे विश्वास प्रकट करते हैं। 'झूठा सच' के अन्त मे कम्युनिस्ट गिल से सूद की हार का समाचार सुनकर डॉ० प्राण गंभीर स्वर मे कह उठते हैं—"गिल, अब तो विश्वास करोगे जनता निर्जीव नही है, जनता सदा मूक भी नही रहती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी मे नहीं है, देश की जनता के हाथ मे है।"[1]

(ग) नर-नारी सम्बन्ध (सेक्स, आकर्षण, प्रेम, विवाह आदि सन्दर्भो में)

यशपाल हिन्दी के विद्रोही कलाकार है। वर्तमान सामाजिक ढांचे के प्रति उनके मन मे गहरा विद्रोह है। यशपाल के उपन्यासों में परम्परागत जीवन-मान्यताओ का खण्डन एव नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास है। नारी और पुरुष, प्रेम और विवाह, धर्म और ईश्वर आदि समस्त सामाजिक प्रश्नों को उपन्यासकार यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है।

जीवन के दो पक्ष है, व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत जीवन में अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता हुआ मानव निजी विकास और सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है। सामाजिक जीवन मे वह अपने जीवन को समाज की गतिविधियो के अनुकूल बनाकर सामाजिक विकास मे अपना सहयोग देता है। मार्क्सवादी यशपाल के उपन्यासों मे जीवन के दोनो पक्षों का उद्घाटन हुआ है, पर उनमे चित्रित व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही आया है, क्योकि समाज के अभाव मे व्यक्ति

---

१. झूठा सच : भाग २ : देश का भविष्य, पृ० ७०६

का अस्तित्व असम्भव है। नारी और पुरुष जीवन-रथ के दो पहिये हैं। इन्ही दोनो के सहारे जीवन अपने विविध पक्षों के साथ निरन्तर आगे बढता रहता है। नारी और पुरुष सामाजिक जीवन में अनेक सम्बन्धों से जुडे हुए हैं। इन सम्बन्धो में काम-सम्बन्ध सबसे प्रधान है। नारी और पुरुष दोनो में परस्पर आकर्षण और प्रेम सहज है। इसी लिए यशपाल के उपन्यासों मे जहाँ भी दो समवयस्क नर-नारी उपस्थित होते हैं, उनमे आकर्षण का अकुर उगने लगता है और वही आकर्षण, प्रेम और अन्त मे तृप्ति की कामना एव उसकी पूर्ति मे बदल जाता है। कही-कही पर यह आकर्षण विशेष राजनीतिक कारणो से प्रेम का रूप धारण नही कर पाता, पर आकर्षण सर्वत्र विद्यमान है। वह काम-प्रेरित है—इसको यशपाल मानते हैं। यह आकर्षण 'दादा कमरेड' के शैल-हरीश अथवा शैल-राबर्ट मे हो सकता है; राबर्ट और फ्लोरा मे भी सम्भव है। 'मनुष्य के रूप' मे यही आकर्षण यदि एक ओर मनोरमा और कामरेड भूषण मे दिखाई पडता है तो दूसरी ओर धर्नासिह और सोमा में, अथवा जगदीश सरोला और सोमा मे भी। 'देशद्रोही' मे बद्रीबाबू और राज, चन्दा और डॉ० खन्ना तथा यमुना और सुजान इसी आकर्षण से प्रेरित होकर एक-दूसरे के प्रति अनुरक्त होते है। 'बारह घण्टे' मे फेटम और विनी का आकर्षण भी कुछ इसी प्रकार का है। दिव्या और पृथुसेन का, प्रथम साक्षात्कार मे ही, एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाना काममूलक था। 'झूठा सच' मे पुरी और कनक मे, कनक और गिल मे, असद और तारा मे, मर्सी और चड्ढा मे, श्यामा और डे मे सहज आकर्षण है। 'दादा कामरेड' की शैल इस आकर्षण के मूल मे अपनी दृष्टि मे दूसरे का अच्छा लगना मानती है। वह स्पष्टत: स्वीकार करती है—"इसके बाद कई लड़के नजरो में आये। तुम बताओ, जो अच्छा हो वह अच्छा कैसे न लगे ?"[1] आकर्षण के बाद नारी और पुरुष मे परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न होता है। यह प्रेम लारेस के शब्दो मे, "अन्तरतम आवश्यकता की परस्पर पूर्ति का सम्बन्ध है।"[2] इसी को स्पष्ट करते हुए लारेस ने कहा है, "प्रेम जीवन की माँग देता है और प्रेम-पात्र उस माँग को पूरा करता है, प्रेम-पात्र कोई भी व्यक्ति हो सकता है। प्रेम-पात्र या व्यक्ति प्रेम का उन्मेष पूरा कर सकने के कारण ही अच्छा या प्यारा लगता है।"[3] 'देशद्रोही' मे डॉ० खन्ना भी इसी प्रेम के स्वरूप के सम्बन्ध मे सोचता है—"राज मुझे नही, मुझसे मिलने वाले संतोष से प्यार करती थी या उस एकमात्र पुरुष को प्रेम करती थी जिस पर वह प्रत्येक बात के लिए निर्भर थी जिसके बिना जीवन सम्भव न था। मैं

---

१. दादा कामरेड, पृ० ३७-३८
२. बारह घण्टे, पृ० ६६
३. बारह घण्टे, पृ० १०१

जैसे राज से प्रेम करता था, वैसे ही किसी दूसरी स्त्री से भी कर सकता हूँ। राज भी, जो कोई भी उसका पति होता उसी से प्रेम करती।"[1] अर्थात् नारी और पुरुष के प्रेम-सबंध मे दो बाते काम करती हैं। एक तो परस्पर संतोष की प्राप्ति, दूसरे परस्पर आश्रय की प्राप्ति। प्रेम के प्राकृतिक स्वरूप के सम्बन्ध में लारेंस ने कहा है, "नर-मादा का आकर्षण प्राकृतिक बात है। मैं तो कहूँगा पशुओं का प्रेम अधिक निश्छल केवल प्रकृति की पुकार का परिणाम होता है। किसी अन्य प्रलोभन का विचार उनके आकर्षण को प्रभावित नही करता।"[2] प्राकृतिक आकर्षणजन्य प्रेम मे यशपाल के पात्र तृप्ति आवश्यक मानते है। शरीर को वे केवल साधन मात्र मानते हैं। कभी-कभी वे स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और सतोष की वकालत करते हुए स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपयोग की वस्तु बनाने का विरोध भी करते है। 'देशद्रोही' में डॉ० खन्ना का कथन है—"शरीर तो केवल साधन मात्र है। उससे तो अच्छे-बुरे सभी स्पर्श होते हैं।......न मैं यह विश्वास करता हूँ कि स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपयोग की वस्तु बनाकर सुरक्षित रख लेना ही आचारनिष्ठा का सबसे बड़ा आदर्श है। पुरुष की वंश-रक्षा के लिए सन्तानोत्पत्ति का साधन होने के अतिरिक्त स्त्री का अपना व्यक्तित्व और सन्तोष भी कोई चीज है।"[3] 'दादा कामरेड' मे शैलबाला अपने व्यक्तित्व और संतोष-प्राप्ति के नाम पर ही एक के बाद दूसरे पुरुष के संसर्ग मे अपने शरीर को साधन रूप मे प्रयुक्त करती है। 'मनुष्य के रूप' मे सोमा का परिवर्तित प्रेम भी यशपाल के भौतिकवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है। वह धनसिंह के बाद सरोला और उसके बाद फिल्म प्रोड्यूसर सुतलीवाला से प्रेम करती है। 'झूठा सच' में गिल प्रेम को जीवन का यथार्थ व्यवहार मानता है। वह केवल कल्पना एव स्मृति मे ही सफल प्रेमी नही होना चाहता। कनक से तृप्ति न पाकर वह निराश प्रेमी की भांति बडे दुःखी स्वर मे कहता है—"ठोकर भी मारोगी और परे भी नही हटने दोगी।"[4] वस्तुतः गिल विवाह के पूर्व ही प्रेम मे स्वच्छन्द भोग की कल्पना करता है। डॉ० श्यामा भी प्रेम और भोग को अन्योन्याश्रित मानती है। प्रेम मे सदैव अपने को दबाते रहना उसे पसन्द नही है। जो विवाहितो के लिए स्वाभाविक है, वही वह अविवाहितो के लिए भी स्वाभाविक मानती है। उसके अनुसार प्रेम सन्तोष भी चाहता है। वह शरीर का व्यवहार है। उसने तारा से कहा—"तरसना ही प्यार है? प्यार क्या सन्तोष नही चाहता? रक्त-मांस का उन्मेष ही सही, पर हृदय और

---

१. देशद्रोही, पृ० ५६
२. बारह घण्टे, पृ० ६७
३. देशद्रोही, पृ० २०७-८
४. झूठा सच : भाग २ : देश का भविष्य, पृ० २६०

क्या है, मस्तिष्क और क्या है ? शरीर को काटकर परीक्षा करने से तो हृदय मे प्यार या मस्तिष्क मे विचार रखे हुए नही मिलते । प्यार और विचार शरीर का व्यवहार मात्र है।"[१] इस प्रकार यशपाल के पात्रों के कथन से और उनके व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि यशपाल स्वच्छन्द भोग मे विश्वास रखते हैं। इस प्रकार की धारणा के कारण वे परम्परागत वैवाहिक प्रथा का भी विरोध करते है।

सतह पर दृष्टि रखकर अध्ययन करने वाले पाठक को यशपाल का प्रेम-चित्रण मार्क्सवादी मान्यता से हटा हुआ दिखाई पडता है, पर सही बात यह है कि यशपाल का वह अभीष्ट नही है। उनके प्रमुख पात्रों मे जो प्रेम-चपलता दिखाई पड़ती है, वह उनकी (पात्रो की) पूंजीवादी मनोवृत्ति का परिणाम है। इस बात से तो कोई इन्कार नही सकता कि उनके पात्र पूंजीवादी युग के ही व्यक्ति हैं। पूंजीवादी सभ्यता के सस्कारो से युक्त व्यक्ति का वही आचरण होगा, जो यशपाल के पात्रो का है। यह वस्तु का यथार्थवादी चित्रण है, पर इसके भीतर से स्वस्थ प्रेम और स्वस्थ जीवन की ही व्यंजना सुनाई पड़ती है। मार्क्सवाद स्वस्थ जीवन के लिए इसी प्रकार के स्वस्थ प्रेम और स्वस्थ भोग का आह्वान करता है।

यशपाल प्रेम को जीवन में सहायक वस्तु के रूप मे स्वीकार करते है। उसकी सार्थकता जीवन के विकास में है। 'मनुष्य के रूप' मे भूषण मनोरमा से कहता है— "प्रेम तो जीवन मे सहायक वस्तु है। जीवन मे अडचन बनकर प्रेम चल नही सकता।......जब प्रेम नित्य जीवन मे असह्य स्थिति पैदा करने लगता है तो वह जीवन का बाधक होकर स्वयं समाप्त हो जाता है, उसकी जगह घृणा पैदा हो जाती है।"[२] सब चीजो की तरह यशपाल जीवन मे प्रेम की गति को भी द्वन्द्वात्मक मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है, "प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है। यदि प्रेम बिल्कुल छिछला या थिथला रहे तो वह असंयत वासना मात्र बन जाता है और यदि जीवन मे प्रेम या आकर्षण का विवेक से संयम न हो तो वह जीवन के लिए घातक भी हो सकता है।"[३] यशपाल इस प्रकार के घातक प्रेम को जीवन मे त्याज्य समझते हैं। 'झूठा सच' मे कनक और पुरी का प्रेम जब इस घातक स्थिति को पहुँच जाता है तो वह अपने आप समाप्त हो जाता है। अनेक प्रयासो के बाद भी कनक पुरी के प्रति पत्नीत्व भाव को स्वीकार नही कर पाती। यशपाल प्रेम को जीवन मे निरपेक्ष सत्ता के रूप में नही, परिस्थिति-सापेक्ष मानते है। प्रेम कुछ घटनाओं का परिणाम है तो कुछ घटनाओ

---

१. झूठा सच : भाग २ : देश का भविष्य, पृ० ४८६

२. मनुष्य के रूप, पृ० ८६-८७

३. मनुष्य के रूप, पृ० ८६

का कारण भी होता है । यदि सोमा अत्यन्त कष्ट में न होती और धर्नसिह की सान्त्वना उसकी असहाय अवस्था मे एकमात्र अवलम्ब न बनती तो क्या वह उससे प्रेम करती ? धर्नसिह उसके भौतिक जीवन का अवलम्ब था । इसी प्रकार यदि सोमा का पति जिन्दा होता तो शायद यह प्रेम हो ही नही सकता था और मनोरमा को भी उससे सहानुभूति न होती। प्रेम जीवन मे शरीर की अनुभूति और आवश्यकता से पृथक् वस्तु नहीं है ।

सभ्य समाज ने प्रेम को स्थायी और सृजनात्मक स्वरूप देने के लिए विवाह एवं वैवाहिक सस्थाओ को जन्म दिया है । सदियो की गुलामी के वाद हमारी विवाह-परम्परा इतनी रूढ हो गई कि उसमें नारी की इच्छाओ, अभिलाषाओ एवं अधिकारो के लिए कोई स्थान ही नही रह गया । नारी-स्वातंत्र्य की आरम्भिक अवस्था में युगो से त्रस्त भारतीय नारी के लिए प्रेम और विवाह के सम्वन्ध मे पुरुषो के एकाधिपत्य को चुनौती देना वहुत स्वाभाविक था । अपने उपन्यासों में नारी के इस नये रूप को व्यक्त करते हुए यशपाल ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व एव स्वतत्र यौन-सम्वन्धों का समर्थन किया है । 'दादा कामरेड' को नायिका शैल एम० ए० की छात्रा, क्रान्तिकारिणी, अभिजात पिता की स्वतत्र प्रकृति वाली युवती पुत्री है । नारी-स्वातंत्र्य और परम्परागत विवाह में उसे परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है । "………जब स्त्री को एक आदमी से वँध जाना है और सामाजिक अवस्थाओं के अनुसार उसके अधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है, उस सम्वन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय, वह है स्त्री की गुलामी ही ! साथी तो एक व्यक्ति के कई हो सकते हैं ?………स्त्री के कई पति होना तुम्हें सहन हो सकता है ?"[1] वह नारी-स्वातंत्र्य का समर्थन करते हुए हरीश से कहती है—"पुरुष कभी स्त्री के दृष्टिकोण से समस्या को देख नही सकता । स्त्री की सवसे वड़ी मुसीवत तो यह है कि उसे सन्तान पैदा करनी है, इसलिए पुरुष जमीन के टुकड़े की तरह उस पर मिल्कियत जमाने के लिए व्याकुल रहता है ।"[2]

यशपाल जीवन मे रोमास को स्वाभाविक मानते है। उनकी नायक-नायिकाएँ तथा अन्य पात्र रोमांस, सहज आकर्षण एव प्रेम के अभाव मे अशक्त-से हो जाते हैं । 'देशद्रोही' मे डॉ० खन्ना जिन रमणियो के ससर्ग मे आता है, चाहे वह नर्गिस अथवा चदा हो—एक के वाद दूसरे के प्रेम-पाश मे बँधकर निरन्तर रोमास करता चलता है । इसके अतिरिक्त 'देशद्रोही' मे वद्रीवावू औरराज तथा सुजान और यमुना का प्रेम-व्यापार कम महत्वपूर्ण नही है । सुजान जो अफगानिस्तान का नासीर है, विवाह को

१. दादा कामरेड, पृ० ३२

२. वही, पृ० ३२

बूर्जुआ फैशन मानता है और सहज मैत्री को उपादेय एव रक्षणीय। डॉ० खन्ना के इस संकेत पर कि वह यमुना से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर ले, सुजान बिगड़ कर कहता है—"स्त्री पुरुष के सम्बन्ध मे विवाह की बूर्जुआ धारणा को मै नही मानता। मेरे लिए यमुना से प्रेम और मित्रता का सम्बन्ध पर्याप्त है। जिस धारणा मे मुझे आस्था नही, उसके अनुकूल व्यवहार कर उसका समर्थन क्यों करूँ?"[1] 'दिव्या' की नायिका भी, वर्ण-व्यवस्था एवं धार्मिक सस्कारो का विरोध कर युद्ध-भूमि मे जाने के लिए तत्पर पृथुसेन को आत्म-समर्पण कर, स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्धी यशपाल की धारणा को पुष्ट करती है। 'बारह घण्टे' के विनी और फेंटम के पारस्परिक आकर्षण और प्रेम मे भी प्रेम-सम्बन्धी, आदर्शवादी मान्यता का खण्डन हुआ है। वस्तुतः 'बारह घण्टे' मे लेखक ने प्रेम को परिस्थितिजन्य एव परिवर्तनशील माना है। 'झूठा सच' मे जुबेदा और नरेन्द्र, कनक और पुरी, कनक और गिल, मर्सी और चड्ढा, तारा और असद, तारा और डॉ० प्राण आदि के माध्यम से भी यशपाल ने प्रेम और विवाह की रूढ़ मान्यताओं का खण्डन और प्रेम की गतिशीलता का समर्थन किया है। यशपाल स्पष्टतः परम्परागत विवाह-संस्था का विरोध करते हैं और उसकी कमजोरियो पर व्यंग्य भी करते हैं। उन्होने विश्रृंखल दाम्पत्य जीवन का चित्र इसी उद्देश्य से अकित किया है। 'देशद्रोही' मे चदा और राजाराम का दाम्पत्य जीवन डॉ० खन्ना के प्रवेश से विश्रृंखलित हो उठता है; पति-पत्नी मे परस्पर सन्देह एव क्षोभ घर कर लेता है। चदा आत्महत्या का प्रयास भी करती है। 'मनुष्य के रूप' मे परिवार नही टूटता, दम्पति भी पूर्ववत् रहते हैं, पर सोमा और बैरिस्टर सरोला का अवैध काम-सम्बन्ध वैवाहिक मर्यादा का उल्लंघन करता है। 'झूठा सच' मे तारा और सोमराज, कनक और पुरी का विवाह-सम्बन्ध भी अधिक दिनो तक नही चल पाता। इन पात्रो के जीवन मे आने वाले मोड विवाह-संस्था को अवांछनीय बता कर उसे तोड देना चाहते हैं। शैल, निरजना, मालती, हरीश, राबर्ट आदि ऐसे पात्र है जो विवाह को पूंजीवादी तथा रूढ़िवादी संस्कार बताकर उसके शोषण से मुक्त होना चाहते हैं।

'दिव्या' का प्रेस्थ स्त्री को जीवन की पूर्ति नही, जीवन की पूर्ति का एक साधन मात्र मानता है। उसके अनुसार सामर्थ्यवान सफल मनुष्य अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है। उसका स्पष्ट मत है कि स्त्री साधन है, साध्य नही। वह भोग्या है। इसीलिए वह अपने पुत्र पृथुसेन को सीरो की ओर प्रवृत्त करता है। सीरो से विवाह करने के बाद पृथुसेन दिव्या को पाने के लिए भी व्याकुल रहता है। सीरो के विचार में भी आर्यों में स्त्री केवल भोग्य सम्पत्ति और दासी है। पृथुसेन से ठुकराये जाने पर दिव्या को भी

---

१. देशद्रोही, पृ० २४०

नारी के भोग्य रूप का अहसास होता है। गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए अपने परिवार से दूर जाते हुए वह कहती है—"नारी है क्या? कठोर, धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक, नारी के लिए सब समान हैं। जो भोग्य बनने के लिए उत्पन्न हुई है, उसके लिए अन्यत्र शरण कहाँ? उसे सब भोगेंगे ही।"[1] सामन्तवादी समाज नारी को अपने भोग की वस्तु मानता था, चाहे वह उसे कुल-वधू के रूप मे भोग्या बनाये अथवा स्वतंत्र वेश्या के रूप में। शोषक समाज का नारी के प्रति यह दृष्टि-कोण परम्परागत रहा है। यशपाल का मारिश इसका विरोध करता है। वह नारी और पुरुष दोनो को एक-दूसरे का आश्रय और समान अनुभूतियों का अधिकारी बताता है। वह एक स्थल पर कहता है—"नारी प्रकृति के विधान से नही, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति मे और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रित हैं। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है; परन्तु भद्रे, नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।"[2]

पुरुष के भोगवादी दृष्टिकोण का विरोध करती हुई सीरो पृथुसेन से कहती है—"मैं तुम्हारी क्रीतदासी नही हूँ।......मैं तुम्हारे पिंजरे मे बद्ध सारिका नही हूँ। केवल तुम्हारी अंग-सेवा के लिए दासी नही हूँ।...मैं तुम्हारे वंश-रथ की धुरी खीचने के लिए बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय नही हूँ। यदि तुम मेरा अपमान करोगे, मेरे लिए विस्तृत जन-समाज है।"[3] सीरो के इस कथन मे भी उसका स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण ही अधिक झलकता है। उपन्यास के अंत में परस्पर समान अनुभूतियो के आदान-प्रदान पर मारिश के प्रति दिव्या का समर्पण करा कर यशपाल ने नारी के प्रति पुरुष के भोग-वादी दृष्टिकोण का खंडन किया है। वह नारी को स्वतंत्र और स्वयं इच्छा की अधिकारिणी मानते हैं। इसीलिए आत्मनिर्भर गुलशाँ डॉ० खन्ना के समक्ष अपनी इच्छाओं को सांकेतिक रूप मे व्यक्त करती है और जितने समय तक वह तृप्ति पा सके, उसी से संतोष करने के लिए प्रस्तुत है।

भारतीय नारी के लिए सबसे बड़ा नैतिक बंधन उसकी यौन-पवित्रता है। हमारे यहाँ नारी के सम्मान और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए यौन-पवित्रता को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इस पवित्रता की मर्यादा से स्खलित नारी, समाज मे न प्रेम कर सकती है, न विवाह। यशपाल ने नैतिकता की इस रूढ़ मान्यता को अस्वीकृत किया है। निस्सन्देह उनके उपन्यासो मे नारियो का कभी-कभी एकाधिक पुरुषो के साथ

---

१. दिव्या, पृ० १०२
२. दिव्या, पृ० १५८
३. दिव्या, पृ० १७६

दिखाई पडना है, पर यह परिस्थितिजन्य विवशता है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा को परिस्थितियो से विवश होकर ही अनेक बार आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इसलिए लेखक उसे अपवित्र नही मानता। 'दादा कामरेड' की शैल एक के बाद दूसरे प्रणयी से यौन-संवध स्थापित करने मे अपने को जरा भी पतित नही मानती। रावर्ट और हरीश-जैसे प्रेमी उसके पूर्ववर्ती यौन-सबंधों से परिचित होने पर भी उसे स्वीकार करने मे बिल्कुल नही हिचकते। 'देशद्रोही' मे राज का आरभ में अपने पति डॉ० खन्ना से यौन-संवंध स्थापित हो चुका था, पर बाद मे उसी राज को बद्रीबाबू अपनी पत्नी के रूप मे सहर्ष स्वीकार करते हैं। दिव्या पृथुसेन की प्रणयिनी और उससे प्राप्त शिशु की माँ होकर भी अंत मे मारिश को पति के रूप मे स्वीकार करती है। इसी प्रकार 'झूठा सच' की कनक अपने पति पुरी से तलाक लेकर गिल को समर्पित हो जाती है। उर्मिला वैधव्य के वाद पुरी से गर्भवती होती है और अत मे डॉ० मोगिया से विवाह कर लेती है।

काम-सवंधो मे वांछनीय स्वतंत्रता स्वीकार करने वाले यशपाल आवश्यक होने पर गर्भपात का भी समर्थन करते हैं। उस सतान को जिसका स्वागत करने के लिए समाज तैयार नही है, उसे समाज मे ले आना उस अबोध शिशु के प्रति लेखक बहुत बड़ा अन्याय मानता है। 'दादा कामरेड' मे शैल और रावर्ट के सवादो के माध्यम से लेखक ने गर्भ-निरोध की आवश्यकता की ओर भी सकेत किया है—"गर्भ निवारण प्राकृतिक आवश्यक है। प्रकृति मे यह काम दूसरे तरीको से चलता है। साँपिनी एक हजार अण्डे देती है, परन्तु जव एक हजार बच्चे निकलते हैं, तब स्वयं ही उन्हे पूंछ से घेरकर खाने लगती है। जो एक-दो बच जाते है, वे ही दूसरे जीवो के लिए आफत हो जाते हैं।... गर्भ निवारण ही मनुष्यो को उचित सख्या मे रखकर जीवन को सुखी बनाने का उपाय है।"[1] 'झूठा सच' में मर्सी अवैध गर्भ को बीमारी मानती है। वह अन्य बीमारियो की तरह इसके इलाज को भी आवश्यक मानती है।..."इसमे घृणित और वाहियात क्या है? यह तो कष्ट निवारण है।"[2]

यशपाल के उपन्यासो मे नारी और पुरुष के जिन विविध सवधो का चित्रण हुआ है, उनमे एक वात स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि वह नारी-स्वातन्त्र्य के प्रवल समर्थक हैं। 'दादा कामरेड' मे एक स्थान पर रावर्ट कहता है—"जिस तरह पराई सपत्ति लेना पाप है, उसी तरह दूसरे की औरत से वात करना भी पाप है। परन्तु औरत ऐसी सपत्ति है जिसके अपने हाथ-पैर और सिर हैं, इसलिए उसे समझाया गया है कि

---

१. दादा कामरेड, पृ० १३२

२. झूठा सच, भाग २, पृ० ३६५

अपने मालिक से चिपके रहने में ही तेरा कल्याण है, तू पतिव्रता बनी रहना।"[1] यहाँ यशपाल ने रावर्ट के माध्यम से पुरुषों के उस दृष्टिकोण पर व्यंग्य किया है, जिसके कारण पुरुष नारी को अन्य वस्तुओ के समान अपनी भोग की सामग्री मानता है। परन्तु जब उसने देखा कि चेतना-सम्पन्न नारी उसके इस दृष्टिकोण का विरोध कर रही है तो उसे परतत्र बनाने के लिए उसने पातिव्रत-जैसे महान् धर्म का आविष्कार किया। हरीश स्त्री की पूर्ण स्वतत्रता का अर्थ विवाह की प्रथा को दूर करना बताता है। उसका मत है कि विवाह के दमनकारी बंधन दूर कर देने पर स्त्री-पुरुष अपनी स्वाभाविक अवस्था मे रहेगे। इसी प्रकार यशपाल भी विवाह-प्रथा का विरोध करते है, परन्तु जीवन को स्वस्थ और प्राकृतिक बनाये रखने के लिए वह विवाह का निषेध नही करते। 'मनुष्य के रूप' मे भूषण मनोरमा से कहता है—"सघर्ष और क्रान्ति को जीवन-भर निभाने के लिए जहाँ तक सभव हो, जीवन को साधारणतः स्वस्थ और प्राकृतिक बनाये रखना जरूरी है।"[2]

नारी-स्वातत्र्य के लिए यशपाल नारी की आत्म-निर्भरता आवश्यक मानते है। पुरुष पर निर्भर रहने वाली स्त्रियों के विषय में मनोरमा कहती है—"सभी स्त्रियाँ आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य अपने शरीर से चुकाती हैं। आत्म-निर्भर प्रेम तो वही है जो मूल्य मे आश्रय न माँगे। प्रेम के मूल्य मे जीवन-भर का आश्रय पा लिया या कुछ रुपये! प्रेम करने का अधिकारी वही है जो आश्रय न माँगे, जो अपने पाँव पर खड़ा हो।"[3] आत्म-निर्भर नारी निश्चित रूप से पुरुष की इच्छाओं पर न चलकर अपनी स्वतत्र इच्छाओ का अनुसरण कर सकती है, जैसा डॉ० खन्ना के प्रति गुलशां के व्यवहार से लक्षित होता है। 'झूठा सच' में लगभग सभी शिक्षित नारी-पात्र आत्म-निर्भर हैं; जो नही हैं, वे अपने पैरों पर खडे होने के लिए दिन-रात परिश्रम करते हैं।

यशपाल ने समाज की अन्य रूढ़िग्रस्त समस्याओं पर भी विचार किया है। 'देशद्रोही' मे विधवा-समस्या पर लेखक ने कलात्मक ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किये है। राज बीबी का पति डॉ० खन्ना वजीरी लुटेरो द्वारा अपहृत कर लिया जाता है। राज को उसकी मृत्यु का समाचार मिलता है। वह इस समाचार से मूर्च्छित होकर मृत्यु का आलिगन करने के लिए तैयार हो उठती है, परन्तु मृत पति की स्मृतियाँ धीरे-धीरे लुप्त होने लगती हैं और वह बद्रीबाबू की ओर आकर्षित हो जाती है। अत मे उन्ही के साथ उसका राजनीतिक विवाह भी हो जाता है। डॉ० खन्ना राज के इस

१. दादा कामरेड, पृ० १०१
२. मनुष्य के रूप, पृ० २०५
३. मनुष्य के रूप, पृ० १६७

व्यवहार का विरोध नही करता। वह अपनी पूर्व समर्पिता पत्नी के सुखद भविष्य की कामना करता है। इस प्रकार यशपाल ने यदि एक ओर विधवा-विवाह का समर्थन किया है तो दूसरी ओर परम्परागत, शाश्वत पातिव्रत धर्म का खण्डन किया है। 'झूठा सच' में विधवा उर्मिला अंततः डॉ० मोगिया की पत्नी बन जाती है।

'दिव्या' में यशपाल ने वेश्या-जीवन पर भी विचार किया है। दिव्या पुरोहित चक्रधर के अत्याचार से पीड़ित होकर बौद्ध विहार मे बुद्ध की शरण पाने की प्रार्थना करती है पर अभिभावक की अनुमति के अभाव मे उसे विहार के अदर आश्रय नही मिलता। अम्बपाली की चर्चा करने पर विहार का स्थविर कहता है—"वेश्या स्वतन्त्र नारी है, इसलिए भगवान् तथागत ने वेश्या अम्बपाली को सघ मे शरण दिया था।"[1] अंशुमाला मारिश के सामने जब स्थविर के वाक्य—'वेश्या स्वतन्त्र नारी है' को दोहराती है तो मारिश वेश्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहता है—"यदि कुल-वधू एक पुरुष की भोग्य है तो जनपद-कल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। वह जन को कामना का सकेत देती है और उसके मूल्य मे जीवन के भोगो का साधन केवल धन पाती है, ...इसके अतिरिक्त और क्या ? वेश्या जीवन की गति अर्थात् 'काम' का उत्तेजक साधन है परन्तु परिणाम मे स्वय उसका 'काम' अर्थहीन और वचित रहता है। उसकी कला दूसरे के जीवन मे वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप मे उपयोगी है। परन्तु वह स्वय क्या पाती है ? वह 'काम' के यज्ञ का साधन-मात्र है। वह स्वयं पूर्ति के हविष्य से वंचित है। उसकी स्वतत्रता का भोग जन करता है, वह स्वयं नही। वह केवल वचना पाती है।"[2] दूसरे शब्दो मे लेखक वेश्या को शोषक समाज की उपज मानता है। जीविका की दृष्टि से वह अवश्य ही स्वतन्त्र नारी है और इसलिए कुल-वधू की तरह किसी एक व्यक्ति के अनियत्रित स्वेच्छाचार का शिकार नही बन पाती। पर मूलरूप से उसका अस्तित्व सम्पन्न श्रेणी की काम तृप्ति के लिए है।

(घ) धर्म, ईश्वर, राजनय, नीति एवं कला

समाज मे अर्थ और काम के अतिरिक्त धर्म, ईश्वर, राजनय, नीति, कला आदि तत्वो का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यशपाल ने इन सबके सम्बन्ध मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। समाज मे धर्म की स्थापना समाज-व्यवस्था को सुदृढ एव सुचारु रूप से संचालित करने के लिए ही की गयी थी। परन्तु कालांतर मे धर्म रूढ़ होकर समाज के विकास मे बाधक होने लगा। यशपाल जैसा विद्रोही और

---

१. दिव्या, पृ० १२७

२. दिव्या, पृ० १५८

परम्परागत मान्यताओं का खण्डन करने वाला कलाकार स्वभावतः इस प्रकार के धर्म को अमान्य घोषित करता है। धर्म के सम्बन्ध में यशपाल के विचार एक कट्टर मार्क्सवादी के विचार है। उन्होने लिखा है—"पहले जब मनुष्य की जानकारी बहुत कम थी, गिरोह का मुखिया ही उसके लिए सब कुछ था, तब यह उसकी पूजा करता था...... ईश्वर और विश्वास को बनाया था, मनुष्य ने भय से रक्षा और साहस पाने के लिए, अपने आपको एक निश्चित नियम पर चलाने के लिये। मनुष्य समाज के इतिहास और विकास मे इसका उपयोग भी हुआ। मनुष्य समाज अपनी परिस्थितियों के अनुसार उस ईश्वर के रूप और उसकी आज्ञाओ को बदलता भी आया है। यह विश्वास समाज मे व्यवस्था कायम रखने का उपयोगी साधन बन गया। परन्तु हुआ क्या? जैसे समाज मे बलवान श्रेणी ने जीवन-निर्वाह के साधनो को अपने वश में कर लिया, उसी तरह समाज मे व्यवस्था कायम रखने के इस उपयोगी साधन को भी समाज की बलवान श्रेणी ने अपने स्वार्थ के लिए हथिया लिया......आज ईश्वर विश्वास का अर्थ है अपने ही पापो के कारण दुःख भोगने का विश्वास। आज इसका अर्थ है......चली आती शोषण की व्यवस्था को पलट कर हिंसा की चेष्टा न करना, इसका अर्थ है......अपने आप को भगवान् के कारिंदे समझने वालो की श्रेणी के स्वार्थ की प्रेरणा के आगे सिर झुकाना।"[1] सक्षेप मे, धर्म और ईश्वर की भावना को यशपाल शोषक श्रेणी का प्रपच मानते है। धर्म को वह मनुष्यता का सबसे बडा शत्रु मानते है। 'झूठा सच' में धर्म के नाम पर किये जाने वाले भीषण नर-संहार का नग्न चित्रण किया गया है। धार्मिक विद्वेष के कारण कितने मासूम व्यक्तियो को देश के विभाजन के समय अनायास मृत्यु की गोद मे सो जाना पडा। सतवत, वती और दुर्गा मुसलमानो के भयकर अत्याचार से पीड़ित होने पर अपने धर्म और ईश्वर का भरोसा नही छोड़ती। पर वह निरीह ईश्वर इनकी सहायता करने मे जैसे असमर्थ है। इस पर व्यग्य करते हुए लेखक ने लिखा है—"जान पड़ता था कि भगवान् ने तो उन्हे भुला दिया था परन्तु ये लोग भगवान् को नही भुला सकती थी। भगवान् मनुष्य की जितनी चिन्ता करता है, उससे कही अधिक मनुष्य भगवान् की चिंता करता है।"[2]

मार्क्सवादी विचार-दर्शन के अनुसार यशपाल भाग्यवाद जैसी किसी शक्ति को नही मानते। उन्हे न तो ईश्वर की विधायक शक्ति में विश्वास है और न ही वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि जीवन और जगत् का प्रत्येक कार्य उसी परम सत्ता के सकेत पर होता है। उस अज्ञात सत्ता के सामने विश्व की अन्य तमाम शक्तियाँ लाचार

१. चक्कर क्लब, पृ० १३४

२. झूठा सच, भाग १, पृ० ४८८

हैं, इस पर भी उनका विश्वास नही है। भाग्यवाद के सम्बन्ध मे उनका मत मारिश के शब्दों मे इस प्रकार व्यक्त हुआ है—"भाग्य का अर्थ है विवशता! भाग्य का अर्थ है असामर्थ्य! असामर्थ्य का अर्थ है प्रयत्न और चेष्टा न करना!......प्रयत्न और चेष्टा जीवन का स्वभाव और गुण है। जब तक जीवन है, प्रयत्न और चेष्टा का रहना स्वाभाविक है।......असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है जीवन में प्रयत्नहीन हो जाना, जीवन से उपराम हो जाना।"[१] तात्पर्य यह कि भाग्य मे विश्वास करने वाला व्यक्ति प्रयत्नहीन हो अपने और समाज को अदृश्य पर छोड देता है। मनुष्य के प्रयत्न में जीवन और जगत् की सबसे बडी शक्ति है। लाहौर से आये हुए शरणार्थियों के स्वावलम्बी बनने के प्रयास को देखकर लेखक ने भाग्य पर व्यंग्य करते हुए लिखा है—"वे भाग्य को अँगूठा दिखाकर हँस रहे थे, भाग्य उन्हे कुचल नहीं सका। वे चिन्ता करके थक गये थे। अब उन्हें किसी बात की चिन्ता न थी।"[२]

यशपाल को प्रत्यक्ष जीवन और जगत् मे विश्वास है। वह किसी परलोक अथवा स्वर्ग की कल्पना नही करते। उनके पात्र भी परलोक और स्वर्ग की चिन्ताओ से मुक्त हैं। दिव्या का मारिश इसी जीवन के उपभोग की सार्थकता मे विश्वास प्रकट करता है। उसने न कभी मृत्यु का अनुभव किया है और न ही कभी परलोक देखा है। अतः परलोक की कामना मे वह इस जीवन के भोगो से वंचित नही होना चाहता। रत्नप्रभा के परलोक में विश्वास करने पर, भोगवादी दृष्टिकोण का विरोध करने पर मारिश कहता है—"परलोक केवल अनुमान और कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं। जो तुम्हे परलोक का विश्वास दिलाता है, उसने परलोक को दूसरे के कथन-मात्र से जाना है और दूसरे ने किसी और के कथन से। परलोक को स्वयं देखकर किसी ने उसके सत्य होने का साक्ष्य नही दिया है। ऐसी स्थिति मे प्रकट स्थूल जीवन को न्यौछावर कर देना बुद्धिमानी नही है।"[३] स्थूल प्रत्यक्ष जगत् और शरीर को भ्रम और मिथ्या कहने पर वह बडे ही स्पष्ट शब्दो में कहता है—"यह जीवन ही सत्य है। यह संसार ही सत्य है। जो पाना है, इसी जीवन में पाओ।"[४] यशपाल के प्रायः सभी प्रतिनिधि पात्र मारिश के इस सिद्धान्त-वाक्य में विश्वास करते है। 'दादा कामरेड' से लेकर 'झूठा सच' तक के अधिकांश पात्र जीवन की समस्त कामनाओ को वर्तमान में ही तृप्त कर लेना चाहते हैं। उपन्यासो की घटनाएँ भी उनकी इस तृप्ति मे सहायता प्रदान करती हैं। 'दादा कामरेड' का हरीश फाँसी

---

१. दिव्या, पृ० १५३-५४
२. झूठा सच : देश का भविष्य, पृ० १२२
३. दिव्या, पृ० १३६
४. दिव्या, पृ० १४०

पर झूलने के पूर्व अपनी समस्त विवशताओं और कई दिनों की भयंकर थकान के साथ शैल का सामीप्य लाभ करता है। वह कुछ ऐसी मनःस्थिति में है कि शैल उसे पूर्ण विश्राम देने के लिए उसकी इच्छाओं के प्रसार का पूर्ण अवकाश दे देती है। 'देशद्रोही' में डॉ० खन्ना अन्तत. चन्दा के समीप अद्‌भुत तृप्ति का अनुभव करता है। 'बारह घण्टे' में विनी और फेंटम दोनों अपनी वियोग-व्यथाओं को भूल कर इसी जीवन में एक-दूसरे का साथ देने के लिए आगे बढ़ते हैं। दिव्या बौद्धों के निर्वाण को अस्वीकार कर जीवित मारिश की गोद स्वीकार करती है। 'झूठा सच' में उर्मिला का डॉ० मोगिया के साथ विवाह इसी जीवन के प्रति विश्वास को व्यक्त करता है। वह जीवन-भर विधवा रहकर अथवा पुरी के प्रेम में पागल बनकर प्रत्यक्ष जीवन को झुठलाना नहीं चाहती, वरन् सांसारिक सुखों को भोगना चाहती है। पुरी से अलग होकर कनक जीवन से उपराम नहीं होना चाहती, वह तो गिल के साथ जीवन में और प्रगाढ़ता के साथ प्रवृत्त होती है।

यशपाल राजनीतिक विधान और नैतिक परम्परा को भी शोषकों का साधन मानते हैं, इसलिए वह वर्तमान पूँजीवादी समाज में उन राजनीतिक और नैतिक हथकण्डों का विरोध करते हैं जिनके द्वारा समाज के किसी एक वर्ग का स्वार्थ सधता है। धर्म, राजनीति, नीति और कला, संस्कृति के ये चार बड़े प्रमुख स्तंभ हैं। मार्क्स-वाद संस्कृति के दृढ़ स्तंभों को ध्वस्त करने में रंच-भर भी नहीं हिचकता। यशपाल के उपन्यासों में भी यही हुआ है। विवाह, सतीत्व, एकनिष्ठ प्रेम, सदाचार आदि पूँजीवादी समाज के सांस्कृतिक मूल्य हैं। यशपाल के उपन्यासों में इन मूल्यों का खण्डन हुआ है। 'पार्टी कामरेड' में उन्होंने सदाचार के 'टायलेविटस' को समझाने के लिए पार्टी सदस्या गीता तथा शहर के नामी गुंडा भावरिया को चित्रित किया है। पार्टी-हित के लिए गीता वैयक्तिक रुचि तथा नैतिकता के मूल्यों को भी समर्पित कर देती है। सदाचार आदि के प्राचीन मूल्यों को इनके किसी भी उपन्यास में नहीं स्वीकारा गया है।

४. यशपाल की कलागत मान्यताएँ एवं साहित्यिक मूल्य

कला के प्रति यशपाल का दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। वह कला का जीवन और मानवता से सीधा सम्बन्ध मानते हैं। उनके मतानुसार, "कलाकार मानव पहले है और कला उसकी मानवता का विकास और स्फुरण मात्र है। जो भावना और व्यवस्था मानवता के विकास और समृद्धि में सहायक है, वह कला के विकास की शत्रु नहीं हो सकती। मानवता की पूर्णता और उन्नति के लिए, संयम को स्वीकार करना कला का विकास है।"[1] यशपाल के विचार में समाज की प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता जीवन

१. श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० [illegible]

को अधिकाधिक समृद्ध बनाने में है। साहित्य और कला के सम्बन्ध में उन्होंने जो भी विचार प्रकट किये है, उसके मूल में यही बात लक्षित होती है। उन्होंने लिखा है, "साहित्य सौंदर्य की अनुभूति है। साहित्य का प्रयोजन आनंद की सृष्टि और उस सृष्टि का विस्तार करना है। सौंदर्य और आनंद चरम लक्ष्य है, परम सुख है, किन्तु सौदर्य पदार्थों और भावो का गुण है। सौंदर्य को आप पदार्थ और भाव से पृथक् नही कर सकते। सुन्दर कोई भाव या पदार्थ रहता है। जैसे सौदर्य-वोध, बिना पदार्थ के नही हो सकता, वैसे ही कला की अनुभूति और अभिव्यक्ति उद्देश्य और भावो को प्रस्तुत किये बिना नही हो सकती।"[1]

'कला, कला के लिए' को वह निस्सार मानते है, अनावश्यक नारा बताते हैं। उनकी दृष्टि मे कलाकार इस नारे को तभी बुलद करता है जब अपनी कृति में सुदृढ़ विचारों को अभिव्यक्ति नही दे पाता, जब वह अपनी कृति में विफलता का अनुभव करता है एवं उसे निष्प्रयोजन होते देखता है। कला का मूल प्रेरणास्रोत समाज है, जीवन है। अतः कला का सामाजिक प्रयोजन होना चाहिए, जीवनगत लक्ष्य होना चाहिए। कलावादी अपने अन्तर्जगत् मे डूबने के कारण, अपनी अन्तश्चेतना को अभिव्यक्ति देने का दम भरने के कारण भले ही कला की सोद्देश्यता को अस्वीकार करें, पर प्रयोजन से हीन कला को यशपाल कला नही मानते। कलावादियो पर प्रहार करते हुए लिखा है, "कला व्यक्तिगत संतोष के लिए नही, कला का उद्देश्य जीवन में पूर्णता की प्राप्ति है।"[2] 'दिव्या' मे रत्नप्रभा कला के प्रयोजन के सम्बन्ध मे अंशुमाला से कहती है—"प्रयोजन से हीन कला, मोहक रूप-रंग लिये मिट्टी के फल के समान है जो तृप्ति नही दे सकती।"[3] कला के माध्यम से तृप्ति तभी सभव है जब वह अपने में प्रयोजन-विशेष को समेटे हो।

यशपाल कला को कला के निर्लिप्त क्षेत्र मे ही न रखकर उसे भावो या विचारो का वाहक मानते हैं। कारण बताते हुए 'दादा कामरेड' की भूमिका मे वह लिखते हैं—"जीवन मे मेरी साध केवल व्यक्तिगत जीवन यापन ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की पूर्णता है। इसलिए कला से सम्बन्ध जोडकर भी मैं कला को केवल व्यक्तिगत संतोष के लिए नही समझ सकता। कला का उद्देश्य है, "·······जीवन में पूर्णता का यत्न बजाय इसके कि कला का यत्न बहक कर हवा मे पैंतरे बदल कर शांत हो जाय, क्या यह अधिक अच्छा नही कि वह यत्न समाज के लिए विकास और नवीन कला के

---

१. बात-बात में बात, पृ० १२-१३
२. दादा कामरेड, भूमिका, पृ० ५
३. दिव्या, पृ० १४२

लिए आधार प्रस्तुत करे।" यशपाल के अनुसार जीवन-विकास के प्रयत्नों की प्रेरणा देना कला का उद्देश्य है। "यदि जीवन संघर्ष है और कला जीवन की भावना की अभिव्यक्ति, तो कला सघर्ष की द्योतक हुए विना नही रह सकती। केवल निरर्थक कला ही सघर्ष द्वारा विकास की भावना से शून्य हो सकती है।"[1]

अन्य श्रमिकों के श्रम की भाँति कलाकार के श्रम की सार्थकता भी सामाजिक उपयोगिता में सन्निहित है। 'देशद्रोही' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"लेखक यदि कलाकार भी है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमिकों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने मे ही है। उसके श्रम की उपयोगिता समाज के विकास में सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही है।" यशपाल कलाकार का अस्तित्व समाज से पृथक् नही मानते। उसकी कला या प्रयत्न का आधार समाज की अनुभूतियाँ, आकाक्षाएँ और आदर्श होते है। अतः साहित्य का कलाकार केवल चारण वनकर सौंदर्य, पौरुष और तृप्ति की महिमा गाकर ही अपने सामाजिक कर्तव्य को पूरा नही कर सकता। विकास और पूर्णता के सामाजिक प्रयत्न की इच्छा और उत्साह उत्पन्न करना......साहित्य के कलाकार का काम है।"[2]

यशपाल की दृष्टि में आदर्श साहित्यकार वह होता है जो समाज की पीड़ा और सुख अनुभव कर समाज के लिए रोता और हँसता है। अर्थात् अपनी कला मे समाज का यथार्थ विम्व प्रस्तुत करता है। अपने साहित्य पर प्रचारवाद का आरोप लगाने वालों से यशपाल ने उत्तर देते हुए कहा है—"कोई भी साहित्य प्रचार रहित नहीं हो सकता। उद्देश्यों, आदर्शों और विचारों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति या विचारार्थ समस्याओं की ओर कलापूर्ण ढंग से ध्यान दिलाना ही साहित्य हैं। विचारों को प्रकट करना यदि प्रचार करना है तो प्रभावशाली सम्पूर्ण साहित्य प्रचारात्मक साहित्य हैं; केवल विचार-शून्य साहित्य ही प्रचाररहित अथवा कला-मात्र के लिए हो सकता है।"[3] समाज की वास्तविकता का परिचय प्रचार नही कहा जा सकता। इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"यदि गधे को गधा कहना, वंदर को वंदर और हाथी को हाथी कहना प्रचार नही है तो किसी भी वात का वास्तविक परिचय देना ही क्यो प्रचार है?"[4]

साहित्य का उद्देश्य सौंदर्य की सृष्टि है, पर यशपाल की दृष्टि मे सौंदर्य न तो चिरसुंदर है और न ही शाश्वत है। उसका रूप परिस्थितियों के अनुसार वदलता रहता

---

१. वात-वात मे वात, पृ० २६
२. देशद्रोही, भूमिका, पृ० ६
३. वात-वात मे वात, पृ० १३
४. पार्टी कामरेड, भूमिका, पृ० ५-६

है। यशपाल के ही शब्दों में "एक बंदी की कल्पना कीजिए जिसके लिए उषाकाल मे सिर काट देने की आज्ञा दी गई हो। उसे उषा की लाली कैसी लगेगी ? आपने ईद के मौके पर कुर्बानी का जुलूस तो देखा होगा ! बलि के पशु को सजा कर लोग कितनी प्रसन्नता और उत्साह से चलते हैं ! उसमें उन्हे अपूर्व सौंदर्य दिखाई देता है। परन्तु क्या बलि के पशु को भी वह सौंदर्य संतोषजनक जान पड़ता होगा ?"[1] अतएव एक ही वस्तु एक ही समय में दो भिन्न परिस्थिति वाले मनुष्यो के लिए सुदर तथा असुदर हो सकती है। यशपाल के अनुसार कला सौदर्य के इन्ही परिवर्तित रूपों का अकन करती है।

सच्ची कला सामाजिक यथार्थ को लेकर चलती है। यथार्थ के अभाव मे वह अपनी शक्ति खो बैठती है। आदर्श और यथार्थ के अतर को स्पष्ट करते हुए यशपाल ने लिखा है, "आदर्शवादी और यथार्थवादी पक्षो के लक्ष्यो में प्रकट भेद यह है कि आदर्शवादी पक्ष के आदर्श अतीत की मान्यताओ के अनुमोदक है और यथार्थवादी पथ के आदर्श, लोगो द्वारा अपने समाज का विश्लेषण करके उनकी समझ और विश्वास के अनुसार समाज की विषमताओ को दूर कर सकने योग्य कार्यक्रम हैं। इस प्रकार हमे मानना पडता है कि भिन्न-भिन्न पक्षों के चिंतन और विचारधारा के अनुसार उसके आदर्शों मे भेद हो सकता है और आदर्श अनेक हो सकते हैं।"[2] भिन्न परिस्थितियो मे चिन्तन और विचारधारा के आधार पर एक ही घटना के प्रति लोग भिन्न-भिन्न यथार्थों का अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए, कालिदास द्वारा कैलाश की गुफा मे शिव के कामातुर व्यवहार को हम शृंगार का उत्कृष्ट वर्णन और शाश्वत मूल्य का साहित्य समझे और किसी आधुनिक यथार्थवादी लेखक द्वारा ईख या अरहर के खेत मे दीनू किसान के कामातुर व्यवहार का वर्णन केवल निंदनीय अश्लीलता समझ लें। एक अवस्था मे ही यथार्थ आदर्श के योग्य और दूसरी अवस्था में निरादर के योग्य हो जाता है।"[3]

कलाकार जब अपने समाज के यथार्थ से विच्छिन्न होकर कला की सृष्टि करता है तब वह अपनी कला में समाज का प्रतिबिम्ब नहीं दे पाता। ऐसी स्थिति मे उसका आदर्श भी समाज के लिए अव्यवहार्य, अविश्वसनीय अतएव अस्वीकार्य होता है। कलाकार का कर्तव्य है कि वह सामाजिक यथार्थ को ग्रहण कर पूरे समाज का चित्रण करे। व्यक्ति विशेष के अन्तर्जगत् मे डूबने वाला कलाकार इस यथार्थ को व्यक्त करने मे असफल होगा। इसलिए यशपाल का विश्वास है कि कलाकार 'मैं' के सीमित क्षेत्र से

---

१. बात-बात मे बात, पृ० १८
२. 'कल्पना', जनवरी १९५८, पृ० ५८
३. वही, पृ० ६०

निकलकर 'हम' के व्यापक क्षेत्र को अपनी कला का आधार बनावे। कुछ लोग सामाजिक यथार्थ के चित्रण मे कल्पना को स्थान नही देते। यशपाल इस मत के विरोधी है। उनका कथन है कि ऐसे विचारक यथार्थवाद का अर्थ जीवन से अथवा जीवन के अनुभवो से लिखना बताते है। कहानी और घटना के निर्माण मे कल्पना का प्रयोग वे अयथार्थ अथवा कमजोरी समझते है। यदि हम इस उपदेश को मानें तो यथार्थवादी प्रणाली का अर्थ शब्दो मे समाज की भद्दी फोटोग्राफी मात्र या पत्रकारिता की कला ही रह जायगा। ऐसे यथार्थवादी यह भूल जाते है कि कला का अर्थ प्रकृति और समाज के मूर्तो को यथा-तथ्य प्रतिबिम्बित कर देना नही है। ऐसे प्रतिबिम्ब तो जलाशयो में स्वय ही पडे रहते हैं। यदि आँखो देखे यथार्थ मे यथा-तथ्य प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना कला समझी जाय तो कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी, भारतेदु मे से कोई भी कलाकार नही माना जायगा। कला का काम प्रेरक शक्ति और रस-राग उत्पन्न करना है। प्रेरणा, रस और राग से रहित यथार्थ को बटोर लेना कला नही है। जिन प्रेरणाओ को हम समाज में कदम-कदम पर पाते है, उनके लिए कल्पना से सजीव घटनाओं एव पात्रो की सृष्टि कर सकना ही यथार्थवादी कला है।

यथार्थवादी कलाकार समाज की वास्तविकता का सच्चा रूप लोगो के सामने रखने के लिए समाज के भूखे, नगे और रोगग्रस्त रूप का भी चित्रण करता है। यशपाल के मतानुसार जिस प्रकार रोग के निदान के लिए चिकित्सक रोगी के शरीर को भी काटने से नही हिचकिचाता, उसी प्रकार यथार्थवादी कलाकार के लिए सामाजिक असमानता और शोषण को दूर करने के लिए सामाजिक विषमताओं और विरूपताओं का चित्रण आवश्यक है। यशपाल की कला का यथार्थवादी रूप हमारे सामने दो रूपों मे आता है—(१) साम्यवाद से पुष्ट कला, और (२) प्रकृतवाद से पुष्ट कला। साम्यवाद से पुष्ट यशपाल की कला सामाजिक समस्याओ को साम्यवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है। इसके अन्तर्गत सामाजिक शोषण, पीड़ा और अत्याचार के मूल में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक वैषम्य की ओर सकेत होता है। प्रकृतवाद से पुष्ट यशपाल की यथार्थवादी कला सामाजिक रूढियो के खडन मे व्यस्त दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की कला के द्वारा वह समाज के घृणित कृत्यो—छल, कपट, मक्कारी, बदमाशी, धूर्तता, जालसाजी का चित्रण करते हैं।

यशपाल कला के माध्यम से राजनीति को भी चित्रित करते हैं। वह उन लोगो मे से नही है जो राजनीति को साहित्य मे स्थान देने के पक्षपाती नही है। ऐसे लोग राजनीति की कला के अन्तर्गत होने वाली चर्चा को 'प्रोपेगैंडा' कहते है। परन्तु यशपाल के सभी उपन्यासो की प्रमुख घटनाएँ किसी-न-किसी प्रकार की राजनीति से अवश्य सम्बद्ध है। वह राजनीति को कला का अभिन्न अंग मानते है। समाज मे, जीवन मे

व्याप्त रहने वाली राजनीति कलाकार के द्वारा उपेक्षणीय नही है। यशपाल अपने साहित्य के अन्तर्गत उन रूढ नैतिक मूल्यो का विरोध करते हैं जिनसे समाज के निर्माण और विकास में बाधा पहुँचती है। वह कला को किसी ऐसे पुरातन के मोहपाश में जकड रखना नही चाहते जो युग-चेतना के प्रतिकूल है। 'दिव्या' की भूमिका मे उन्होंने लिखा है—"कोई भी भावना व आदर्श शाश्वत नही है। मनुष्य से अगर कोई बडा है तो स्वयं उसका अपना विश्वास और विधान। वह स्वय उनके सम्मुख विवशता का अनुभव करता है और स्वयं उसे बदल देता है। और यही उसका कर्तव्य भी है।" सक्षेप मे, यशपाल की दृष्टि मे सच्ची कला वह है जिससे समाज के विकास की सभावनाएँ अभिव्यक्ति पाती है।

—:o:—

अध्याय सात :: भाषा

१. भाषा

भाषा सामाजिक उपलब्धि होती है। सामाजिक आदान-प्रदान के लिए, अपने व्यक्तिगत अनुभवो एवं विचारो को समाज तक सम्प्रेषित करने के लिए मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया है। साहित्यिक भाषा जनभाषा से पृथक् होती है, परन्तु जनता की भाषा ही वह अखण्ड स्रोत है जिससे साहित्यिक भाषा पोषित और बलवती होती है। लोक भाषा से नितान्त विलग होकर कोई भाषा अधिक दिन तक न साहित्य में टिक सकती है और न ही अपना अस्तित्व बनाये रखने मे सफल हो सकती है। यथार्थवादी साहित्यकार जनवादी भाषा का समर्थन करता है। मार्क्सवादी लेखक होने के कारण यशपाल भी सरल भाषा के पक्षपाती हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के समान कथा-साहित्य मे क्लिष्ट साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। अपनी भाषा को जीवन्त बनाने एवं व्यापक रूप प्रदान करने के लिए यशपाल ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और समाज के विविध स्तरो से शब्द-चयन किया है। एक आदर्श भाषा मे सभी प्रकार के शब्दो का सम्मिश्रण रहता है। यशपाल के उपन्यासों मे प्रयुक्त शब्द-समूह केवल खडी-बोली के बोलचाल रूप तक ही सीमित नही हैं, वरन् उन्होने पात्र, परिस्थिति तथा अनुभूति और विचारो के अनुरूप उन सभी स्रोतों से शब्द ग्रहण किये हैं जिन्हे वे अपने अध्ययन और अनुभव के बल पर ग्रहण कर सकते थे।

(क) भाषा का स्वरूप

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्द प्रमुखतः तीन प्रकार के होते है—(१) तत्सम, (२) तद्भव, और (३) देशज या स्थानीय। इनके अतिरिक्त विभिन्न संस्कृतियों एव विभिन्न भाषाओं के साहित्य से भी आदान-प्रदान की प्रक्रिया में अनेक विदेशी शब्द किसी भाषा में स्थायी रूप से स्थान प्राप्त कर लेते है। यशपाल की भाषा का स्वरूप इन चार प्रकार के शब्दो से निर्मित हुआ है। उनकी भाषा मे संस्कृत के तत्सम शब्द है, तद्भव शब्दो का भी बाहुल्य है एवं स्थानीय शब्दो की भी उसमे सत्ता है। इनके अलावा, उर्दू-फारसी, अंग्रेजी, रूसी, पश्तो आदि अनेक विदेशी भाषाओ के अनगिनत शब्द भी आवश्यकता-नुसार धड़ल्ले से प्रयुक्त हुए हैं। इन चारो के मेल ने यशपाल की भाषा को गढ़ा है।

तत्सम—यशपाल अपनी कल्पना में अपने पात्रों एवं देश-काल और प्रसंग से इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि वह उन्ही की भाषा बोलने लगते है। इसीलिए

'दिव्या' मे ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण के हेतु उन्हे बौद्धकालीन शब्दावली का प्रयोग करना पड़ता है। इसमें सन्देह नही कि उपन्यास के अन्तर्गत अतीत के रूप-रङ्ग की रक्षा में लेखक की सस्कृत-गर्भित शैली तथा असाधारण प्राचीन शब्दावली ने विशेष योग दिया है, पर कतिपय स्थलो पर संस्कृत के अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से दुर्बोधता भी पैदा हुई है। यशपाल ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या'–'अमिता' में तथा पौराणिक उपन्यास 'अप्सरा का श्राप' मे सस्कृत के तत्सम-बहुल शब्दों का प्रयोग किया है। 'दिव्या' में प्रयुक्त कुछ शब्द, जैसे—'अन्तर्वासिक, अग्रहार, आस्तरण, उपरिक, उपायन, शकट, पतन, विष्टर, मेरय' आदि निस्सन्देह संस्कृत के अप्रचलित तत्सम शब्द हैं, इसीलिए लेखक ने ही पुस्तक के अन्त मे उनके अर्थ भी दे दिये है। पर इसके साथ ही यशपाल ने अनेक प्रचलित तत्सम शब्दों—'स्फुरित, सुप्त, तपःकीर्ति, वीथी, कपोत, निर्वाक, दुर्दान्त, गुह्य मार्ग' आदि—का भी प्रयोग किया है जिससे भाषा की बोधगम्यता मे कही कोई व्यवधान नही आया है। उल्टे, अभिव्यक्ति अधिक सशक्त बन गई है।

तद्भव—भाषा मे सहजता को स्वीकार करने वाला प्रत्येक लेखक तद्भव शब्दो का भी आश्रय लेता है। तत्सम की गम्भीरता के साथ तद्भव शब्दो की सहजता का समन्वय कर यशपाल ने अपनी भाषा को सहज-स्वाभाविक बनाया है। 'असगुन, घाम, दुलख, सिंगार, साँस, व्याह, जग (यज्ञ), जमराज, पलंग, साँझ, सुराज, बूढा, आँख' आदि शब्दो के प्रयोग से उनकी भाषा जीवन की भाषा के निकट आ गई है। कही-कही इनके द्वारा रमणीयता की सृष्टि की गई है।

स्थानीय या देशज—स्थानीय शब्दो के प्रयोग मे भी कलाकार यशपाल सिद्धहस्त है। अपने सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासो मे, विशेषकर 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा सच' मे लेखक ने अपनी यथा-तथ्यवादी चित्रण-पद्धति का परिचय दिया है। यदि 'दिव्या' और 'अप्सरा का श्राप' औपन्यासिक भाषा का एक उदाहरण प्रस्तुत करते है तो 'मनुष्य के रूप' और 'झूठा सच' नितान्त दूसरा उदाहरण। 'मनुष्य के रूप' उपन्यास मे कागडे के पहाड़ी प्रदेश के पात्रो की भाषा मे आंचलिक शब्दों—'मर्द-जणास(.......), पडतनी (घुटनों तक का अंगोछा), घिर्थ (कहार), मियाँ (अमीर राजपूत), लाड़ी (बहू), बझियाणी (मालकिन), समरेढ (समवयस्का), घराट (पनचक्की), तिहाजू (तीसरा विवाह), कमीन (.........) आदि—के प्रयोग से यथार्थता का पुट दिया है। रोहतक का भूरेसिंह जनपदीय (हरियाणी) बोली बोलता है।[1] इसी प्रकार 'झूठा सच' मे जगह-जगह पजाबी भाषा और लोकगीतो का सौंदर्य झलक उठता है। पजाबी भाषा के प्रचुर प्रयोग से उपन्यास मे आंचलिकता का संस्पर्श आया है। उपन्यास मे सैकडो पजाबी

१. मनुष्य के रूप, पृ० १२१

शब्द, वाक्य-के-वाक्य तथा लोकगीत आदि प्रयुक्त मिलेंगे, जो क्षेत्रीय वातावरण को मूर्तिमान कर देते हैं। 'झाई नालदा (दाल या सब्जी), औतर (निर्वंश), भुजंगी (बालक), गभरू (पति), अरदास (प्रार्थना), घ्यौ (घी), कुडमाई (सगाई)' आदि पंजाबी शब्द और 'बीबियो, भैणों, धियो, चलो प्रसादा छक लो (प्यारी बहनो—बेटियो, चलो, भोजन ग्रहण कर लो), 'लेल्लो, सस्ते, ताजे भुज्जे, छिल्ले-बदाम दी पुडी ! लेल्लोजी टके-टके (ले लो सस्ता, ताजे-भुने, छिले बादाम की पुड़िया। ले लो जी, दो-दो पैसे मे, दो-दो पैसे में !) आदि वाक्य हैं जिन्हें यशपाल ने पंजाबी जीवन और समाज से ग्रहण कर 'झूठा सच' में प्रयुक्त किया है। यशपाल पजाबी भाषा को हिन्दी की ही बोली मानते है, कोई स्वतत्र भाषा नही। उपन्यास मे उन्होंने जहाँ भी पंजाबी शब्दों का प्रयोग किया है, साधारणतः वहाँ उसका हिन्दी अनुवाद भी देते गये हैं ताकि पाठक को समझने मे कठिनाई अनुभव न हो। 'पार्टी कामरेड' का घटना-स्थल बम्बई है, अतएव बम्बई मे बोली जाने वाली दो प्रमुख भाषाओ मराठी-गुजराती के शब्द भी यशपाल की इस कृति मे आये हैं। 'जीमना, छोकरी' आदि गुजराती के शब्द हैं; इसी प्रकार 'चाल, पगार, खोली' आदि मराठी भापा के शब्द है जिन्हे यशपाल ने उपन्यास मे प्रयुक्त किया है और ये शब्द यथा-स्थान 'फिट' भी हो गये है।

विदेशी शब्द—उर्दू-फारसी :—उर्दू-फारसी के शब्दो से यशपाल को कोई विद्वेष या घृणा नही है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भाषा की सहजता और स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए यशपाल ने इन शब्दो का आश्रय लिया है। हिन्दी-उर्दू के सम्मिश्रित भाषा-प्रयोग के बीसियो उदाहरण उनके 'झूठा सच' तथा अन्य सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों में मिलेगे। विदेशी शब्दो के प्रयोग से यशपाल की भाषा मे गत्यात्मकता आई है। संस्कृत के तत्सम शब्दो की ही तरह हम उर्दू-फारसी के शब्दो को भी असुविधानुसार अप्रचलित और प्रचलित दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। 'हके खुदइखत्यारी (आत्म-निर्णय का अधिकार), मुतरज्जुम (अनुवादक), इश्तआल (उत्तेजना), फसानानवीस (कथाकार), बदकलामी (अशुभ बात), हौलनाक (भयानक), अदायरा (प्रकाशन), मुतफर्रिक खरीज (छुट्टा पैसा)' आदि ऐसे सैकड़ो अप्रचलित उर्दू के शब्द है जिन्हे यशपाल ने प्रयुक्त किया है और हिन्दी पाठक की सामान्य कठिनाई को दृष्टि से ओझल कर दिया है। परन्तु इसी के साथ उन्होने उर्दू के अनगिनत चलते और बहुप्रचलित शब्द भी प्रयुक्त किये है जिनसे भाषा मे चारुत्व और निखार आया है। 'सजीदगी, गुनहगार, रोजगार, गरीब, शामिल, हर्जाना, इत्तला, मुजरिम, खत्म, फर्ज, मर्दानगी, ताल्लुकात, फरेब, किस्मत, हर्गिज, अजीज, मौकापरस्त, खुदगर्ज, फरार, हुक्म, तहकीकात' आदि शब्द आज हिन्दी मे घुलमिलकर उसके ही अंग बन गये हैं और पाठक के लिए पूर्णतया बोधगम्य हैं।

अंग्रेजी :—यशपाल की भाषा पर, विशेषकर, वाक्य-रचना पर अंग्रेजी के शब्द समूह और मुहावरे का प्रभाव परिलक्षित होता है। बहुत स्थलो पर अग्रेजी की शब्दावली और मुहावरे यथावत् रूपान्तरित होकर प्रयुक्त हुए है। यशपाल ने अधिकाशत: राजनीतिक उपन्यास लिखे है, जिनमे राजनीतिक-आर्थिक प्रश्नो पर चर्चाएँ होवी हैं। उनके उपन्यासो के नायक-नायिका प्राय: उच्च शिक्षा प्राप्त साम्यबादी पात्र हैं, जो अपने सभाषणो मे अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए, अग्रेजी शब्दों का भरपूर प्रयोग करते हैं। 'दादा कामरेड' से लेकर 'बारह घण्टे' तक सभी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासों मे अनगिनत अग्रेजी शब्द आये हैं। कुछ अग्रेजी शब्दो और वाक्यांशो की सूची इस प्रकार है—'स्टुपिड, रूड, गर्ल-गेज़र, डेमोक्रेटिक, एक्सीडेंट, डिसिप्लिन, फ्रेंडशिप, शेम, हंग्री, वाथ, रिवोल्यूशन, थियरी, चेंज, प्रोपोज़' तथा 'ह्वाट इज राग, ह्वाट डु यू फील, लव इज़ दि ग्लोरीफाइड नेम फार सेक्स' आदि आदि।

भाषा के ये प्रयोग यशपाल के अग्रेजी साहित्य के अध्ययन के परिणाम है। इनके द्वारा हिन्दी की अभिव्यजना शक्ति बढ़ी है। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि लेखक ने इनके हिन्दी अर्थ नही दिये हैं। अतएव अग्रेजी ज्ञान से शून्य पाठक-वर्ग अवश्य ही इनको आत्मसात् करने मे अक्षम सिद्ध होगा।

पश्तो :—'देशद्रोही' उपन्यास की घटनाएँ वजीरिस्तान और रूस तक फैली हुई है। अतएव लेखक को पश्तो और रूसी भाषाएँ भी प्रयुक्त करने का अवसर मिल गया है। वज़ीरी पात्रो के मुख से पश्तो भाषा के प्रयोग सहज लगते हैं। 'हफ्त सद रुपिया मही (आठ सौ रुपया महावार), बल्लटो विल (भाग जाना चाहता है), हिश्त वोदा (नामर्द), खरबदोश (गधे का बच्चा), मिल्ली (पंचायत), ढेर डरा सड़ई (डरपोक आदमी)' आदि पश्तो भाषा के उदाहरण हैं।

रूसी :—'देशद्रोही' उपन्यास मे रूसी भाषा के भी बहुत-से शब्द प्रयुक्त हुए हैं। विलेत (पासपोर्ट), कोलखोज (संयुक्त खेती के गाँव), सीवखोज़ (सरकारी खेती के केंद्र), शशलिगपुती (यात्रा शुभ हो), गस्तानित्सा (होटल), मैट्रो (सुरगो मे चलने वाली विजली गाडी), ऐस्केलेटर (चालू सीढी), मीर (शाति), दा दा (हाँ, हाँ)' आदि कितने ही शब्द यथास्थान वर्णन के क्रम मे आये हैं। एक जीवित भाषा के विकास के लिए यह लेखकीय दृष्टिकोण आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

निष्कर्षत: यशपाल की भाषा का सबसे बडा गुण है उसका लचीलापन। 'दिव्या' की तत्सम-बहुल संस्कृतनिष्ठ भाषा तथा 'झूठा सच' की सहज, गतिमयी और व्यजनापूर्ण भाषा दोनो अलग-अलग हैं। यशपाल के कलाकार की सफलता का सबसे बडा रहस्य यह है कि उनके मन मे कथ्य प्रमुख बनकर छाया रहता है, अतएव वे भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति और उनकी बोधगम्यता को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। इस कार्य के

लिए जहाँ से भी, जिस-रूप में शब्द मिले, निस्संकोच लेकर उन्हे पात्र और परिस्थिति के अनुरूप प्रयुक्त किया है। इसीलिए यशपाल के उपन्यासों मे भाषा के विविध रूप मिलते है।

पात्र एवं प्रसंग के अनुरूप भाषा

यथार्थवादी उपन्यासों की भाषा पात्र एवं प्रसंगों के अनुरूप होती है। यशपाल ने हिन्दू पात्रों से हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानों से उर्दू का प्रयोग करवाया है। अहिन्दी-भाषी पात्र टूटी-फूटी हिन्दी मे बाते करते है। जहाँ अनपढ़, अशिक्षित ग्रामीणो का प्रसग आता है, यशपाल ठेठ भाषा का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अपनी बातचीत मे पग-पग पर अंग्रेजी शब्दावली का प्रयोग करते दिखाई देते हैं।

सैद्धातिक विवेचन में भाषा पारिभाषिक शब्दावली से लद गई है। "जब यशपाल मार्क्सवादी चिन्तन अथवा कम्युनिस्ट पार्टी की कार्य-प्रणाली का स्पष्टीकरण करते है तब उनकी भाषा मे मार्क्सवादी शब्द-योजना की भरमार हो जाती है। आर्थिक शोषण श्रेणी-संघर्ष, बूर्जुआ मनोवृत्ति के साथ-साथ मासफोर्स, प्रोलिटेरियट क्लास, सेल्फ डिटरमिनेशन, एंटी इम्पीरियलिस्ट, आर्गेनाइज्ड वर्किंग क्लास एण्ड पेजेंट्री जैसे शब्दो का वे प्रचुर प्रयोग करते हैं। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा मार्क्सवादी तर्कों को प्रस्तुत करने के प्रयास मे मार्क्सवादी रंग में रंग जाती है।"[1] इसके अतिरिक्त यशपाल की कृतियो मे भाषा-लालित्य भी है। नारी-सौन्दर्य का चित्रण हो, अथवा प्राकृतिक दृश्य का वर्णन हो, वहाँ भाषा आलंकारिक मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि प्रसंग के अनुरूप भाषा-विषयक जो परिवर्तन हमें यशपाल की रचनाओ मे दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पात्रानुकूल भाषा के उदाहरण

रुद्रधीर अभिजात-वर्गीय ब्राह्मण वंश का व्यक्ति है। ब्राह्मण संस्कार एव अभिजात्य उसके रक्त मे मिला हुआ है। उसकी वाणी मे ब्राह्मण-भाषा संस्कृत के शब्दो का आधिक्य स्वाभाविक है। अशुमाला से वार्तालाप के समय उसकी भाषा का जो रूप दिखाई पड़ता है, वह उक्त कथन के सर्वथा अनुकूल है—"भद्रे कचन की खान से लौह उत्पन्न नही हो सकता। वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है, न कुल छीन सकता है। तुम्हारी धमनियो मे

---

१. डॉ० (श्रीमती) ओम शुक्ल : हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास, पृ० २०४

विप्र का रक्त है। कीचड़ मे गिर कर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता।"[१]

भाषा की स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए यशपाल ने मुसलमान पात्रो के मुख से उर्दू का प्रयोग करवाया है। मज़हर मुसलमान है। परम्परा से उसकी ज़बान पर उर्दू चढी हुई है, इसलिए उसका उर्दू बोलना ही सहज है। धर्नासिह को समझाते हुए उसकी भाषा का एक उदाहरण देखने योग्य है—"बेटा, मालिक से झगड़ा करना खुदा के इन्साफ से मुनकिर होना है। अल्लाह सब देखता है। सब्र करो। मालिक से माफी माँग कर उसकी सजा बर्दाश्त करो। खुदा इन्साफ करेगा। मालिक के दिल मे रहम देगा।"[२]

ब्रिटिश शासन-काल मे विदेशी सरकार ने हमारे देश मे अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार के लिए खूब प्रयत्न किया। अंग्रेजी जानने वालो को सरकारी नीतियो के कारण सामाजिक सम्मान और कोई ऊँचा पद बड़ी सुविधा से मिल जाता था। परिणामतः अंग्रेजी बोलने वाला व्यक्ति बड़ा गौरव महसूस करता था। वह जब कोई भारतीय भाषा भी बोलता था तो उसमे अंग्रेजी के तमाम शब्द भर देता था। धीरे-धीरे यह उसकी आदत बन गई। इसी आदत का शिकार 'झूठा सच' का हीरालाल है। उसकी हिन्दी अंग्रेजी के शब्दों से लदी हुई है—

> "बूर्जुआ डेमोक्रेटिक रेवोल्यूशन का हमारे देश मे प्रश्न ही नही है। यहाँ पोलिटिकल पावर फ्यूडल या जमीदार क्लास के हाथ में नही है, कैपिटलिस्टो के हाथ मे है। हमारा टास्क लैंडलेस पेजेंटरी और वर्किंग क्लास (बे जमीन के किसानो-मजदूरो) को लेकर पोलिटिकल पावर पर कब्ज़ा करना है।"[३]

अहिन्दी भाषी पात्र जब हिन्दी बोलते हैं तो उनकी भाषा का रूप टूटा-फूटा हो जाता है। मराठे महाराष्ट्र का राजनीतिक कार्यकर्त्ता हैं। मजदूरो और मालिको में समझौता कराने के उद्देश्य से गई राजबीबी की बात सुनकर वह कहता है—

> "कौन कहता है, मिले मजदूर का नई है? मजदूर मेहनत नही करेगा तो मालिक मुनाफा किधर से करेगा? मुनाफा नई होने से मिल किधर से बनेगा? मजदूर की मेहनत की कमाई को जमा कर मालिक मिल बनायेगा तो मिल मजदूर का होगा कि मालिक का? आपका यह अंग्रेज सरकार

---

१. दिव्या, पृ० १७०

२. मनुष्य के रूप, पृ० ४६

३. झूठा सच, पृ० ३२४, देश का भविष्य

> हिन्दुस्तान को जब स्वराज देगा तो क्या जितना रेल और सरकारी इमारत हिन्दुस्तान के रुपिया से बनाया, वो सब विलायत उठा ले जायगा।"[1]

ड्राइवरो की भाषा उनके परिवेश और कामधधे की प्रकृति के कारण सामान्य व्यक्तियो की भाषा से भिन्न होती है। थका कर तोड़ देने वाला उनका काम और उससे राहत पाने के लिए उनका शराब पीना सामान्य बात है। नशे की हालत में जबान पर उनका वश नही रह जाता। परिणामतः बात-बात में वे गालियाँ बकते रहते है। धीरे-धीरे यह उनके चरित्र की एक विशेषता बन जाती है। और तब यदि गंभीर चर्चा भी करेगे तो भी उनकी भाषा गालियो से ही भरी होगी। धनसिंह के प्रश्न पर ड्राइवर कुदर्नसिह गम्भीर वार्ता मे लगा हुआ है। उसकी भाषा का रूप देखिए—

> "अगर तुझे इस मामले मे सजा हो जाय तो यह पेशाब से मुड़वा दूंगा। यूनियन को तू क्या समझता है? सौ आदमी इक्कठे हो जायें तो पहाड को धकेल दे। कम्पनी साली तो हमारी कमाई खाती है। माँ के खसम मालिक तो लुगाइयो को लेकर बिस्तर में पड़े रहते हैं। जान हथेली पर रखे, बरसात मे गिरते पहाडों पर से आदमियों को तो हमी ढोते हैं। मैंने इस कम्पनी मे नौकरी की थी तो छः मोटरें थी। सिर्फ छः; समझे वेटा! अब एक सौ साठ हैं। कहाँ से आ गईं ये? मालिकों की......मे से? साले, यह कुदर्नसिह का खून पसीना है। तेरी माँ का....... साले यह तेरी कमाई है। और अकेला-अकेला ड्राइवर क्या है? जैसे गडेरी चूसकर फेक दो। तेरी बहन का......खबरदार जो अपने साथियों के साथ दगा किया! बेटा, हौसला रख!"[2]

गालियो से भरी भाषा के ऐसे रूप के विविध प्रसंगों को देखकर कई आलोचको ने यशपाल पर भाषागत अश्लीलता का दोष लगाया है। पर द्रष्टव्य यह है कि ये पात्र जब माँ-बहन के गुप्तांगों का नाम लेकर गालियाँ देते हैं तो क्या पाठक का ध्यान उन्ही गुप्तांगो की ओर जाता है? यदि ऐसा हो तो निश्चय ही यशपाल की भाषा पर अश्लीलता का दोषारोपण किया जा सकता है। पर वस्तुतः ऐसा कुछ होता नही। पात्र की विशेष मनःस्थिति—क्रोध, आवेश, झल्लाहट आदि—ही पाठक के सम्मुख आती है। इसलिए यशपाल पर अश्लीलता का दोषारोपण अर्थहीन है।

---

१. देशद्रोही, पृ० ८५
२. मनुष्य के रूप, पृ० ४६

पुलिस विभाग के कर्मचारियों—सिपाही, दारोगा आदि—की भाषा भी गालियों से भरी रहती हैं, पर उसका रूप ड्राइवरों की गालीवाली भाषा के रूप से कुछ भिन्न होता है। ड्राइवरो की भाषा सपाट होती है, जबकि सिपाही-दारोगा आदि की भाषा सपाटता मे भी कुटिलता और टेढापन लिये रहती है। वस्तुतः पुलिस-विभाग होता ही है टेढा—अन्दर-बाहर हर तरफ से। उसके घिनौने टेढेपन का प्रभाव उसकी भाषा पर भी दिखता है। सोमा को पकड कर सिपाही दारोगा के सामने पेश करता है। उनकी आपसी बातचीत की भाषा देखिए—

> "हुजूर, यह रांघड (राजपूत) पट्ठी (नवयुवती) को भगाये लिये जा रहा है।"
>
> "दारोगा साहब लेटे रहे। नेचे से धीमे-धीमे कई कश लेकर सुस्त-सी आवाज मे पूछा—"पट्ठी है कि खाखड (बेकाम प्रौढ़ा)?"
>
> "हजूर, बिल्कुल नई पठोरी (अनब्याई) है! कहता है, मेरी जणास है। हजूर, उसके नाक मे न बुलाक है न कील! अभी ताजी राँड हुई लगती है। मर्द लडाई पर मरा होगा। मर्द के मरने की खबर सुनी और साली भाग चली!"[1]

गाँव के रहनेवाले अशिक्षित पात्रो की भाषा पर ग्रामीण प्रभाव का दिखाई पडना अत्यन्त स्वाभाविक है। भूरेंसिह स्वतंत्रता-आन्दोलन से प्रभावित होकर कांग्रेस का राजनीतिक कार्यकर्त्ता बन गया है। गिरफ्तार होकर वह जेल मे बन्द है। कुछ कैदी पढ़े-लिखे और अंग्रेजी जाननेवाले हैं। बहसे, प्रायः वे अंग्रेजी में ही करते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की आलोचना करता हुआ भूरेंसिह कहता है—

> "ये क्या गिट्ट-पिट्ट करो हो जी? सिद्धे-सिद्धे अपणी बोल्ली मे बोल्लो, हमारी भी समझ मा आवे। अपणे भाइयां ते किस बात का पर्दा है जी? जणता ही हमारी बात नई समझेगी तो क्या अग्रेजों के समझाणे खातिर अंग्रेजी मां गिट्ट-पिट्ट मारो हो?"[2]

भूरेंसिह रोहतक का रहने वाला है। इसलिए उसकी भाषा मे रोहतक की बोली के अनेक शब्द दिखाई पडते हैं, जो बडा ही स्वाभाविक है।

एक दूसरा पात्र हाथरस के सिघेरा गाँव का किसान है। राजनीतिक दलों की टेढी चालो से तग आकर वह क्या अनुभव करता है और उसे किस भाषा मे प्रकट

---

१. मनुष्य के रूप, पृ० ६३-६४
२. वही, पृ० १२१

करता है, देखिए—

> "लौट जाओ, जिधर ते आये हो ! नही तो मेरे सिर आदमी की हत्या देते हो। बहुत देखे हैं तुम्हारे जैसे टोपी वाले काग्रेसी बनिये ! देहातिन को नोंच-नोच खाय डारो तुमने। आज किसान को खतरे दामों चार पैसे बनावन को वक्त आयो है तो उल्टी पट्टी पढावन चले आये। लौट जाओ। सिर फोड डाटेगे गाँव में पाँव धरो तो।"[1]

प्रसंगानुकूल भाषा के उदाहरण

यशपाल को भाषा की प्रकृति का—व्याकरणिक दृष्टि से नही, अर्थ और आन्तरिक शक्ति की दृष्टि से—बडा ही सूक्ष्म बोध है। इसीलिए प्रसगो के बदल जाने पर उनकी सही अर्थाभिव्यक्ति के लिए वे बिल्कुल भिन्न प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हैं। राजनीतिक या समाज-व्यवस्था सम्बन्धी चर्चा होगी तो उनकी भाषा राजनीतिक और समाजशास्त्रीय पदावलियो से भर उठेगी और जब प्रेम-प्रसग होगा तो उसमे अजीब चुलबुलापन और रवानी दिखाई पडेगी। यशपाल का स्वतः का एक कथन उद्धृत किया जा रहा है, जिसमे समाजशास्त्रीय पदावलियाँ पर्याप्त मात्रा मे व्यवहृत हुई हैं—

> "अधिक पैदावार की आवश्यकता होने पर जब मजदूरो की मेहनत करने की शक्ति का मूल्य और कद्र बढ़ रही हो, मजदूर लोग अपनी शक्ति को पहचान कर अपने सामूहिक प्रयत्न से समाज के जीवन की व्यवस्था मे ऐसा परिवर्तन कर सके कि उन्हे उनकी मेहनत के अनुपात मे पैदावार का भाग मिल पाये और राजनैतिक शक्ति उनके हाथ मे आ सके। मजदूर अपनी शक्ति से जिस समाज को पालते हैं, उसकी व्यवस्था निश्चित करने का अधिकार भी उन्हे हो। पैदावार और व्यापार का नियंत्रण करने वाले उन्हे पशुओ की भाँति न हाँकते रहे। वे स्वय अपने मालिक बन सके।"[2]

डॉ० खन्ना शिवनाथ से राजनीतिक बहस करते हुए द्वितीय महायुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अपनाई गई नीति का स्पष्टीकरण कर रहा है—

> "अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति से गुलामी का बन्धन काटने की नीति ठीक है परन्तु कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे गुलामी का बंधन कटने की आशा हो; बन्धन कडा हो जाने की नही। भारत के लिए वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय

---

१. मनुष्य के रूप, पृ० १३४

२. देशद्रोही, पृ० १४६

परिस्थिति मे फैसिस्ट-विरोधी मोर्चे मे सम्मिलित होने के सिवा और कोई चारा नही है। इस नीति से हम फैसिस्ट-विरोधी युद्ध में मित्र राष्ट्रो का हाथ बँटाने के कार्य मे अपने शासन का अधिकार भी पा सकेंगे।"[1]

द्रष्टव्य है कि यहाँ भाषा राजनीतिक शब्दावलियो से लद उठी है। लेकिन इसी खन्ना की भाषा का दूसरा रूप देखिए जब वह चन्दा से प्रेम की बाते कर रहा है। चन्दा और खन्ना दोनो परस्पर बाते कर रहे हैं—

"चन्दा ने गद्गद होकर कह दिया—'डॉक्टर साहब, आप से तो बहस में जीतना कठिन है।"

'जीत कर आपको बहुत संतोष होगा ?' खन्ना ने पूछा।

'और क्या ?' चन्दा ने उसकी आँखो मे देख मुस्करा दिया।

'बहुत अच्छा ! आप जो चाहे कहिए, मैं उत्तर न दूँगा।'

'हाय, वह भी कोई जीतना है !'

'तो फिर आप जीतना नही चाहती !'

'न बाबा !"

गभीर तात्विक विवेचन के समय यशपाल की भाषा उसी तरह का बाना धारण कर लेती है। एक उदाहरण दिया जा रहा है जिसमे जीवन का तात्विक विश्लेषण अत्यन्त गभीरता के साथ किया जा रहा है। शब्द हैं तो छोटे-छोटे, पर वे पूरी गंभीरता और गरिमा लिये हुए हैं—

"लाठी, लाठी है और बन्दूक, बन्दूक। एक के साथ चोट का सबध है, दूसरी के साथ मृत्यु का। फिर सेना और भीड मे अतर होता है। सेना में प्रत्येक सिपाही कर्तव्य को व्यक्तिगत रूप से निबाहता है और मौत का सामना सामूहिक रूप से करता है। भीड की मनोवृत्ति उल्टी होती है। वहाँ कर्तव्य का बोझ सम्मिलित रूप से होता है और जान का भय सभी को व्यक्तिगत रूप से। भीड को आगे बढने और पीछे लौटने मे किसी की आज्ञा की आवश्यकता नही होती। व्यक्ति आगे बढ़ता है दूसरो के साहस से और पीछे भागता है, अपनी कायरता के कारण।"[2]

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

लेखक मुहावरे और लोकोक्तियो का प्रयोग प्रायः दो उद्देश्यो से करता है। भाषा में वक्रता और विदग्धता ले आने के लिए तथा सूक्ष्म और जटिल भावो को तीक्ष्ण

---

१. देशद्रोही, पृ० २४६

१. वही, पृ० २८

अभिव्यक्ति देने के लिए। प्रेमचन्द और अपने कुछ समकालीन कथाकारों की तुलना मे यशपाल के विपुल साहित्य-भडार मे मुहावरे और लोकोक्तियो का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही हुआ है, पर जो भी हुआ है, वे विचार और अनुभूति के अग बनकर आये हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे और लोकोक्तियो को हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मुहावरे : मेहदी रचाये बैठना, हृदय मुँह को आना, आसमान से तारे तोड़ना, बाल बाँका करना, आग मे तेल डालना, चेहरे का रग उडना, बिजली-सी छू जाना, दो टूक बात करना, आँखे चुराना, पापड़ बेलना, पर लगना, घुटने टेकना, नाको चने चबाना, बादल मे चिन्दी लगाना, गाजर-मूली की भाँति उखाड फेकना, पाँव तले धरती फट जाना, अपने पैरो पर खडा होना, बेडा गर्क करना, आँख का पानी मर जाना, किसी के आगे हाथ पसारना, आदि आदि।

लोकोक्तियाँ : (१) जर, जोरू, जमीन जोर की, नही और की, (२) कम खर्च में बाला-नशीनी, (३) भागते भूत की लगोटी ही भली, (४) सौ दिन चोर का तो एक दिन साहू का, (५) हाथ कंगन को आरसी क्या, (६) सकट मे सहायक हो सो ही मित्र, (७) वीरभोग्या वसुन्धरा, (८) सौ स्वर्णकार की तो एक लौहकार की, (९) जल मे रहकर मगर से बैर, (१०) हाथी के पाँव मे सबका पाँव समा जाता है, इत्यादि।

(ख) भाषा की शक्ति

शब्द-शक्ति—आलकारिकों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी है—(१) अभिधा, (२) लक्षणा, और (३) व्यंजना। अभिधा शक्ति शब्द के उस अर्थ को प्रकट करती है जो कोश और व्याकरण से प्राप्त है, जिसे परम्परा से एक मनुष्य दूसरे से सुनता और सीखता आ रहा है। उदाहरण के लिए 'गधा' शब्द कहने से एक जीव विशेष का ज्ञान होता है, बीच में कोई बाधा नही पड़ती। यह अर्थ कोश से, व्याकरण से और व्यवहार से तथा विश्वसनीय व्यक्ति से जाना जा सकता है। इस शक्ति द्वारा जो अर्थ-ज्ञान होता है, उसे वाच्यार्थ कहते हैं।

परन्तु जब कहा जाता है कि 'लड़का गधा है' तो स्पष्ट है कि 'गधा' शब्द का वाच्यार्थ काम नही दे सकता। हम जानते हैं कि कोई लडका गधा नही होता। फिर भी भाषा मे ऐसे प्रयोग निरन्तर होते रहते है और विज्ञ पाठक समझ भी लेते हैं। जब कहा जायगा कि लड़का गधा है तो समझदार आदमी समझेगा कि लड़का मूर्ख है, अशिक्षित है, मंदबुद्धि है। सम्पूर्ण शब्द-सागर ढूंढ़ने पर भी गधा शब्द का यह अर्थ नही मिलेगा। अतएव, निश्चय ही अभिधा के सिवा और भी कोई शक्ति शब्द में अवश्य

है और गधे के मुख्य अर्थ को दबाकर एक दूसरे अर्थ को प्रकाशित करती है। इस शक्ति को लक्षणा कहते है और इस शक्ति से जो अर्थ व्यक्त होता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की एक तीसरी शक्ति भी आलकारिक आचार्य मानते हैं। इस तीसरी शक्ति का नाम व्यजना है। इससे जो अर्थ सूचित होता है, उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। एक पदयात्री ने अपने दूसरे सह-पदयात्री से कहा—'सूर्य अस्त हो गया।' साथी ने इसका अर्थ समझा कि यात्रा स्थगित करे, रात्रि मे कही रुक कर विश्राम कर लेना आवश्यक है। यह अर्थ वाच्य नही हो सकता है। साथ ही यह लक्ष्यार्थ भी नहीं है। यहाँ एक तीसरा ही अर्थ कार्य कर रहा है, जिसे सन्दर्भ से जाना जा सकता है।

वस्तुतः शब्द-शक्ति काव्य का प्रकरण है, पर सामान्य बोलचाल मे भी हम इसका प्रयोग करते हैं। यशपाल का सारा कृतित्व गद्यात्मक है, इसीलिए अभिधामूलक। अभिधामूलक कथनो में विशिष्ट भगिमाएँ लाने के लिए यशपाल ने जगह-जगह लक्षणा और व्यजना का प्रयोग किया है। अभिधा का उदाहरण नही दिया जा रहा है क्योकि गद्य तो अभिधा-प्रधान होता ही है। लक्षणा और व्यंजना के कुछ उदाहरण यशपाल के उपन्यासो से नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

लक्षणा के उदाहरण

१. ब्राह्मण देवता कुक्कुर है। (दिव्या, पृ० ५३)
२. है भाई, है ! मछली काँटा निगलेगी। (पार्टी कामरेड, पृ० ११)
३. कालेज की लडकी......वह खुद खिलाडी है। उडकर बादल मे चिन्दी लगा आए !......अपना कान ढूँढ़ते फिरोगे पंडित ? (पार्टी कामरेड, पृ० १०)
४. नही, अब तो पतग कटकर नीचे नाली मे गिर चुकी है, और क्या गिरेगी ? पतंग कितनी ऊँची चढ़ गई थी ! (मनुष्य के रूप, पृ० २३१)
५. सेठ, तुम कारोबारी आदमी हो। अक्खडपने मे क्या रखा है ? एक चिड़िया जाल से उड ही गई तो क्या ; जाल को तोड़ डालोगे ? और सैकड़ों फँसेगी। (मनुष्य के रूप, पृ० २५०)।
६. खुदा ने गीदड बना कर पैदा किया है, शेर तो बन नही जायेंगे, पर शेर के पीछे लगे रहो। (मनुष्य के रूप, पृ० २६३)

ऊपर के उदाहरणो में 'कुक्कुर, गीदड, शेर, मछली, पतग, चिडिया', आदि शब्दो का वही अर्थ नही है जो शब्दकोश में उपलब्ध है, अर्थात् उनके मुख्यार्थ बाधित हैं। 'कुक्कुर' का अर्थ है चाटुकार; 'गीदड़' का भीरु, दुर्बल; 'शेर' का साहसी, पराक्रमी;

'मछली' का गीता; 'पतग' का सोमा और 'चिड़िया' का युवा स्त्री।

व्यंजना के उदाहरण

१. कुछ लोगो की वीरता कुछ न समझने मे ही रहती है।

(दादा कामरेड, पृ० ६३)

२. चन्दा ने पूछा, "क्यों ? तुम्हारा माथा कुछ गरम लगता है।"
"नही, तुम्हारे हाथ शीतल है।" खन्ना ने दृष्टि उठाकर उत्तर दिया।

(देशद्रोही, पृ० २१०)

पहला उदाहरण नैनसी का कथन है। मीराजकर बना हरीश सगीत के सबध मे अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर रहा है। नैनसी उसका प्रत्याख्यान उक्त कथन द्वारा करती है। पर उसका मन्तव्य मीराजकर (हरीश) की सगीत-सम्बन्धी अनभिज्ञता का प्रत्याख्यान करना मात्र नही है, कुछ और भी है। वस्तुतः वह अपने प्रति हरीश के उस उदासीन व्यवहार की ओर इगित करना चाह रही है, जो नैनसी को साले डाल रहा है। इसलिए उपयुक्त अवसर पर नैनसी हरीश की नासमझी के नाट्य पर इस कथन के रूप मे व्यंग्यात्मक प्रहार करती है।

दूसरे उदाहरण में चन्दा और खन्ना के कथन ऊपर से सामान्य लगते है, पर खन्ना का यह कथन—"नही, तुम्हारे हाथ शीतल हैं" सिर्फ इतना ही नही कहता कि चन्दा के हाड-मांस के हाथ ठण्डे हैं। उसका तात्पर्य यह है कि परिस्थितियो के कारण खन्ना के जलते हुए हृदय को उसके हाथों के स्पर्श से एक विशेष प्रकार का सन्तोष मिल रहा है। वह अपनी पीडा भूलकर एक विशेष मानसिक सुख पा रहा है।

सूक्तियाँ

सूक्ति जीवन का अनुभवगत सत्य है। लेखक अपने जीवनगत निष्कर्षों को इसमे गूँथ देता है। यशपाल का जीवन अत्यन्त सघर्षमय और रोमांचकारी रहा है। उनके कटु-मधुर अनुभव उनकी सूक्तियो मे बिखरे पड़े हैं। लेखन के बीच-बीच मे इन सूक्तियों के सन्निवेश से भाषा मे शक्तिमत्ता आई है। कुछेक सूक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं :—

१. जर्नलिज्म सियासत का जहाज़ है। (झूठा सच—वतन और देश, पृ० ४६)
२. कर्म बिना सिद्धान्त मिथ्या और निष्फल है। (मनुष्य के रूप, पृ० १८०)
३. प्रत्येक संध्या नये सूर्योदय का आश्वासन लेकर आती है। (वही, पृ० १०५)
४. सहृदयता जीवन की शोभा है। (वही, पृ० ८३)
५. पुरुष के लिए उन्माद और सामर्थ्य की चरम साधना है नारी।

(पार्टी कामरेड, पृ० १६)

६. जीवन की सार्थकता अधिकार और सामर्थ्य मे है। (दिव्या, पृ० ५१)

७. संसार केवल शक्तिशालियों के लिए है। दुखियों के लिए वैराग्य ही सुख है। (वही, पृ० १२३)

८. जागती हुई चीटी की शक्ति सोते हुए हाथी से अधिक होती है। (वही, पृ० १८०)

९. लावण्य और भीरुता का सयोग आवश्यक है। (अप्सरा का श्राप, पृ० २७)

१०. विद्या-धन और कन्या-धन की निष्पत्ति और सार्थकता उन्हे सुपात्र को दे देने से ही होती है। (वही, पृ० ७२)

११. साँड और साधु से क्या झगडा। इन्हे मार्ग दे देना ही ठीक है। (अमिता, पृ० ६१)

१२. राजहठ, बालहठ और स्त्री-हठ इनमे से किसी एक का भी विरोध कठिन है। (वही, पृ० १२१)

(ग) भाषा का सौन्दर्य

अलंकरण—अलकार भाषा के सौन्दर्यवर्धक तत्व हैं। इनका प्रयोग प्रायः काव्य की भाषा मे होता है। अपनी रूप-रचना के कारण काव्य विवरणात्मकता को प्रश्रय नही दे पाता। उसे थोडे मे बहुत कुछ कहना पड़ता है। साकेतिकता काव्य-भाषा की बहुत बड़ी विशेषता है। साकेतिकता लाने के लिए कवि अलकारो का प्रयोग करता है, लक्षणा, व्यजना शब्द-शक्तियो का आश्रय लेता है। परन्तु जब अलकार का प्रयोग अलकार के लिए होने लगता है, तब वह एक प्रकार का अनावश्यक बोझ बन जाता है। यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए अस्वास्थ्यकर है। अस्तु, अलकार मुख्य रूप से काव्य-भाषा का वैशिष्ट्य है।

गद्य की प्रवृत्ति सब कुछ विवरणात्मक रूप मे प्रस्तुत करने की होती है। फलस्वरूप, अलकारो के लिए उसमे बहुत अवकाश नही होता। यदि हठात् एव सायास गद्य मे कोई लेखक अलंकारो का अधिक प्रयोग कर दे, तो गद्य का अपना आकर्षण नष्ट हो जाता है। पर लेखन के प्रवाह मे अलकार, यदि, स्वाभाविक रूप मे आ जायें, तो गद्य-भाषा का भी सौन्दर्य बढ़ जाता है, उसमे विशेष प्रकार का तेवर आ जाता है।

यशपाल की भाषा में अलकारो का प्रयोग इसी स्वाभाविक रूप मे हुआ है, उनका कही भी अनावश्यक ठूँसठाँस नही है। वे जहाँ कही भी प्रयुक्त हुए है, आवश्यक-से लगते हैं। इसीलिए कथन की सांकेतिकता और तज्जन्य सौन्दर्य को वढाने वाले भी। यशपाल की भाषा मे प्रयुक्त कुछ अलकार उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये जा रहे है।

उपमा

१. शिवनाथ गरम तन्दूर की भाँति सन्ना रहा था। (देशद्रोही, पृ० २८)
२. गरमी मे आवे की तरह तपने वाली उसकी कोठरी जाडे में खूब ठडी हो गई। (देशद्रोही, पृ० ३२)
३. वह सोठ की गाँठ की तरह सिकुडता जाता। (देशद्रोही, पृ० ३२)

उपर्युक्त तीनो उदाहरणो मे प्रयुक्त उपमाएँ जहाँ एक ओर यशपाल की भाषा मे सौन्दर्य की वृद्धि कर चुभनशीलता पैदा करती हैं, वही इनसे यशपाल का जनवादी कलाकार होने का भी प्रमाण मिलता है। विषयवस्तु की दृष्टि से यशपाल जनवादी साहित्यकार है ही, भाषा के स्तर पर भी उनकी जनवादिता इन उद्धरणो से सिद्ध होती है। तीनों उपमाएँ सीधे जीवन से ले ली गई हैं। परम्परागत उपमाओ का परित्याग कर सीधे जन-जीवन से उपमाएँ ग्रहण करना प्रगतिशील और जनवादी कलाकार के लिए ही सभव है।

रूपक

१. गिरधारीलालजी का अनुमान अल्हड़ नवयुवा बेटी की चतुरता के आच्छादन को सहज ही बेध गया। (झूठ सच – वतन और देश, पृ० १८२)
२. तारा के कान उन शब्दो के लिए आतुर थे, जैसे सीप स्वाती नक्षत्र की बूँद पा लेने के लिए अपने पुट खोल देती है। (वही, पृ० ३८४)
३. मध्यम श्रेणी अनिश्चित स्थिति के लोगों की एक अद्भुत पचमेल खिचड़ी है। (दादा कामरेड, पृ० २०)
४. उस अद्भुत दृश्य और यात्रा की उमंग से हृदय की नदी में आई आह्लाद की बाढ़ का जल कम होकर तली मे बैठे टीलो और कगारो के सिरे प्रकट होने लगे। (वही, पृ० ६१)
५. बावरे पंछी, बादलो को चाँद ने ढँक लिया है तो तू क्रोध मे अपने ही पंख क्यों नोच रहा है, आत्महत्या क्यो कर रहा है? (अमिता, पृ० १०६)
६. समय ही उसे समाप्त कर उसकी सहायता कर सकता था और समय, दिन, सप्ताह और मास के रूप मे जल की धारा की तरह बहता जाता था, राज के दुःख की स्थिर विशाल चट्टान को स्पर्श करता हुआ। वह चट्टान अपनी दृढता के कारण समय की धार की रगड से गली नही, उस पर मौन की काई जम गई और वह चट्टान और भी अस्पृश्य हो गई।
(देशद्रोही, पृ० ३६–४०)

उपर्युक्त स्थलो मे रूपको के प्रयोग से भाषा मे जो बाँकपन आ गया है, उससे भाषा का सौन्दर्य तो द्विगुणित हो ही गया है, साथ ही लेखक का भाव पाठको तक

अपनी पूरी अर्थवत्ता और चुटीलेपन के साथ सम्प्रेषित होता है। लेखन का प्रमुख लक्ष्य सन्निहित रहता है लेखक की अनुभूति के पूरी सजीदगी के साथ पाठक तक सम्प्रेपित होने मे। अलकारों के प्रयोग से यशपाल ने इस लेखकीय उद्देश्य मे पर्याप्त सफलता पाई है।

उत्प्रेक्षा

१. ऐसा मालूम हुआ जैसे बरसाती मेढको के समूह पर चील आ पड़ी हो।

(पार्टी कामरेड, पृ० २५)

२. पानी बरसते समय अधिकांश लोग बरसातियाँ और छतरियाँ लेते तो जान पड़ता, पूरी सडक पर कुकुरमुत्ते ही कुकुरमुत्ते घूम रहे हो।

(झूठा सच, वतन और देश, पृ० ३६७)

३. उसके लिए जेल से स्वतन्त्रता ऐसी ही थी जैसे एक चिड़िया के पंख तोड़कर बिल्लियो के सामने पिंजरे से बाहर फडफडाने के लिए छोड़ दिया जाये।

(मनुष्य के रूप, पृ० ८८)

इन उद्धरणो मे उत्प्रेक्षा के प्रयोग से कही किसी की मन:स्थिति का, कही व्यक्ति की सामाजिक दुरवस्था का और कही प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया गया है। उत्प्रेक्षा के प्रयोग के बिना कथन मे वह शक्ति और सम्प्रेषणीयता न आ पाती, जो सम्प्रति दिखाई पडती है।

इसी तरह दृष्टान्त, मानवीकरण आदि-आदि प्राचीन और नवीन अलकारो की सहायता भी उपन्यासकार यशपाल ने अपनी बात को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने के लिए ली है। मानवीयकरण का एक उदाहरण देकर यह चर्चा समाप्त की जा रही है।

मानवीकरण

१. इजन ने चीख-चिग्घाड़, गर्जन-तर्जन द्वारा बोझ वहुत अधिक होने की शिकायते की, क्रोध और बेबसी में वहुत-सी फुकारो से धुएँ के वादल छोडे। फिर लाचार गाडी को धीमे-धीमे खीचना शुरू किया।

(झूठा सच—देश का भविष्य, पृ० १२१)

आगे हम यशपाल की भाषा में पाये जाने वाले कतिपय दोषो की चर्चा करेंगे।

यशपाल के उपन्यासों में प्राप्त भाषागत दोष

यशपाल के उपन्यासो में पाई जाने वाली भाषा-सम्बन्धी त्रुटियो के कुछेक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। ये त्रुटियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। इनमे प्रचलित व्याकरण-

सम्मत नियमों की स्पष्ट अवहेलना है। स्पष्टता के लिए हम उन्हे चार श्रेणियो मे विभक्त कर प्रस्तुत करते हैं।

(क) लिंग-सम्बन्धी भ्रांतियाँ

१. अली ने एक गहरा **सांस** लिया। (दादा कामरेड, पृ० ५८)
शैल ने एक वहुत गहरी **सांस** छोड दी। (वही, पृ० ११३)

२. आपका **चर्चा** अनेक वार सुना था।
सव **चर्चा** व्यर्थ जान पडने लगी थी। (देशद्रोही, पृ० २१८)

३. खूव **वर्फ** गिरा है। (दादा कामरेड, पृ० ८६)
वरफ जल वनकर सहस्रो धाराओ में टप-टप टपक रही थी।

४. कोठी के **छत**......(दादा कामरेड, पृ० ८६)
वँगलों की लाल **छतों** से......(वही, पृ० ६०)

५. रावर्ट ने एक **सिगरेट** और जलाई। (दादा कामरेड, पृ० १३५)
हरीश ने **सिगरेट** ले लिया। (दादा कामरेड, पृ० १३६)

६. जीवन ने दोनो **साइकिल** थाम लिये। (दादा कामरेड, पृ० १५८)
जीवन ने दोनों **साइकिलें** एक-दूसरे के सहारे खड़ी कर दी।
(वही, पृ० १५८)

७. मजदूरी का **दर**......(देशद्रोही, पृ० ८५)

८. चन्दा का **वकवास** वढ़ता गया। (देशद्रोही, पृ० २३१)

६. ......माल की **यातायात** मोटरो द्वारा ही होती है।
(मनुष्य के रूप,)

१०. कलिग के सेनापति ने **पराजय** स्वीकार नही किया है।
(अमिता, पृ० २११)

११. शकुन्तला पर **घाम** आ गई। (अप्सरा का श्राप, पृ० ५२)

१२. अपना **कलम** रोक उसने तीव्र दृष्टि से दरवाजे की ओर देखा।
(दादा कामरेड, पृ० २६)

प्रथम छः उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि लेखक इन शब्दों के लिंग के सम्वन्ध मे अनिर्णय की अवस्था मे है। अतएव वह उन्हे कभी पुल्लिग में और कभी स्त्री-लिंग मे प्रयुक्त करता है। अंतिम छः (काले) शव्दो को, (मेरी जानकारी के अनुसार) यद्यपि परस्पर-विरोधी लिंगों मे नही प्रयुक्त किया गया है, पर फिर भी उनका लिंग-प्रयोग गलत है।

(ख) शब्द-रचना सम्बन्धी दोष

१. अनाभ्यास (दिव्या, पृ० ३८)
२. मरमान्त (पीडा से) (अप्सरा का श्राप)
३. अनाधिकारी (झूठा सच, वतन और देश)
४. सौजन्यता (झूठा सच, वतन और देश)

उपर्युक्त शब्दो की रचना व्याकरण की दृष्टि से दोषपूर्ण है। इन्हे मुद्रण-संबंधी भूल मान लेना भी विश्वास-योग्य नही प्रतीत होता।

(ग) वाक्य-रचना सम्बन्धी दोष

१. शैलवाला को हाथ से पकड़ यशोदा ऊपर ले गई। (दादा कामरेड, पृ० २५)
२. शैलवाला ने दादा की ओर देख फिर नमस्कार किया और आदर से मुस्कराकर बोली। (दादा कामरेड, पृ० ७४)
३. उसने मजदूर को गर्दन से पकड़ लिया। (दादा कामरेड, पृ० १६१)
४ शाम के लिए आटे की चुटकी भी नही है। (मनुष्य के रूप, पृ० ३८)
५. जमादार ने धनसिह का बाह से पकड़ एक ओर हटा दिया। (मनुष्य के रूप, पृ० ६१)
६. रात के चौथे पहर हाथरस से गाड़ी टूंडला जानी है। (मनुष्य के रूप, पृ० १३६)
७. दो मर्दों ने जाडे से बचने के लिए भूरे रग की रजाइयाँ ओढ़ी हुई थीं। (वही, पृ० १३६)
८. बच्चे को परमेश्वर ने बुलाना था। (बारह घण्टे, पृ० ४६)
९ पिछले छः वर्षो मे हमारा प्रेम सयम और निग्रह निबाहना ही था। (वही, पृ० ४७)
१०. प्रेम जीवन् की सबसे बड़ी ऊँची और उदात्त भावना होती है। (वही, पृ० १०६)
११. यही भावना सृष्टि का अवलम्ब और जीवन का प्रयोजन होती है। (वही, पृ० १०६)
१२. यह शावक भद्रे के अक मे स्थान पाकर दूसरो के मन मे ईर्ष्या जगाता है। (अप्सरा का श्राप, पृ० ४२)
१३. शैल उसकी इच्छा को राह देती गई। (दादा कामरेड)
१४. नाश्ते की कई तश्तरियाँ खा गया।

पानी का गिलास.......

१५. चंदा गोद में सिर रखने की प्रार्थना ठुकरा दी थी।

(देशद्रोही, पृ० २०८–६)

१६. वती ने साधू की वहिन सतो की मृत्यु का समाचार देना था।

(झूठा सच, भाग २, पृ० १२५)

वाक्य १, ३, ४, ५, ६, १२, १३ और १४ पर अंग्रेजी वाक्य-रचना का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वाक्य (२) हिन्दी वाक्य-विन्यास की दृष्टि से शिथिल और त्रुटिपूर्ण है। "शैलवाला ने दादा की ओर देखकर (देखा और) नमस्कार किया और मुस्कराकर आदर से वोली" सही रूप है। छठे, सातवे, आठवें और सोलहवे वाक्यों की रचना पर पजावी भाषा का गहरा प्रभाव है। वाक्य (१०) मे क्रिया के लिंग-वचन का प्रयोग पूर्ति के लिंग-वचन के अनुरूप हुआ है, जवकि वैसे ही एक दूसरे वाक्य (११) मे क्रिया का प्रयोग कर्ता के लिंग-वचन के अनुसार है (कर्तरि प्रयोग)। ये दोनो उदाहरण व्याकरण की दृष्टि से परस्पर विरोधी हैं। अतएव नियमतः इनमे से किसी एक प्रयोग को ही स्वीकार किया जा सकता है। वाक्य (१५) मे चूँकि क्रिया भूतकाल सकर्मक है, इसलिए उसके साथ उद्देश्य सप्रत्यय होना चाहिए।

(घ) वर्ण-विन्यास सम्बन्धी अशुद्धियाँ

पुस्तक में	शुद्ध रूप	
१. विषद	विशद	
२. लक्ष	लक्ष्य	
३. वराम्दा	वरामदा	(दादा कामरेड, पृ० ८६)
४. धुन्दली	धुन्धली	(,, पृ० ६०)
५. उद्योग-धन्दे	उद्योग-धन्धे	(,, पृ० १४६)
६. धोका	धोखा	(देशद्रोही, पृ० ७३, १७१)
७. अट्टहास्य	अट्टहास	(दिव्या, पृ० २३)
८. कौतुहल	कौतूहल	(,, पृ० २३)
९. रजत-मजूशा	रजत-मंजूषा	(अमिता, पृ० ३३)
१०. स्पर्ष	स्पर्श	(,, पृ० १६७)
११. अन्तर्ध्यान	अन्तर्धान	(देशद्रोही, पृ० १८० और अमिता, पृ० २०१)
१२. समप्रेषित	सम्प्रेषित	(वारह घण्टे)
१३. चशक	चषक	(अप्सरा का श्राप, पृ० ४८)

१४. ब्रत	ब्रत	(अप्सरा का श्राप)
१५. पतिब्रता	पतिव्रता	(,,)
१६. विस्म्रित	विस्तृत	(झूठा सच
१७. स्वयम	स्वयम्	(दादा क़ामरेड, पृ० ६१)
१८. चिन्ह	चिह्न	(,, पृ० ६१)
१६. आल्हाद	आह्लाद	(,, पृ० ६१)

उपर्युक्त सभी शब्दों की वर्तनी गलत है। उनके शुद्ध रूप सामने लिख दिये गये हैं।

(च) विराम-चिन्ह् के प्रयोगों में असावधानी

१. यह आश्चर्य की बात है कि वह यहाँ आये और आपसे न मिले ?
(दादा कामरेड, पृ० ७५)

२. आपको बता देना चाहिए वह कहाँ है ? (वही, पृ० ७५)

३. आप आई थी हमारी सहायता करने के लिए, आपने हमारा सत्यानाश कर दिया और अब भी पार्टी के डिसिप्लिन को न मानकर उसका पता बताने से इनकार करती हैं ? (वही, पृ० ७६)

४. ......अशान्ति सी......

प्रथम तीन वाक्यो के अन्त में प्रश्नवाचक के स्थान पर पूर्ण-विराम और अंतिम उदाहरण मे दोनों शब्दों के बीच नियोजक चिह्न का प्रयोग होना चाहिए।

यशपाल हिन्दी के सशक्त कथाकार हैं। सन् १६४० के पश्चात् रचित उपन्यास-साहित्य में उनका ऐतिहासिक महत्व है। वे मूलतः पंजाबी-भाषी है। सुचारु रूप से लेखन आरम्भ करने के पूर्व उनका सम्पूर्ण राजनीतिक एवं छात्र-जीवन पजाब में ही व्यतीत हुआ है। अतएव उनकी औपन्यासिक कला पर पजाब की भूमि का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। यशपाल की भाषा पर पडे बाह्य प्रभाव को हम सुविधानुसार मुख्य रूप से तीन श्रेणियो में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रादेशिक प्रभाव (परिवेशगत), (२) उर्दू साहित्यकारों का सम्पर्क (सम्पर्कगत) और (३) अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त शिक्षा का प्रभाव (अध्ययनगत)।

यशपाल की कृतियों मे पजाबी का सस्पर्श अत्यन्त उजागर है। हिन्दी साहित्य मे यशपाल ही इसके एकमात्र उदाहरण नही हैं। गद्य-साहित्य के एक दूसरे लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' मे भी पंजाबी-प्रयोग बहुलता से मिलते हैं। इतना ही नही, उर्दू के शीर्षस्थ लेखक और हिन्दी के आज के लोकप्रिय कथाकार राजेन्दर सिंह बेदी तथा किशनचन्दर के वैयक्तिक नामों में भी पंजाबी का पडा प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

यशपाल की साहित्यिक प्रतिभा का विकास उर्दू लेखकों के बीच हुआ है। स्वाधीनता-प्राप्ति से पूर्व पजाब की क्षेत्रीय भाषा होने के कारण उर्दू वहाँ निरन्तर पनपती रही है। जीवन के आरभिक दिनो मे यशपाल को यद्यपि आर्य समाज के सस्कृतमय वातावरण मे भी रहना पड़ा है, परन्तु आर्य-समाजी स्वय उर्दू के माहौल से अछूते नही रह सके हैं। यही कारण है कि आर्य-समाजी-पजाबी ब्राह्मण को 'बरहमन' और स्वय आर्य समाज शब्द को 'आर्या समाज' कहकर पुकारते हैं। हिन्दी के महान् कथाकार और प्रसिद्ध आर्य समाजी स्वर्गीय सुदर्शन जी ऐसा ही प्रयोग और उच्चारण किया करते थे। यशपाल की भाषा पर भी उर्दू का ऐसा ही प्रभाव दिखाई देता है।

यशपाल की सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा अग्रेजी के माध्यम से हुई है। उन्होने अग्रेजी के माध्यम से अनेक पश्चिमी लेखका को पढ़ा है, जिनका प्रभाव कलाकार यशपाल पर जाने-अनजाने अवश्यमेव पडा होगा। शिक्षा-माध्यम का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन पर पड़ता है। यही कारण है कि प्रत्येक शिक्षित भारतीय परस्पर व्यवहार अथवा लेखन मे अग्रेजी का प्रयोग करता रहता है। किसी विदेशी भाषा की वाक्य-रचना एव शब्दावली का व्यवहार आज हमे खटकता है और दो-षरूप में दिखाई देता है, पर यह सभव है कि कुछ समय पश्चात् ये ही प्रयोग रूढ़ हो जाये और हमारी भाषा मे घुल-मिलकर उसकी शक्ति बन जाये। किन्तु आज की स्थिति मे ये भाषागत प्रयोग दोष ही समझे जायेगे। यशपाल उसके अपवाद नही है। उन्होंने भी जाने-अनजाने अपने साहित्य मे अग्रेजी भाषा की प्रकृति के अनुरूप वाक्य रचनाएँ की हैं।

यशपाल की भाषा मे निर्भ्रान्त रूप से कतिपय दोष हैं, जो उनकी सशक्त कृतियो मे खटकते है। किसी भी समर्थ लेखक के प्रयोगो मे अनजाने आई हुई त्रुटियो का किसी साहित्यिक अथवा अन्य आधार पर समर्थन नही किया जा सकता है। हम केवल दो प्रकार के अभिनव (अशुद्ध) साहित्यिक प्रयोगो को ही समर्थन प्रदान कर सकते है—एक है भाषागत सचेतन प्रयोग, जो प्रचलित व्याकरण-सम्मत न होते हुए भी किसी विशेष दृष्टि से साहित्य मे किये जाते है। उदाहरण-स्वरूप आधुनिक हिन्दी काव्य म सुमित्रानन्दन पंत और नरेशकुमार मेहता ने नये-नये शब्दो को गढ़कर तथा व्याकरण की छूट लेते हुए उन्हे प्रचलित और व्यवहृत करने का भरपूर प्रयास किया है, पर यशपाल मे इस प्रकार प्रयास निस्सन्देह नही है। साहित्य मे एक और प्रकार का अशुद्ध प्रयोग होता है, जिसे कलात्मक आग्रह के नाम पर सचेतन रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रायः आचलिक वातावरण को अंकित करने लिए अथवा किसी पात्र के वैयक्तिक वैशिष्ट्य को उभारने के लिए लेखक अशुद्ध भाषा का प्रयोग करता है। यशपाल की उपर्युक्त भाषागत त्रुटियाँ इनमें से किसी के अन्तर्गत नही आती हैं। लगता है, ये भाषागत दोष लेखक की असावधानी या असमर्थता के द्योतक हैं। पर प्रसन्नता की

बात है कि हम इन्हें यशपाल की आरम्भिक कृतियों में ही पाते हैं, परवर्ती रचनाओं में क्रमशः उनका परिष्कार होता गया है और लेखक की कलम अधिक कलात्मक होकर प्रकट हुई है।

२. अभिव्यक्ति के अवयव

(क) कथन

कथा एव पात्रों की तरह यशपाल ने कथोपकथन को भी मार्क्सवादी विचारों के प्रतिपादन का साधन बनाया है। पात्रो के सभाषणो के द्वारा उन्होंने मार्क्सीय सिद्धान्तों की स्थापना का प्रयास किया है। व्यक्ति अथवा समाज को केंद्र में रखकर जीवन एवं इतिहास की व्याख्या पक्ष और प्रतिपक्ष की सृष्टि करके की गई है। यही कारण है कि पक्ष की विजय दिखाने के लिए यशपाल के कथोपकथन कही-कही बहुत लम्बे हो गये हैं। अपने मतवाद की स्थापना के लिए, यद्यपि उन्होंने तार्किक युक्तियो का आश्रय लिया है, पर फिर भी उसके पीछे लेखक की सोद्देश्यता मुखर हो उठती है।

यशपाल के पात्रो के कथन के कुछ उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) जीवन ने कहा—"दादा, कल मैं अनारकली बाजार से गुजर रहा था। उस समय इन हड़तालियो के वालटियर और दो लडकियाँ शैलबाला वगैरह हडतालियों के लिए झोली मे चन्दा माँग रही थी। कुछ बदमाश उन पर कंकड फेंक रहे थे। कुछ उन्हें 'जापानियों के एजेंट' कहकर तालियाँ वजा रहे थे, कोई 'रूसियो का एजेट' बताता था। एक बदमाश लड़के ने नाली से कपडा भिगोकर शैलवाला के सिर पर फेक दिया। एक मजदूर गाली देकर उस लडके की तरफ लपका। कम्युनिस्ट रफीक भी साथ था। उसने मजदूर को गर्दन से पकड लिया। सचमुच भैया, स्वय मेरी तबीयत मे आया कि बदमाश लडके को गोली मार दूँ। बडी मुश्किल से अपने आपको रोका। याद है बी० एम० शैलवाला और कम्युनिस्टो की बावत क्या-क्या कहता था ? दादा, जानते हो कपडा मिल की हड़ताल का सेक्रेटरी वह सुलतान कौन है ? वह हमारा अपना हरीश है, पार्टी से निकाल देने के बाद उनमे जा मिला है।"[1]

उपर्युक्त कथन से कई बाते स्पष्ट होती है। सर्वप्रथम शैलवाला और हरीश के सम्बन्धो को लेकर दादा के मन में जो भ्रांतियाँ पैदा हो गई हैं, उनके निराकरण का प्रयास है। कामरेड रफीक, हरीश, शैल आदि हडताली मजदूरो का नेतृत्व करते हुए दिखाये गये हैं। उनके संघर्षमय जीवन और विवेकपूर्ण आचरण के द्वारा लेखक कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति हमारी सहानुभूति जगाने का प्रयत्न करता है। और अंत

---

१. दादा कामरेड, पृ० १६१

मे आतकवादी क्रांतिकारी दादा के भावी चारित्रिक परिवर्तन का बीजारोपण भी यही हो जाता है।

(२) डाक्टर के विषय में चर्चा होने पर करीम कहता है—"काफिरो के मुल्क मे शैतान का राज है। वहाँ दो तरह के आदमी हैं, एक काम करने वाले, दूसरे खाने वाले। मेहनत करने वाले खूब मेहनत करते है और कमा कर आराम से रहने वालों को दे देते हैं। सब रुपया आराम करने वाले रखते है। मेहनत करने वालो को थोडा-थोडा खाने को देते हैं कि वह मोटे होकर काम करना वन्द न कर दें। यह डाक्टर आराम करने वाला है न ? देखो, इसके हाथ-पैर जैसे खान के घर की बेगम हो। इसने कभी काम थोडे ही किया है। इसी से कुछ कर नही पाता। यह अफसर था न !"[१]

प्रस्तुत कथन में (करीम के मुख से) भारतवर्ष की पूंजीवादी समाज-व्यवस्था मे निरंतर चलने वाली शोषण-प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वर्गमूलक समाज मे पूँजीपति वर्ग मेहनत करने वाली श्रेणी का अपने वैयक्तिक उपयोग और भोग के लिए ही शोषण करता है। डॉ० खन्ना उसी वर्ग का प्रतीक है।

(३) मारिश ने उत्तर दिया, "परलोक मे अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग त्याग नही। तुम्हारी आशा और विश्वास के अनुसार यह त्याग भोग की आशा का मूल्य है। भोग की इच्छा है तो साधन रहते भोग करो ! आत्म-प्रवचना कर वचित होने से क्या लाभ ? परलोक केवल अनुमान और कल्पना है, प्रत्यक्ष नही। जो तुम्हे परलोक का विश्वास दिलाता है; उसने परलोक को दूसरे के कथन-मात्र से जाना है और दूसरे ने किसी और के कथन से। परलोक को स्वयं देखकर किसी ने उसके सत्य होने का साक्ष्य नही दिया। नित्य के व्यवहार मे ऐसे प्रमाण पर कोई विश्वास न करेगा। ऐसे प्रमाण के आधार पर प्रकट स्थूल जीवन को न्यौछावर कर देना क्या बुद्धिमानी है ?"[२]

'दिव्या' उपन्यास मे मारिश भौतिकवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। परलोक एव पुनर्जन्म मे आस्था रखने वाली रत्नप्रभा पर उसकी तर्कपूर्ण वाणी का यह असर पडता है कि रत्नप्रभा परलोक और अमरता की कामना से विरत होकर प्रत्यक्ष ऐहिक जीवन की सार्थकता में विश्वास करने लगती है।

(४) मजदूर कामरेड.......बात काटकर मराठी मे कहने लगा, "पूंजीवाद मे तो पैसे का सम्मान है। ये कितनी मेहतरानियाँ, कितनी मावली स्त्रियाँ घुटने से ऊपर धोती का कांछा कसे खुले वदन सडक साफ करती है, मन-मन वोझ टोकरी में ढोती है।

---

१. देशद्रोही, पृ० २२

२. दिव्या, पृ० १३६

किसी की आँख मे नही खटकता, किसी को लज्जा नही मालूम होती ! किसी सेठानी की धोती बालिश्त-भर उठ जाय तो बम्बई में आग लग जाए। तुम अखबार बेचती हो, कांग्रेस के लोग बात बनाते हैं। सब कुजड़ियाँ तरकारी बेचती है, किसी के पेट में दर्द नही होता, क्यो ?......"[१]

'पार्टी कामरेड' में मजहर के विचारों का अनुमोदन करते हुए मजदूर कामरेड गीता से कहता है कि पूंजीवादी समाज में आचार कुछ नही है। उसका आधार मात्र धन का सम्मान है।

(५) इसी प्रकार 'मनुष्य के रूप' के कामरेड भूषण के कथनों मे मार्क्सवादी सिद्धान्त भरे पडे हैं। आर्थिक विषमता की पीडा को झेलते-झेलते वह इतना जर्जर और कुंठित हो गया है कि उसे अपनी अभिजातवर्गीय प्रेमिका मनोरमा तक से वितृष्णा हो जाती है। इसीलिए वह अपनी विगत प्रेम-भावना पर खेद प्रकट करता है। उसका निम्नांकित कथन विचारणीय है ..."....सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत अनुभूति प्रबल होती है। मेरे स्वप्न टूट चुके हैं। अपने भ्रम और भूल को सत्य प्रमाणित करने के लिए और बडी भूल करने की अपेक्षा भूल को स्वीकार करके उसे समाप्त कर देना ठीक है। मेरी स्थिति के लोग जैसे भी हों, केवल गुजारा करने की फिक्र करते हैं। मैं समाज की मौजूदा व्यवस्था मे अपने और अपने जैसों के लिए कोई स्थान नही पाता। ...... मुझे जीवन का अवसर न देने वाली व्यवस्था के विरुद्ध मैं प्राण-पण से लड़ूंगा। तुम समझती हो, मेरा मूल्य पचहत्तर रुपया माहवार है।"[२]

(६) यशपाल के कथन की सोद्देश्यता के सम्बन्ध मे एक और उदाहरण देकर हम इस प्रसग को समाप्त करते हैं। 'झूठा सच' (प्रथम खण्ड) उपन्यास मे सशस्त्र सैनिकों के सरक्षण में शेखपुरा से उद्धार की गई स्त्रियो को और बहुत-से शरणार्थी हिन्दू परिवारों को लेकर स्टेशन वैगने अमृतसर जा रही हैं। दूसरी तरफ से पाकिस्तान के लिए पैदल आती हुई मुसलमानो की घिनौनी भीड को देख कर एक सिक्ख ड्राइवर श्रीमती कौशल्या देवी से कहता है कि देश के विभाजन के मूल मे आर्थिक कारण ही प्रमुख है। निरन्तर शोषण की चक्की मे पिसते रहने के कारण गरीब हिन्दू पहले मुसलमान बने; अब वे ही धार्मिक उन्माद मे आकर साम्प्रदायिक दगे कर रहे है। "बहिन जी सच है, मुसलमानों ने हिन्दुओ को लूटा है" कौशल्या देवी के समर्थन से उत्साहित होकर ड्राइवर बोला, "पर हिन्दू सैकडो वरस से इन लोगों को लूटते, निचोडते चले आ रहे हैं, नही तो एक ही जमीन पर रहने वालों मे अमीरी, गरीबी का इतना फरक क्यों होता ? पंजाब की सब

१. पार्टी कामरेड, पृ० २३
२. मनुष्य के रूप, पृ० ७८

जायदाद हिन्दुओं के ही हाथो क्यों चली जाती ? गरीब पहले गुस्से में मुसलमान हुआ, दूसरा गुस्सा यह है । गुस्सा मजहब का भी है, पर गरीबी का भी है बहिन जी !"[१]

(ख) चित्रण

यशपाल की उपन्यास-कला में चित्रण का महत्वपूर्ण स्थान है । उनकी वर्णन-शैली मे अनेक स्थलो पर चित्रात्मकता का सहारा लिया गया है । कला की सार्थकता तब है जब विचार चित्र का रूप धारण कर मूर्तिमंत हो जायें । चित्रों के माध्यम से यशपाल पाठक की विवेक-बुद्धि को जगाने का प्रयास करते हैं । यशपाल के साहित्य में चित्रण साधन है, साध्य नहीं । वे इसके भीतर से कुछ और व्यंजित करते हैं । यशपाल के उपन्यासों में चित्रों के विविध रूप मिलते हैं । किसी स्थान, दृश्य, घटना, व्यक्ति, समूह, भीड़ अथवा मानवी रूप का चित्रण करते समय वे उसका साक्षात् रूप उपस्थित कर देते हैं ।

यशपाल के उपन्यासों से चित्रण के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

'दादा कामरेड' मे नैनसी का नख-शिख रूप चित्रित किया गया है, परन्तु यह चित्रण रीतिकालीन परिपाटी पर नही है । लेखक नैनसी के अंग-प्रत्यंग का वर्णन कर उसके अप्रतिम सौंदर्य का चित्र खडा करता है, पर वह चित्र पाठक की वासना को बिल्कुल नहीं जगाता । यह सच है कि यशपाल ने अपने उपन्यासो मे नारी के रूप-वर्णन में विशेष रुचि ली है, पर ये चित्रण साध्य न होकर किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति मे साधन के रूप मे आये हैं । निम्नलिखित चित्र में लेखक का जो मूल उद्देश्य है, उसे वह वर्णन के अत मे स्पष्ट कर देता है । हरीश नैनसी के मांसल सौदर्य से प्रभावित तो है, पर नैनसी उसकी दृष्टि मे किसी अजायबघर में रखी उर्वशी की जड़-मूर्ति से बढकर और कुछ नहीं है । अतएव हरीश उसके प्रति मात्र उपेक्षा-भाव ही दिखाता है ।

"उसकी लम्बी-पतली गोरी उँगलियों की ओर देखकर हरीश ने उसके शेष शरीर को देखा । उसका बहुत महीन और मुलायम बालो से भरा सिर, जिसमे तेल की चिकनाई नही, केशो की स्वाभाविक कोमलता स्वयं प्रकट हो रही थी । जूडे पर मटर के लाल फूलों का लगा हुआ पखा, पतला-लम्बा मुख, लंबी गर्दन, महीन साड़ी मे से झलकती उसके शरीर की आकृति, उसका तनिक उभरा हुआ वक्ष, पतली कमर और फिर कुछ दूर बहकर नीचे गिरती जल की धारा की तरह घुटनो से नीचे गिरती पिंडलियाँ, अंत मे सैंडल मे मढे उसके कोमल श्वेत पाँव । पाँवों के चारो ओर साडी का घेरा पराग को घेरे रहने वाली फूल की पखुडियो की तरह फैला हुआ था । पीले हाथी के दाँतो की तरह चिकनी और कोमल बाँहे उसकी गोद मे आकर टिकी हुई थी । कलाइयों

---

१. झूठा सच : वतन और देश, पृ० ५१३

पर एक-एक बहुत महीन काली चूड़ी थी। एक अस्पष्ट-सी सुगंध उसके शरीर से आ रही थी। नैनसी फूल की कली की भाँति थी, पूरी खिलकर फैल नही गई थी, परन्तु स्फुटोन्मुख थी। नैनसी हरीश की उपेक्षा के लिए शिकायत कर रही थी।"[1]

यशपाल 'देशद्रोही' उपन्यास मे बम्बई के मदनपुरा मोहल्ले मे रहने वाले मजदूरो का चित्र अकित करते हैं। मदनपुरा औद्योगिक नगरो मे स्थित मजदूर बस्ती का प्रतीक है। मजदूरो के दयनीय जीवन का यथातथ्य चित्रण करके लेखक उनके प्रति हमारी करुणा जगाने मे पूर्णतया सफल हुआ है।

"सबसे कठिन समस्या गर्मी के मौसम में रात बिताने की थी। पड़ोस में रहने वाले मजदूर गली मे खटिया डालकर सो जाते। बिना रोशनदान की कोठरी की अपेक्षा गली मे गर्मी की उमस कम अनुभव होती थी परन्तु मच्छर अधिक हो जाते और दुर्गन्ध भी आती। रात ड्यूटी के मजदूरो के आने-जाने से नीद टूट जाने पर फिर सो पाना कठिन हो जाता। कोठरी के भीतर लेटने से शरीर पसीने से भीग जाता। छः रुपया माहवार किराये की कोठरी, तीस-चालीस रुपया माहवार कमाने वाले मजदूर के लिए अकेले किराये पर लेना कठिन था। पाँच-छः मजदूर मिलकर कोठरी लेते थे। कोठरी मे उतनी खाटे विछा सकना भी संभव न था।..."[2]

यशपाल ने सैनिको के जीवन का बड़ा ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण किया है। यह सच है कि अधिकांश सैनिक अपनी आर्थिक परवशता के कारण ही सेना में भरती होते हैं। उनकी जिन्दगी हर क्षण मौत के मुँह मे होती है, पर वे सेना मे रोबदार जीवन बिताने का नाट्य करते हैं। एक ओर मौत की नौकरी और दूसरी ओर पारिवारिक जीवन-रक्षा का भार—यह है आज का सैनिक जीवन, जिसे यशपाल की लेखनी ने व्यंग्यात्मक रूप में सचित्र उपस्थित किया है।

"सिपाही छावनी मे जाकर बूट और वर्दी पहनेंगे, मोटर पर सवार होकर बन्दूक और मशीनगन चलायेंगे, लेकिन मिट्टी और फसल का मोह और मैल-पसीने, घी-दूध से गधाते बीबी-बच्चों का मोह उनके कदमो को शिथिल कर रहा था। उनके गाँव मे दीन जीवन था, सेना मे रोबदार मौत का भय था।......घर मे जीवन-रक्षा के लिए मौत की नौकरी आवश्यक थी। उन्हे रुपया चाहिए था जो उन्हे खेतों की जमीनें नही दे सकती थी, सेना की नौकरी देती थी।"[3]

'दिव्या' में कलाकार यशपाल कुमार पृथुसेन का मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत

---

१. दादा कामरेड, पृ० १३६
२. देशद्रोही, पृ० १५१-५२
३. मनुष्य के रूप, पृ० ११२

करते हैं। आचार्य रुद्रधीर द्वारा अपमानित होने पर दास-पुत्र पृथुसेन के भीतर अभिजात वर्ग तथा जाति-व्यवस्था के प्रति जो भयानक विद्रोह और घृणा का भाव जगता है, उसका सफल अकन निम्नलिखित पक्तियो मे हुआ है—

"कुमार पृथुसेन घायल व्याघ्र के समान क्रोध से काँपता, कुछ समय तक चन्द्र के उग्र प्रकाश मे अपने अश्व-रक्षक के समीप खड़ा रहा। हृदय मे प्रज्वलित क्रोध की अग्नि का धुआँ मस्तिष्क में घुट जाने के कारण वह क्षुब्ध और विह्वल हो उठा—जन्म का अपराध ? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार सभव है ? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नही कर सकती ! कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नही कर सकती ! जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले ? ·······या उन लोगों से ले जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है ?"[1]

'झूठा सच' मे लेखक ने विस्थापित भीड़ का हृदयद्रावक चित्रण किया है। पाकिस्तान जाने वाले शरणार्थी मुसलमान अपने साथ अपनी टूटी-फूटी संपूर्ण गृहस्थी लिये जाते हुए दिखाये गये है। कुछ ही शब्दो में सीधी-सादी भाषा में यशपाल ने मुस्लिम समाज की भीषण आर्थिक दुरवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है।

"भीड़ के प्रायः सभी लोग कुछ-न-कुछ, छोटा-मोटा बोझ उठाये थे। बहुत-सी स्त्रियों की कमर या पीठ पर, पुरुषो के कंधो पर रोये हुए, सूखे-से मारे घिनौने बच्चे चिपके हुए थे। किसी की पीठ पर बोरी, किसी के सिर पर कनस्तर काटकर बनाया हुआ बक्सा, किसी के कन्धे पर गठरी, कोई सिर पर रखी उल्टी खाट पर अपनी गृहस्थी उठाये लिए जा रहा था। कोई स्त्री-पुरुष दोनो ओर से उल्टी खाट को सिरो पर उठाये थे। खाट पर गठरी-मुठरी रखी थी और मैले, कुम्हलाये हुए बच्चे बैठे थे।"[2]

'मनुष्य के रूप' मे एक स्थल पर लेखक ने सूर्यास्त का चित्रण किया है। उसने अस्तकालीन सूर्य की कल्पना विश्रान्ति के लिए जाते हुए एक थके-मादे पथिक के रूप मे की है। लेखक चित्रण के माध्यम से इससे भी आगे कुछ व्यजित करना चाहता है। रात्रि के आगमन पर वह संसार के समस्त प्राणियो को कर्म-जाल से मुक्त होकर श्रम-परिहार के लिए प्रेरित करता है।

"सामने थकावट से निस्तेज सूर्य घाटी की सीमा पर खडे चीड के जंगलो के पीछे फिसल रहा था और विश्राम के लिए, छाया और अधकार की चादर अपने शरीर पर खीच रहा था। नीचे फैली विस्तृत घाटी श्यामल हो गई थी। केवल ऊँचाई पर से

१. दिव्या, पृ० १८-१६
२. झूठा सच : वतन और देश, पृ० ५११

गुजरती सडक पर सूर्य की अतिम, फीकी-फीकी, झिलमिल-सी किरणे शेष रह गई थी।"[1]

(ग) व्यंग्य

व्यंग्य सामाजिक यथार्थ का नग्न चित्र प्रस्तुत करने का एक सशक्त माध्यम है। यशपाल हिन्दी के सफल व्यग्यकार हैं। उनके गद्य की एक प्रमुख विशेषता व्यग्यो की सृष्टि है। उनका व्यग्य प्रायः किसी एक वाक्य या शब्द मे निहित न होकर सम्पूर्ण प्रसग मे पाया जाता है। मूलतः यह विषयगत या चरित्रगत होता है। लेखक यशपाल को जो व्यवस्था या स्थिति पसन्द नही है, उसका वर्णन वे ऐसी शैली मे करते है कि व्यग्य अपने आप उभर आता है। यशपाल के व्यग्यो के विषय अन्तर्विरोध, विसगतियाँ, शोषण, सामाजिक विकृतियाँ, परम्परागत जर्जर नैतिक मान्यताएँ, राजनीतिक छल-छद्म आदि हैं। इन व्यग्यों में उनकी आलोचनाएँ ध्वसात्मक न होकर रचनात्मक होती है, जो नई व्यवस्था के निर्माण का सकेत देती है। यशपाल का व्यग्य विभिन्न रूप धारण कर प्रकट होता है। वह कही उपहास से भर जाता है, तो कही मीठे कोमल विनोद एव हास्य की सृष्टि करता हुआ दिखाई देता है। अब हम यशपाल के उपन्यासो से व्यग्य और हास्य-विनोद के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

—'सुन तो' अख्तर ने हरीश को सम्बोधन कर पूछा, 'सोयेगा भी यही ?'

—'और कहाँ जाऊँगा अब ?' हरीश ने उत्तर दिया।

—'मरे तब तो जाडे मे। रजाई तो एक ही है और वह भी फटी हुई। हम दोनों तो किसी तरह गुजर कर लेते हैं, अब......'

—'फिटे मुँह' (छिः छिः) हाथ फटकार कर जमीला ने कहा, 'जरा भी तो शरम नही रही।' और मुँह ढँक लिया। हँसकर हरीश ने कहा, 'तू अपना गुजारा कर। मैं तेरा यह कम्बल लेकर पडा रहूँगा।'

—'यह भी कोई कम्बल है।... ...भूसा बाँधने लायक भी नही।' कम्बल की ओर इशारा कर उसने कहा, 'बता फिर जमीला ?'

—'तुम दोनो अपना गुजारा करो, मेरी फिकर छोडो।' मुँह फिराकर हरीश ने उत्तर दिया।

—'आज तो मारा तेरे देवर ने।' घुटने हिलाते हुए अख्तर ने कहा।'[2]

इस वार्तालाप से पहले अनेक कारणो से अख्तर-जमीला का दाम्पत्य सम्बन्ध टूट जाने के विन्दु तक पहुँच गया था। दोनों के जीवन के सम्बन्ध-सूत्र अत्यत गभीर

---

१. मनुष्य के रूप, पृ० १४

२. दादा कामरेड, पृ० ६६

परिस्थितियों में उलझ गये थे। तब तक हरीश की अवतारणा कर यशपाल की कलात्मकता ने ऐसी जादू की छडी घुमाई कि सारा उलझाव, जटिलता और सजीदगी तिरोहित हो गई और दाम्पत्य जीवन की सरिता-धारा हास्य-विनोद के उभय कूलों के बीच सहज ढंग से प्रवाहित होने लगी। हास्य के आयोजन से यशपाल जीवन का गत्यवरोध दूर कर उसमे एक मिठास ला देते हैं।

"स्यापे मे स्त्रियों के हाथ एक ताल से धप-धप छातियो पर पड़ने लगे। नाऊन वेदना मे कुरलाते स्वरो से विलाप के बोल बोलती थी और स्त्रियाँ एक स्वर से 'हाया-हाया, हाया-हाया' पुकारती दोनो हाथो से एक साथ छाती पीटती जाती थी। रीति के इस विलाप और पीटने मे एक सुनिश्चित क्रम था। स्त्रियो के हाथ कभी छातियों पर पडते थे, कभी क्रम से जाँघों और छातियो पर, फिर जाँघों, छातियो और गालो पर पड़ते थे।······आँखे मूंद कर अथवा दीवार की ओट से सुनने पर स्त्रियों के छाती पीटने का सम्मिलित स्वर इस प्रकार बँधा हुआ जान पडता था मानो मैदान मे बहुत सधे हुए सिपाही मार्च, मार्क-टाइम और क्विक मार्च कर रहे हों। किसी स्त्री के बेमेल हो जाने पर नाऊन उसे सगत से उठा दे सकती है।"[1]

परम्परावाद की जड़ता का यह अप्रतिम उदाहरण है। बाबू रामज्वाया की बृद्धा माँ की मृत्यु से वस्तुतः लोगो को प्रसन्न होना चाहिए था, और लोग हुए भी; क्योकि बेचारी वृद्धा बुढ़ापे का नरक झेल रही थी। परन्तु रीति-पालन तो करना ही था। जिस बात की बिल्कुल आवश्यकता नही है, मनुष्य उसे रीति निभाने के नाम पर किये जा रहा है। उस परम्परा-निर्वाह मे समाज की जडता और अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नही है। परम्परा-निर्वाह का वर्णन कर यशपाल ने समाज के इसी अन्धेपन पर व्यग्य किया है। इसी प्रकार के व्यग्य के हजारो उदाहरण यशपाल के साहित्य से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

यशपाल की भाषागत उपलब्धियाँ, शक्ति और सीमायें

यशपाल की भाषा पर समग्रता में विचार करते समय हिन्दी भाषा के जानकार पाठक को बड़े धर्म-सकट से गुजरना पडता है। यशपाल जीवन के बड़े सूक्ष्म अध्येता और चिंतक हैं। जीवन-अध्ययन और विश्लेषण सम्बन्धी उनकी क्षमता प्रायः सर्वस्वीकृत है। जीवन की गहराई मे डूबकर जिन निष्कर्षो पर वे पहुँचते हैं; उन्हे समाज के सम्मुख इसलिए रख देते हैं कि समाज अपने असली रूप को पहचाने और उसके सुधार के लिए जो परिवर्तन आवश्यक हो, उन्हे अगीकार करे। यह कार्य वे कला के

---

१. झूठा सच : वतन और देश, पृ० ११-१२

माध्यम से करते हैं। जीवन को अभिव्यक्त करने वाले अन्य शास्त्र और विद्याएँ भी हैं, पर उसका सम्बन्ध जब कला से जुड जाता है, तो कला की कुछ अनिवार्य माँगो और नियमो का ध्यान रखना भी आवश्यक हो जाता है। यह सही है, (जैसा यशपाल भी मानते है) कि कला साधन है, और जीवन साध्य, इसलिए अधिक आवश्यक है जीवन पर ध्यान रखना, कला पर उतना ध्यान न भी रहे तो भी कोई हर्ज नही। पर तब यह भी तो कहा जा सकता है कि फिर कला को ही माध्यम क्यो स्वीकारा जाये ? अन्य माध्यमो से भी तो जीवन अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसलिए अभिव्यक्ति-माध्यम के रूप मे कला को स्वीकार लेने के बाद उसकी कुछ आवश्यक शर्तों की पूर्ति अनिवार्य हो जाती है। 'भाषा का कलात्मक सौष्ठव' उन माँगो मे से एक है। यशपाल, कला की इस माँग की पूर्ति, कौशल से नही कर पाये है। मार्क्सवादी कलाकार होने के कारण यशपाल भाषा के संदर्भ से भी मार्क्सवादी सिद्धान्तो की स्वीकार करत है। मार्क्स, चूंकि जनवादी था, इसलिए साहित्य-सर्जना मे उसने जन-भाषा को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। यशपाल भी, मार्क्स की ही तरह, जन-भाषा के समर्थक है और उसका उन्होने अपनी औपन्यासिक कला-कृतियो मे बहुत हद तक निर्वाह भी किया है, पर 'दिव्या', 'अप्सरा का श्राप' जैसी कृतियो मे वे भाषा-सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त से परे हटे हुए दिखाई पडते हैं। उक्त कृतियो मे सस्कृतनिष्ठ पदावलियो का प्रयोग कर वे तत्कालीन वातावरण-निर्माण मे सफल जरूर हुए है, पर यह काम तो वस्तुओ, व्यक्तियो और स्थानो के तत्कालीन प्रचलित नामो का प्रयोग करके भी किया जा सकता था, पूरी की पूरी रचना को सस्कृत-बहुला पदावलियो से भरने की क्या आवश्यकता थी ? पर ऐसा हुआ है। दूसरे शब्दो मे, यशपाल ने इन कृतियो की रचना जनभाषा मे नही की है, अर्थात् भाषा सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त से हट गये हैं। यशपाल की ही मान्यताओ का सहारा लेकर कहा जा सकता है कि उक्त कृतियों मे जीवन की अभिव्यक्ति पर ही उन्हे ध्यान केंद्रित करके रखना चाहिए था, सस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग कर तत्कालीन वातावरण-निर्माण के चक्कर मे पडने की कोई आवश्यकता नही थी। पर वे पडे हैं। इसका तो मतलब यही है कि यशपाल स्वतः, स्पष्टतः न कहते हुए भी, यह बात स्वीकार करते हैं कि साहित्यिक रचना मे जीवन की अभिव्यक्ति के साथ-साथ कलात्मकता की भी कुछ अनिवार्य शर्ते होती हैं, जिनकी ओर भी ध्यान देना अपेक्षित होता है। कथा की एक अनिवार्य कलात्मक शर्त है रोचकता। इस शर्त की पूर्ति यशपाल ने अपनी कथा-कृतियों मे बडी खूबी से की है। वह प्रशंसनीय है। पर भाषा की भूमि पर उनके पैर फिसल-फिसल जाते है।

इसी अध्याय मे यशपाल की भाषा पर विचार करते हुए उसकी पात्रानुकूलता, प्रसंगानुकूलता, उसमे प्रयुक्त अलकार, सूक्तियों, कहावतों, मुहावरो आदि का विवेचन

आचरण होगा, इसका सहज रूप मे अनुमान लगाया जा सकता है। प्रकृतवादियो ने मनुष्य का अंकन वाह्य शक्तियो एवं अन्तर्शक्तियो के विरोध और सामंजस्य के आधार पर किया है। प्रकृतवादियो के अनुसार मनुष्य पैतृक रक्तगत गुणों एवं दुर्गुणों तथा अचेतन मन की अन्तर्शक्तियो से परिचालित यत्र है। अतः 'काम' भी भूख-प्यास की तरह स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सबसे प्रवल समर्थक फ्रायड है।

लेकिन प्रकृतवादी यथार्थवाद का विरोध जल्द ही प्रारंभ हो गया। नव-मानवतावादियो ने इस साहित्य को भ्रामक, हतोत्साह उत्पन्न करने वाला एवं समाज को रोगग्रस्त वनाने वाला मानकर उसका तीव्र विरोध किया। इसी विरोध ने सामाजिक यथार्थ को जन्म दिया। सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत यथार्थ केवल प्रकृतवादी न रह-कर मानव के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण मे सक्रिय योगदान करता है। साहित्यकार इस विचारधारा से प्रभावित हो मानव-जीवन का अकन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करता है, जिसमे शोषण के कुहासे फटते हुए दिखाई देते हैं और रूढ़ियाँ गलकर नये मूल्यो को जन्म देती हैं। फलतः समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार होती हैं।

(ख) अंग्रेजी साहित्य के यथार्थवादी उपन्यासकार और यशपाल

(१) **चार्ल्स डिकेंस और यशपाल**—यथार्थवादी दृष्टिकोण से जीवन का चित्रण अग्रेजो उपन्यास-साहित्य मे डिकेस से प्रारभ होता है। डिकेस मूलतः कथाकार था। उसे लिखने और स्वयं पढकर सुनाने का नशा था। उसने जो कुछ भी लिखा है, स्वाभाविक ढग से लिखा है। उसके साहित्य मे घटना चरित्रो पर वोझा नही वनती, अपितु उनके साथ अवाध गति से अग्रसर होती है। उसके पात्र हमारे हृदय, वुद्धि और अन्तश्चेतना पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। डिकेस ने तत्कालीन समाज का जीवन्त चित्रण किया है। हर सामाजिक वुराई पर उसने व्यग्यात्मक शैली मे चोट की है। औद्योगिक क्रांति एव उसके भीतर पनपती हुई पूंजीवादी व्यवस्था का अकन करने मे उसने अपनी सक्षम लेखनी का परिचय दिया है। 'डेविड काप्परफील्ड' आत्म-कथात्मक शैली मे लिखा गया उपन्यास है जो डेविड के माध्यम से सारे वच्चो का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित करता है। तत्कालीन समाज की हृदयहीनता एवं शोषण-प्रवृत्ति का उससे स्पष्ट पता चलता है। डिकेस का हृदय विद्रोह करना चाहता है, पर वह ऐसा कर नही पाता। वह या तो समझौता कर लेता है या मौन रह जाता है। मध्यवर्गीय परिवार का ऐसा जीवन्त एवं चुटीला चित्र अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। 'ओल्ड क्युरियासिटी

शाप' मे वह दकियानूसी विचारधारा पर व्यंग्य करता है। डिकेंस ने शासन-व्यवस्था के लोकहित-विभाग पर, विशेषकर उसके कर्मचारियो की लेटलतीफी पर कठोर प्रहार किया है। शहरो एव कस्बो की सडकों का अकन उनकी कहानी कहने के लिए किया गया है। 'दि टेल आफ टु सिटिज' मे उसने एक ही साथ फ्रांस और इंग्लैंड के जन-जीवन का चित्रण किया है। इसमे सामन्ती व्यवस्था को उखाड़ फेकने मे तत्पर फ्रासीसी जनता एव उसके कार्य-कलापों का हृदयग्राही वर्णन मिलता है। किराये की गवाही का प्रयोग किस तरह शासन-तन्त्र करता है, इसका उद्घाटन करते हुए न्याय-व्यवस्था का पर्दाफाश किया गया है। मानसिक रोगी डॉ० मेनेट का 'नार्थ टावर' प्रकरण सामन्ती व्यवस्था एव उसके दमन-चक्र की अमानुषिकता का नग्न चित्र है। मारक्यूस सर्वहारा-वर्ग को अपने रथ के नीचे कुचलकर उसके जीवन का मूल्य एक स्वर्ण मुद्रा आँकता है। किसानो के स्वातन्त्र्य-सघर्ष का चित्रण ऐतिहासिक तथ्यो के संदर्भ मे न कर कल्पना के आधार पर किया गया है। न चाहते हुए भी उपन्यासकार परिस्थितियो से समझौता करता रहता है। डिकेंस में हास्य और विनोद का रंग इतना गहरा है कि वह पाठक की चेतना को बाँधे रहता है और उसे ऊबने नही देता। हास्य की स्थिति मुस्कराने की ही अनुमति देती है, अट्टहास की नही, क्योकि उसके विनोद पर करुण चित्र सदा हावी रहता है। डिकेंस के पात्र सजीव है और काफी हद तक स्वच्छन्दतावादी और भावुक भी। डिकेंस के उपन्यासो मे शिल्प का अभाव है। इसका एक कारण यह भी है कि उसके उपन्यास पत्रिकाओ मे खण्डो में प्रकाशित हुए थे। युग-बोध की दृष्टि से डिकेंस ईमानदार कलाकार है, फिर भी समाज के प्रति उसकी घृणा पाठक के अन्तस् मे विद्रोह उत्पन्न करने मे सक्षम नही है। उसके पात्र सबल होते हुए भी सामाजिक द्वन्द्व के प्रतीक नही है।

यशपाल ने भी अपने उपन्यासो मे जन-जीवन का यथार्थ अकन किया है, लेकिन डिकेंस के यथार्थ और यशपाल के यथार्थ में अन्तर है। यशपाल ने परम्परागत गलित मान्यताओ को तोड़कर उनके स्थान पर नये जीवन-मूल्यो और स्वस्थ समाज-व्यवस्था की स्थापना की ओर इंगित किया है, जबकि डिकेंस केवल बाह्य यथार्थ का चित्रण करके रह गया है। डिकेंस ने सामाजिक शोषण के मूल मे झाँककर पलते वर्ग-सघर्ष को नही देखा, पर यशपाल हर शोषण के मूल मे परम्परावादी विचारधारा को विद्यमान पाते है और उसका खुलकर विरोध करते है। यशपाल मे डिकेंस का हास्य और विनोद व्यग्य बनकर प्रकट हुआ है और वह वैसा ही नियत्रित भी है। यशपाल ने भी सत्ताधारी शासक-वर्ग पर चोट की है और उसमे पलते हुए भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया है। जन-जीवन के चित्रण मे यशपाल डिकेंस से अधिक सफल हैं। यशपाल के पात्र 'टाइप' और 'व्यक्ति' दोनो हैं। उनमे युग-चेतना है और वे तर्क से काम लेते हैं। किन्तु डिकेंस के पात्र भावुक अधिक है।

किया गया है। उनके प्रयोगों और उचित सयोजनो से कथन में जो चारुत्व और शक्तिमत्ता आई है, उसकी प्रशसा भी की गई है, जो उचित ही है। पर जब शब्दों की व्याकरण-सम्मत शुद्धता, उनकी वर्तनी, लिंग, वाक्य-रचना, वाक्यों की चुस्ती, वाक्यों मे शब्दो का ऐसा संयोजन जिससे चुभनशीलता, बाँकपन एक विशेष प्रकार की भंगिमा और तेवर पैदा हो जाये आदि की दृष्टि से यशपाल की भाषा को देखते हैं तो बडी निराशा होती है। कुछेक वाक्यों के अलावा उनकी सारी भाषा मे एक अजीब ढग की सपाटता, शिथिलता और लद्धडपन है। निहायत ढीली-ढाली, सुस्त-सी, अलस-गति, मथर चाल चलनेवाली यशपाल की भाषा के पास कलात्मक उपलब्धि के नाम पर सिर्फ शून्य है। इसका तात्पर्य यह नही लगाना चाहिए कि यशपाल का शब्दकोश बडा सीमित है, या कि वे अपनी बात पूर्णतः कह नही पाते। बल्कि इसके उलटे उनका शब्दकोश बड़ा ही बृहत् है, अपनी बात भी वे पाठक तक पहुँचा ही देते है। पर शब्दकोश बृहत् होना एक बात है और शब्दों का कलात्मक संयोजन तथा भगिमापूर्ण वाक्य रचना बिल्कुल दूसरी बात है। इसी दूसरी बात का, यशपाल मे, अभाव है। पाठक तक अपनी बात पहुँचाना भी कई प्रकार का होता है। एक उदाहरण देने से बात अधिक स्पष्ट होगी। 'क' नामक व्यक्ति के सीने पर 'ख' ने फटा बाँस लेकर मारा, उसके ठीक बाद 'ग' ने अत्यन्त पैने बल्लम से वार किया। मारा दोनों ने ही, पर आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि किसकी मार अधिक गहरी होगी! यशपाल की भाषा की मार 'ख' की मार-जैसी होती है, जब कि कलात्मकता भाषा से अपेक्षा करती है 'ग'-जैसी मार की।

इसीलिए प्रारम्भ मे कहा गया है कि यशपाल की भाषा पर समग्रता में विचार करते समय भाषा के जानकार पाठक को बडे धर्म-संकट से गुजरना पडता है। वह यह समझ ही नही पाता कि जो आदमी जीवन को सँवार कर उसमे भंगिमा, सौन्दर्य लाने की बात इतनी उत्कटता और तीव्रता से सोचता है, वह भाषा की प्रकृति को सही ढग से पहचान कर उसे सँवारने तथा उसमे भगिमा और बाँकपन लाने का प्रयत्न क्यो नही करता!

—:o:—

अध्याय आठ :: मूल्यांकन : तुलनात्मक संदर्भ में

१. संसार के प्रसिद्ध यथार्थवादी (प्रगतिशील) लेखक और यशपाल

(क) पाश्चात्य साहित्य में यथार्थ के विविध रूप

हर देश और काल के साहित्य मे यथार्थ-चित्रण के दर्शन होते है। प्रारंभ से लेकर आज तक पश्चिमी साहित्य मे यथार्थ का अकन कई रूपो मे हुआ है, पर इनमे से तीन रूप प्रमुख और उल्लेखनीय हैं। यथार्थ का पहला रूप वह है जिसमे देश-काल-पात्र की यथार्थता भाषा, रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-रिवाज आदि के माध्यम से प्रकट होती है। वस्तुतः यह 'यथार्थ' साहित्य मे व्यजित जीवन को वास्तविक जीवन के सदृश्य बनाता है। यह साहित्य का आवश्यक अग है। चौसर के 'प्रोलोग टु कैंटबरी टेल्स' मे यही यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। वहाँ यथार्थ का अर्थ है जीवन-वास्तव अर्थात् जो कुछ बाह्य रूप मे दिखाई दे रहा है, उसका चित्रण।

यथार्थ का दूसरा रूप साहित्य का प्रमुख सिद्धान्त और लक्ष्य बनकर सामने आता है। इस विचारधारा का जन्म १६ वी सदी के मध्य मे यूरोप मे हुआ। यहाँ साहित्यकार न शिक्षा देना चाहता है और न आनन्द ही, वह केवल यथार्थ के चित्रण मे अपने लक्ष्य की पूर्ति पाता है। वस्तुतः इस प्रकार के दृष्टिकोण का जन्म होता है मनुष्य को उसके परिवेश से सम्बद्ध करके देखने की मान्यता से। मनुष्य के जीवन मे घटने वाली घटनाओं एवं उसके इर्द-गिर्द घूमने वाले घटना चक्र, मनुष्य की प्रवृत्ति, वातावरण एव परिस्थिति का विश्लेषण-विवेचन कर उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना ही इस 'यथार्थ' का लक्ष्य है। ऐसे यथार्थवादी साहित्कारो ने वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाकर घटित घटनाओ को वास्तविकता के दस्तावेज के रूप मे उपस्थित किया है। ऐसा साहित्यकार परिस्थितियो का निरीक्षण कर उन्हे यथा-तथ्य रूप मे तटस्थ भाव से प्रस्तुत करता है। अपने पूर्वाग्रहो के आधार पर वह न व्याख्या करता है, न उपदेश देता है; क्योकि उपन्यासकार निर्णय न देकर यथार्थ को स्वयं बोलने देता है।

यही यथार्थ आगे चलकर प्रकृतवादी साहित्य मे मिलता है। ऐसा अकन इस मान्यता पर आधारित है कि जो कुछ अस्तित्व मे है, वह प्रकृत है। यह प्रकृतवाद निश्चितवाद और व्यवहारवाद से प्रभावित है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने परिवेश और अचेतन से परिचालित है, एक तरह से वह पशुओ की ही तरह आचरण करने के लिए बाध्य है। किसी मनुष्य का किसी विशिष्ट परिस्थिति एव व्यवस्था मे क्या

आचरण होगा, इसका सहज रूप मे अनुमान लगाया जा सकता है। प्रकृतवादियो ने मनुष्य का अकन बाह्य शक्तियो एवं अन्तर्शक्तियो के विरोध और सामंजस्य के आधार पर किया है। प्रकृतवादियो के अनुसार मनुष्य पैतृक रक्तगत गुणों एवं दुर्गुणो तथा अचेतन मन की अन्तर्शक्तियो से परिचालित यत्र है। अतः 'काम' भी भूख-प्यास की तरह स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सबसे प्रबल समर्थक फ्रायड है।

लेकिन प्रकृतवादी यथार्थवाद का विरोध जल्द ही प्रारभ हो गया। नव-मानवतावादियो ने इस साहित्य को भ्रामक, हतोत्साह उत्पन्न करने वाला एवं समाज को रोगग्रस्त बनाने वाला मानकर उसका तीव्र विरोध किया। इसी विरोध ने सामाजिक यथार्थ को जन्म दिया। सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत यथार्थ केवल प्रकृतवादी न रह-कर मानव के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण मे सक्रिय योगदान करता है। साहित्यकार इस विचारधारा से प्रभावित हो मानव-जीवन का अकन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करता है, जिसमे शोषण के कुहासे फटते हुए दिखाई देते है और रूढ़ियाँ गलकर नये मूल्यो को जन्म देती हैं। फलतः समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार होती है।

(ख) अंग्रेजी साहित्य के यथार्थवादी उपन्यासकार और यशपाल

(१) **चार्ल्स डिकेंस और यशपाल**—यथार्थवादी दृष्टिकोण से जीवन का चित्रण अग्रेजी उपन्यास-साहित्य मे डिकेस से प्रारभ होता है। डिकेस मूलतः कथाकार था। उसे लिखने और स्वय पढकर सुनाने का नशा था। उसने जो कुछ भी लिखा है, स्वाभाविक ढंग से लिखा है। उसके साहित्य मे घटना चरित्रों पर बोझा नही बनती, अपितु उनके साथ अबाध गति से अग्रसर होती है। उसके पात्र हमारे हृदय, बुद्धि और अन्तश्चेतना पर स्थायी प्रभाव डालते है। डिकेस ने तत्कालीन समाज का जीवन्त चित्रण किया है। हर सामाजिक बुराई पर उसने व्यग्यात्मक शैली मे चोट की है। औद्योगिक क्रांति एव उसके भीतर पनपती हुई पूँजीवादी व्यवस्था का अकन करने मे उसने अपनी सक्षम लेखनी का परिचय दिया है। 'डेविड काप्परफील्ड' आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है जो डेविड के माध्यम से सारे बच्चों का चित्र हमारे समक्ष उपस्थित करता है। तत्कालीन समाज की हृदयहीनता एवं शोषण-प्रवृत्ति का उससे स्पष्ट पता चलता है। डिकेस का हृदय विद्रोह करना चाहता है, पर वह ऐसा कर नही पाता। वह या तो समझौता कर लेता है या मौन रह जाता है। मध्यवर्गीय परिवार का ऐसा जीवन्त एव चुटीला चित्र अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। 'ओल्ड क्युरियासिटी

शाप' मे वह दकियानूसी विचार्धारा पर व्यंग्य करता है । डिकेस ने शासन-व्यवस्था के लोकहित-विभाग पर, विशेषकर उसके कर्मचारियो की लेटलतीफी पर कठोर प्रहार किया है । शहरो एव कस्बो की सडकों का अकन उनकी कहानी कहने के लिए किया गया है । 'दि टेल आफ टु सिटिज' मे उसने एक ही साथ फ्रांस और इग्लैड के जन-जीवन का चित्रण किया है । इसमे सामन्ती व्यवस्था को उखाड फेकने मे तत्पर फ्रांसीसी जनता एव उसके कार्य-कलापो का हृदयग्राही वर्णन मिलता है । किराये की गवाही का प्रयोग किस तरह शासन-तत्र करता है, इसका उद्घाटन करते हुए न्याय-व्यवस्था का पर्दाफाश किया गया है । मानसिक रोगी डॉ० मेनेट का 'नार्थ टावर' प्रकरण सामन्ती व्यवस्था एव उसके दमन-चक्र की अमानुषिकता का नग्न चित्र है । मारक्यूस सर्वहारा-वर्ग को अपने रथ के नीचे कुचलकर उसके जीवन का मूल्य एक स्वर्ण मुद्रा आंकता है । किसानो के स्वातत्र्य-सघर्ष का चित्रण ऐतिहासिक तथ्यो के सदर्भ में न कर कल्पना के आधार पर किया गया है । न चाहते हुए भी उपन्यासकार परिस्थितियों से समझौता करता रहता है । डिकेस में हास्य और विनोद का रग इतना गहरा है कि वह पाठक की चेतना को बांधे रहता है और उसे ऊबने नही देता । हास्य की स्थिति मुस्कराने की ही अनुमति देती है, अट्टहास की नही, क्योकि उसके विनोद पर करुण चित्र सदा हावी रहता है । डिकेस के पात्र सजीव हैं और काफी हद तक स्वच्छन्दतावादी और भावुक भी । डिकेंस के उपन्यासो मे शिल्प का अभाव है । इसका एक कारण यह भी है कि उसके उपन्यास पत्रिकाओ मे खण्डो मे प्रकाशित हुए थे । युग-बोध की दृष्टि से डिकेस ईमानदार कलाकार है, फिर भी समाज के प्रति उसकी घृणा पाठक के अन्तस् में विद्रोह उत्पन्न करने मे सक्षम नही है । उसके पात्र सबल होते हुए भी सामाजिक द्वन्द्व के प्रतीक नही है ।

यशपाल ने भी अपने उपन्यासो मे जन-जीवन का यथार्थ अकन किया है, लेकिन डिकेस के यथार्थ और यशपाल के यथार्थ मे अन्तर है । यशपाल ने परम्परागत गलित मान्यताओं को तोडकर उनके स्थान पर नये जीवन-मूल्यो और स्वस्थ समाज-व्यवस्था की स्थापना की ओर इंगित किया है, जबकि डिकेस केवल बाह्य यथार्थ का चित्रण करके रह गया है । डिकेस ने सामाजिक शोषण के मूल मे झाँककर पलते वर्ग-संघर्ष को नही देखा, पर यशपाल हर शोषण के मूल मे परम्परावादी विचारधारा को विद्यमान पाते है और उसका खुलकर विरोध करते है । यशपाल मे डिकेस का हास्य और विनोद व्यग्य बनकर प्रकट हुआ है और वह वैसा ही नियत्रित भी है । यशपाल ने भी सत्ताधारी शासक-वर्ग पर चोट की है और उसमे पलते हुए भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया है । जन-जीवन के चित्रण में यशपाल डिकेस से अधिक सफल हैं । यशपाल के पात्र 'टाइप' और 'व्यक्ति' दोनो हैं । उनमे युग-चेतना है और वे तर्क से काम लेते हैं । किन्तु डिकेस के पात्र भावुक अधिक है ।

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन का लक्ष्य यह बतलाना नही है कि दोनों में कौन अधिक सफल है, क्योंकि दोनों के रचना-काल में वर्षों का अन्तराल है।

(२) थामस हार्डी और यशपाल—थामस हार्डी को गणना अंग्रेजी के महान् उपन्यासकारो मे की जाती है। हार्डी पेशे से शिल्पकार था और ग्रीक साहित्य का उस पर अत्यधिक प्रभाव था। उसके उपन्यास पाठक की सम्वेदनशीलता को जगाने मे पूर्णतया सक्षम हैं। उसने घटनाओं को तराश कर संयोजित किया है। उसका प्रत्येक पात्र एक गगनचुंवी मीनार है जिसकी अवतारणा एक सुनियोजित योजना के अन्तर्गत हुई है। दुःखान्त साहित्य और चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपीयर के बाद हार्डी सबसे बडा कलाकार है।

डिकेंस ने अपने आपको कस्बो और शहरों के मध्यवर्गीय एवं कुलीन परिवारो तक ही सीमित रखा, पर हार्डी ने पहाड़ी क्षेत्रों में पलने वाले जन-जीवन को अपने साहित्य का उपजीव्य बनाया। डार्विन का उस पर स्पष्ट प्रभाव है। छोटी मछली वडी का शिकार बनती है, शक्तिशाली सदा अपना पोषण अशक्तों के शोषण से करता है, यह बात हार्डी के हर उपन्यास से ध्वनित होती है। हार्डी नियतिवादी है, वह मानता है कि शक्तिशाली और अशक्त के भेद को जन्म देने वाली प्रकृति या नियति है। उसने तत्कालीन समाज के यथार्थ चित्र को प्रारब्धवादी तूलिका से अंकित किया है।

'दि मेयर आफ केस्टरब्रिज' का नायक माइकिल आवेश की स्थिति में अपनी पत्नी को बेच देता है। उसकी पुत्री भी खरीदने वाले के साथ चली जाती है। कालान्तर मे यही माइकिल अपने श्रम से केस्टरब्रिज का मेयर बनता है और अपने अधीनस्थ फारफ्रे पर अतिशय स्नेह दर्शाता है। इसी फारफ्रे से माइकिल को प्रेम, वाणिज्य एव राजनीति तीनो क्षेत्रो मे पराजय मिलती है। माइकिल दिवालिया हो जाता है, क्योंकि व्यापार में वह ज्योतिष द्वारा प्राप्त फल के अनुसार क्रय-विक्रय करता है। माइकिल अमित शक्तियो का स्वामी है। वह नियतिवादी होने पर भी प्रारब्ध से संघर्ष करता रहता है। उसमे परिस्थितियों से जूझने की शक्ति है। वह टूट जाता है, पर कभी नही झुकता। वह किसी की सहानुभूति नही चाहता, क्योंकि सहानुभूति उसके लिए महज एक सुस्त अँगडाई है। मृत्यु तक वह जूझता रहता है और 'मैकवेथ'-सा शक्तिशाली दिखाई देता है।

हार्डी की नायिकाएँ भी अपना विशेष महत्व रखती है। टेस को ले लिया जाये, उस पर बलात्कार होता है। वह एक स्थिति से उबरती है तो दूसरी में फँस जाती है और बाजी जीतते-जीतते हार जाती है। इस जय-पराजय की स्थिति में भी हम उसमे जीवन के प्रति आसक्ति देखते हैं। बलात्कार से बचने के लिए वह कत्ल करती है और फरार हो जाती है। जीने के लिए वह खेतों में श्रम करती है और इसी संदर्भ मे जमी-

दारो की क्रूरता उभरकर सामने आती है। यहाँ हार्डी मे आक्रोश दिखाई देता है, पर यह आक्रोश तत्कालीन आर्थिक ढाँचे के प्रति न होकर नियति के प्रति है। 'ज्यूड दि आवस्क्योर' मे भी हम मनुष्य को अकारण पिसते हुए देखते हैं और इसका भार लेखक प्रारब्ध पर डालता है।

हार्डी के उपन्यासों में प्रकृति एवं वातावरण का सफल अकन है। उसकी शैली वर्णनात्मक है। प्रकृति के उग्रतम तत्वो के चित्रण मे उसने अपूर्व कौशल दिखाया है। प्रकृति उसके लिए पुनीत और पूज्य नही, क्योकि वह प्रकृति की गोद मे गिद्ध और बाजो को अपने शिकार पर झपटते हुए देखता है। उसने प्रकृति को रक्त-रजित मुखवाले दैत्य-सा पाया। हार्डी ने तत्कालीन समाज में अकारण पिसती और भोग कर दुत्कार दी जाने वाली नारी का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर उसके प्रति न्याय की माँग की है। इस नग्न यथार्थ का स्वागत लोगो ने उसके उपन्यासो को सरेआम बाजार में जलाकर किया, तब हार्डी ने साहित्य की इस विधा को सर्वदा के लिए तलाक दे दिया।

हार्डी की तुलना यदि यशपाल से की जाय तो सबसे बडी कठिनाई यह होगी कि दोनों भिन्न जीवन-दर्शन से प्रभावित कलाकार हैं। जहाँ हार्डी नियति को हर बुराई के लिए जिम्मेदार ठहराता है, वहाँ यशपाल मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के प्रभाव के कारण हर बुराई की जड़ आर्थिक विषमता को मानते है। हार्डी निराशावादी है, और यशपाल आशावादी एवं युग-चेतना से प्रभावित कलाकार। हार्डी के प्रमुख पात्र कतिपय भूलो के परिणामस्वरूप मृत्यु पाते है, यशपाल के पात्र एक निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए मृत्यु का वरण करते दिखाई देते हैं। हार्डी के पात्र लकीर के फकीर बने रहते हैं, पर यशपाल के पात्र देश, समाज को उन्नत बनाने के लिए रूढिग्रस्त मान्यताओं से संघर्ष करते हुए नये जीवन-मूल्यो की स्थापना मे प्रयत्नशील दिखाई देते है। जन-जीवन के चित्रण मे दोनो बेजोड है। हार्डी की नायिकाएँ पुरुष की वासना का शिकार बनती है, उन पर बलात्कार होता है और ऐसा ही यशपाल की नायिकाओ के साथ भी। कई स्थलो पर 'झूठा सच' की तारा टेस-सी दिखाई देती है।

हार्डी ने जीवन की मीमासा करते हुए पाया कि जीवन अभावो का ढेर है और इस दु:खान्त वातावरण के सृजन के लिए नियति को ही जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए। यशपाल ने भी मानव-बेबसी को देखा और उसका कारण नियति नही, वर्ग-विषमता को माना। इसीलिए यशपाल इन समस्याओ का हल वर्ग-सघर्ष के माध्यम से प्रस्तुत करते है। यशपाल के मतानुसार मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है, पर हार्डी हताश-परेशान हो नियति को महत्व देता है। हार्डी की भाषा यशपाल से अधिक सक्षम है।

(२) गाल्सवर्दी और यशपाल—डिकेंस और हार्डी के बाद गाल्सवर्दी अंग्रेजी उपन्यास शृंखला की एक ऐसी कडी है जिसके बिना आज के कथा-साहित्य का

क्रमिक अध्ययन असंभव है। सम-सामयिक जीवन को दृष्टि में रखकर गाल्सवर्दी ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है। उसने सामाजिक समस्याओं को यथार्थ धरातल पर उभारने का प्रयास किया है। गाल्सवर्दी ने समस्याओं को अंकित कर उनके हल ढूंढने का दायित्व पाठक की बुद्धि पर छोड़ दिया है। वह परम्परा-विरोधी है और सिद्धान्तों में समयानुकूल परिवर्तन की माँग करता है। वह यह मानता है कि भोक्ता ही किसी समस्या का बेहतर हल ढूंढ सकता है। उसने अपने सिद्धान्त की परिभाषा, "सम्पत्ति के विरुद्ध सौंदर्य का संघर्ष" दी है। गाल्सवर्दी के उपन्यासों की वर्णनात्मकता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। वह वर्णनात्मक शैली का सिद्धहस्त कलाकार है। उसके चरित्र सजीव हैं, जो वर्ग-विशेष का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। उसके उपन्यासों में मध्यवर्गीय परिवारों का जीवन्त चित्रण है जो पाठक को उसी काल के किसी परिवार का सदस्य बना देता है; सम्वेदना और सहानुभूति पात्रों को बिना आयास प्राप्त होती है। 'फोरसाइट सागा' में गाल्सवर्दी ने अपनी विचार-शृंखला को सहजता और स्वाभाविकता के कलेवर में प्रस्तुत किया है।

यद्यपि यशपाल आदर्शान्दोलन के उपन्यासकार नहीं हैं, फिर भी गाल्सवर्दी की चित्रण-शैली की प्रच्छन्न छाप यशपाल पर अवश्य है। यशपाल के भी पात्र 'टाइप' और 'व्यक्ति' दोनों हैं। यशपाल में भी मध्यवर्गीय परिवारों के चित्र-विशेष हैं। यशपाल ने अपनी बात को पात्रों पर लादे बिना कथावस्तु की माँग के अनुकूल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यशपाल अपने उपन्यासों में अधिक स्पष्ट हैं, क्योंकि उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रभाव के कारण आध्यात्मिक भाग्यवादी दृष्टिकोण का तिरस्कार कर हर समस्या का मूल आर्थिक विषमता ही माना है।

(ग) फ्रेंच साहित्य के यथार्थवादी उपन्यासकार और यशपाल

(१) बाल्जाक और यशपाल—फ्रांस में उन्नीसवीं सदी नये जीवन, नई प्रेरणाएँ लेकर आई। इस काल की प्रमुख विशेषता है—अनेक विचारधाराओं का जन्म, साहित्य में नये प्रयोग और स्वस्थ यथार्थ का बीजारोपण। प्राचीनता से अपने को अलग कर तत्कालीन साहित्य ने वर्तमान और उसकी अग्रिम कड़ी भविष्य से अपना सम्बन्ध जोड़ा। इस काल में स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी दोनों साहित्य-धाराओं की रचना हुई।

'आनोरी दि बाल्ज़ाक' ने उपन्यास के क्षेत्र में एक नये प्रकार के अंकन को जन्म दिया। बाल्ज़ाक यथार्थवादी कलाकार था। उसने अपने चरित्रों को समाज के हर वर्ग से, उनके सम्पूर्ण परिवेश-सहित, चुना। उसके उपन्यासों में तत्कालीन फ्रेंच जीवन समग्रता में चित्रित है—मरती हुई सामन्ती व्यवस्था, उसके ध्वंस पर उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था, किसानों का संघर्षमय जीवन, सामाजिक वर्ग-संघर्ष एवं वैयक्तिक

अधिकारों की माँग। बाल्ज़ाक के उपन्यासों में घटना स्वाभाविकता से अग्रसर होती है और जीवन के विभिन्न रहस्य स्वयमेव उद्घाटित होते जाते हैं। उसने हर विसंगति, विपन्नता एव विषमता का सूक्ष्य और विशद् अकन किया है। वह राजतंत्र एवं सामन्ती आदर्शों मे विश्वास रखता था, फिर भी उसने मरणासन्न सामन्ती व्यवस्था और उसकी अमानवीय क्रूरता पर सचाई से प्रकाश डाला है। यदाकदा उसका क्रोध पूँजीवादी व्यवस्था पर भी बरस पड़ा है, क्योकि वह सामन्ती व्यवस्था को निगलती जा रही थी।

विचारक के रूप मे बाल्जाक की मान्यताएँ और आदर्श चाहे जो रहे हों, पर उसने अपनी मान्यताम्रो को उपन्यासों मे आरोपित करने की बेईमानी नही की। उसकी ईमानदार लेखनी ने युग-यथार्थ का ही चित्रण किया है। उसकी यह तटस्थता गौरव प्रदान कर विश्व-साहित्य में उसे अमर बनाती हैं। बाल्ज़ाक की तटस्थता ही वह विशिष्टता है जिससे संसार-भर के साहित्यकार उससे प्रभावित हैं। बाल्ज़ाक ने केवल सम-सामयिक बाह्य का ही चित्रण नही किया, वरन् उसकी आन्तरिकता को भी अकित किया है। उसके पास ऐसी पैनी दृष्टि थी जो युग-सत्य को पहचानकर यथार्थ मे प्रवेश करती है।

यशपाल पर बाल्ज़ाक की छाप प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपो में है। यशपाल ने भी अपने चरित्रो का चुनाव हर वर्ग से किया है और उनके मनोविज्ञान के अनुकूल कथावस्तु का ताना-बाना बुना है। यशपाल और बाल्ज़ाक दोनो ने मनोविश्लेषण और मानसिक 'आपरेशन' को महत्व नहीं दिया है। यशपाल मध्यवर्गीय पात्रो की मूर्ति गढ़ते हैं और इसी संदर्भ में पूंजीवादी व्यवस्था पर, जो समाज में कोढ़ बनकर छाई है, प्रहार करते है। हर वर्ग और सम्प्रदाय से यशपाल ने अपने चरित्रो का चयन किया है। उनके उपन्यासो मे राजनीतिक पार्टियो का भी जमघट दिखाई देता है। ऐसा लगता है मानो चुनावकालीन भारत उभर आया हो। यशपाल मे बाल्ज़ाक की-सी तटस्थता सर्वत्र नही है, केवल 'झूठा सच' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें लेखक ने बाल्ज़ाक की तटस्थता का यथासभव निर्वाह किया है। यशपाल प्रगतिशील चरित्रों को अपनी सहानुभूति प्रदान करने मे कार्पण्य नही दिखाते। यशपाल के पास अपना एक जीवन-दर्शन है जो मार्क्स और फ्रायड की विचारधारा से प्रभावित है। अतः वे हर समस्या का समाधान उसी में ढूंढ़ते है। बाल्ज़ाक के उपन्यासो मे निराशा का स्वर प्रमुख है, पर यशपाल मे ऐसा कही नहीं।

यशपाल और बाल्ज़ाक अपने-अपने युग के महान् कलाकार हैं, युगभेद के कारण दोनों मे दृष्टि-भेद है। यशपाल समाजवादी यथार्थ के कलाकार हैं और बाल्ज़ाक केवल यथार्थ के अंकन के लिए ही यथार्थ का अंकन करता है।

(२) मोपासां और यशपाल—मोपासां, बाल्ज़ाक की यथार्थवादी परम्परा का उपन्यासकार है। वह सफल कहानीकार भी था। उसने सामान्य लोगों को चुनकर उनके कुछ क्षणो के जीवन को कहानी मे पिरोकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, वह बाल्जाक से वस्तुतः दो कदम आगे था। उसने प्रकृतवाद को दृष्टि में रखकर उपन्यासो की रचना की है। वह फ्लावेयर की विचारधारा और तकनीक से प्रभावित दिखाई देता है। मोपासां पूर्ण सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिए व्यग्र दिखाई देता है। वह पाखण्डों के आधार पर मुस्कराते गुलाबी रग के फरेबी आदर्शो से सघर्ष कर उन्हे स्वाभाविक रूप मे प्रस्तुत करना चाहता है। जीवन मे भूख-प्यास की तृप्ति की तरह शरीर की भूख (काम) की तृप्ति भी अनिवार्य है, अतः उसे आदर्शों की जजीर से जकडना मोपासां को स्वीकार नही था। उसका मत था कि साहित्य मे सब कुछ स्पष्ट कहा जाना चाहिए, केवल उसमे 'मैं' का निषेध होना आवश्यक है। मोपासां पर अश्लीलता का भी आरोप लगाया जाता है, क्योकि वह यौनाचार को नैतिक मूल्यो से न जोडकर उसे प्रकृत या स्वाभाविक मानता है।

समाज के नग्न सत्य के अकन मे मोपासां ने भाषा के सरलतम प्रयोग को चुना। उसके पात्र साधारण व्यक्ति हैं। तथा उनकी भाषा, व्यवहार, वस्त्र, आचार आदि में एक लापरवाही झलकती है, जो उन्हे और आकर्षक बना देती है। मोपासां भाषा के निखार और शैली की स्पष्टता के लिए प्रसिद्ध है। उसके चित्रण मे सूक्ष्मता है और हृदय पर चोट करने की सामर्थ्य भी। यदि उसमें अभाव है तो केवल कल्पना का और तत्कालीन समाज की घुटन और उमस के प्रति आशावादी दृष्टिकोण का। मोपासां के साहित्य मे समाज का उच्छृखल, पतित और शोषणपरक चित्र अवश्य मिलता है, पर ये चित्र यथार्थ की अनुकृति-से लगते है, जिनमे उलझे पात्र उस व्यूह को तोडकर बाहर निकलने की शक्ति नही अर्जित कर पाते हैं।

यशपाल अपने पात्रो को घटनाचक्र से निकालना जानते हैं, क्योकि वे अपनी सघर्षशीलता के कारण निर्णायक शक्ति बनकर सामने आते है। यशपाल ने भी जन-जीवन के अंकन मे ईमानदारी का परिचय दिया है और उसे संघर्ष की शक्ति प्रदान की है। बाल्जाक, मोपासां आदि ने बाह्य स्थिति के घिनौने रूप को ही देखा, पर उसके मूल में निहित चिनगारी को उघाडने का प्रयास नही किया। मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित यशपाल ने विसगतियो, बूर्जुआ विचारधारा एव पूंजीवादी शोषक मनोवृत्ति को पहचान कर उसकी प्रतिगामी भूमिका की प्रताड़ना की। यशपाल भी शरीर की भूख को प्राकृतिक भूख ही मानते है। वे भी शरीर की पवित्रता यौनाचार में नही ढूंढना चाहते हैं। साथ ही, यशपाल मे एक बात और मिलती है, जो उन्हे अन्य यथार्थवादी उपन्यासकारो से

पृथक् करती है, वह है सामाजिक विकास के लिए आवश्यक प्रगतिशीलता। इसीलिए यशपाल के चित्र सर्वाङ्गीण हैं। यशपाल पर मोपासा का स्पष्ट प्रभाव है।

(३) अनातोले फरांस और यशपाल—अनातोले फ्रास प्रतीकवादियो का कटु आलोचक बनकर सामने आता है, क्योंकि दुरूह विचारो की अस्पष्ट अभिव्यक्ति उसे पसन्द न थी। वह कथन मे स्पष्टता को अधिक पसन्द करता था। वह हर वस्तु को स्पष्ट, बिना किसी दुरूहता के, देखना चाहता है। उसकी विचारधारा और शैली दोनो 'थाया' मे स्पष्ट झलकती है। वह 'थाया' मे अनेक नैतिक और दार्शनिक मान्यताओं की अस्वीकृति लेकर सामने आता है और उसके तर्क प्लेटो की याद दिलाते है। उसके विचार पाठक के हृदय और मस्तिष्क मे खूबसूरत गुड़ियो के नृत्य का दृश्य उपस्थित करते हैं। अनातोले फ्रास ने मिस्र की चौथी शताब्दी की सुनहरी लोककथा के माध्यम से 'पैगन' ससार को क्रिश्चियन ससार के समक्ष ला खडा किया है। वस्तुतः थाया के लिए स्वर्ग मृत्यु के पश्चात् निश्चित है और वह साधु, जिसने दुष्टतापूर्ण ढंग से थाया पर अधिकार किया, नरक के दरवाजे पर खड़ा दिखाई देता है। 'थाया' नीतिकार की रचना लगती है, न कि मनोविज्ञान मे विश्वास करने वाले किसी दर्शनशास्त्री की। पाप-पुण्य की नूतन मीमासा प्रस्तुत करते हुए अनातोले फ्रास ने उसके मूल्यांकन का एक नया प्रतिमान उपस्थित किया है।

अनातोले फ्रास मे उपन्यासकार और निबन्धकार दोनों मौजूद हैं। वह प्राचीन पौराणिक कथाओ को खोजकर उन्हें आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करता है। उसने साहित्य-जगत् को प्रतिनिधि-पात्र और व्यक्ति-पात्र दोनो दिये हैं। उसके साहित्य मे समाज के प्रत्येक वर्ग से हमारा परिचय होता है—जैसे, विद्वान्, सैनिक, अधिकारी या सामान्य जन। नारी पात्र भी कई वर्गों से लिये गये हैं। जहाँ उसके पात्र मानव नही है, वहाँ भी वे मानवीय आवश्यकताओ से परिचालित दिखाई देते हैं। अनातोले ने जो कहा है, वह उससे पूर्व भी कहा जा चुका था; फिर भी उनके प्रस्तुतीकरण मे उसकी अपनी मौलिकता दिखाई देती है। अनातोले से विश्व के समस्त परवर्ती साहित्यकार प्रभावित हैं।

यशपाल ने भी अनातोले के उपन्यास पढे है और उनका प्रत्यक्ष प्रभाव यशपाल पर है। अनातोले पर फ्रायड का प्रभाव था, अतः अनातोले के माध्यम से यशपाल पर फ्रायड का प्रभाव पडा प्रतीत होता है। शिल्प की दृष्टि से यशपाल वस्तुतः अनातोले से बहुत पीछे है, फिर भी उनकी 'किस्सागोई'-शैली कम प्रभावोत्पादक नही है।

अनातोले फ्रास के युग और परिवेश मे तथा यशपाल के युग और परिवेश में काफी अन्तर है, फिर भी नैतिक मान्यताओ के नवमूल्यन की दृष्टि से वे काफी नजदीक दिखाई देते है। इतिहास से चुने कथासूत्रो को मार्क्सवादी ढग से प्रस्तुत करने का प्रयास

यशपाल ने 'दिव्या' और 'अमिता' मे किया है। पौराणिक आख्यान के आधार पर 'अप्सरा का श्राप' लिखा है। यौन पवित्रता या अपवित्रता को मानदण्ड बनाकर किसी चरित्र के मूल्याकन की परम्परा का दोनो ने विरोध किया है। यशपाल भी परम्परागत गलित रूढियो से विद्रोह करते हैं और नये मूल्यों की स्थापना चाहते हैं।

(घ) रूसी साहित्य के यथार्थवादी उपन्यासकार और यशपाल

(१) इवान सेर्गेइविच तुर्गनेव और यशपाल—रूसी साहित्य में यथार्थवाद की वास्तविक स्थापना इवान सेर्गेइविच तुर्गनेव से होती है। तुर्गनेव का जन्म १६वी सदी के दूसरे दशक मे हुआ। वह प्रकृति से सुकुमार था। बचपन मे ही वह दासों की दशा देखकर पसीज उठा। जमीदार परिवार का सदस्य होकर भी उसने किसानो के लिए सहानुभूति अनुभव की। जार-सरकार स्वतंत्रता-आन्दोलन से भयभीत थी, अतः उसने रूसी छात्रों को विदेशी विचारकों से दूर रखने के लिए उन्हे विदेशो से वापस बुला लिया। तुर्गनेव को भी अपनी शिक्षा अधूरी छोडकर बर्लिन से वापस आना पड़ा।

उसने अपनी कविता और कहानी मे अनेक समस्याओ को उठाया, जैसे, दास किसानों की दयनीय स्थिति, बुद्धिवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियो के बीच पनपता हुआ वैचारिक सघर्ष तथा प्रेम-विवाह सम्बन्धी रूढ़ मान्यताएँ आदि, आदि। तुर्गनेव ने अपने 'उपारभ पर' नामक उपन्यास का नायक किसी रूसी व्यक्ति को न बनाकर बुल्गारिया के क्रांतिकारी चरित्र इन्सारोव को बनाया, क्योकि वह जानता था कि अभी रूमी जनता क्राति के लिए तैयार नही थी। वह क्रांति से ज्यादा सुधार और सन्तुलन में विश्वास करता था। तुर्गनेव मूलतः कवि था, पर उसने अपने विचारो को स्पष्ट करने के लिए कहानी और उपन्यास को माध्यम बनाया। उसका प्रकृति-वर्णन यूरोपीय प्रकृति-वर्णनों मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसके यथार्थ चित्रण ने अनेक सैद्धातिक झगड़ो को जन्म दिया और उसे देश-निष्कासन का दण्ड भी मिला। उसकी रचनाओ ने उस समय के यूरोप के विचारको, लेखको और समाजशास्त्रियो पर अपना चमत्कारिक प्रभाव डाला। उसके उपन्यास 'पिता और पुत्र' में मरती पीढी और उभरती पीढी का बड़ा सुन्दर द्वन्द्व चित्रित है। सक्राति-काल मे किस तरह मान्यताएँ टूटती और बनती है—इसका उपन्यास में स्पष्ट उल्लेख है। इस उपन्यास के कारण लोगो ने उस पर शैतान का प्रभाव देखना शुरू किया। उसकी भाषा में लालित्य है, पद्यात्मक गद्य जिसकी विशेषता है। साथ ही, उसकी भाषा मे विचारो को वहन करने की अपूर्व क्षमता भी है।

तुर्गनेव की छाप विश्व-साहित्य पर है। टालस्टाय भी तुर्गनेव से प्रभावित था। इसका प्रभाव यशपाल पर भी अत्यधिक है, विशेषकर उसके 'पिता और पुत्र' उपन्यास

का। इस प्रभाव को स्पष्ट रूप मे 'झूठा सच' मे देखा जा सकता है। जीवन के लिए संघर्ष करते हुए शरणार्थी समाज को मथ कर एक नये प्रकार के समाज को जन्म देते है। नये ढग से स्थापना पाने के लिए पुरानी मान्यताओं मे सुधार करना या उन्हे विस्थापित कर देना उनके लिए आवश्यक था। तुर्गनेव बूर्जुआ समाज या सामन्ती व्यवस्था से सर्वहारा-वर्ग के लिए दया और सहानुभूति चाहता है, जबकि यशपाल किसी के सामने सहानुभूति या दया के लिए हाथ नही फैलाते। उनके मध्यवर्गीय पात्र जूझने और सघर्ष करने मे विश्वास करते हैं। यशपाल के उपन्यासो का जन-मानस ज्यादा प्रगतिशील है, अतः वह अपने अधिकार की रक्षा करने मे समर्थ है। तुर्गनेव की पद्यात्मक गद्य-शैली बेजोड है, पर यशपाल हर बात को मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार सरल बोलचाल की भाषा मे ही कहना चहते हैं। प्रकृत-वर्णन यशपाल में नही के बराबर है। यशपाल वर्तमान समाज-व्यवस्था मे सुधार ही नही, आमूल परिवर्तन भी चाहते हैं; नर-नारी सम्बन्धो मे सुधार और उत्पादन के साधन पर सबका अधिकार।

(२) लियो टाल्स्टाय और यशपाल—लियो टाल्स्टाय १६वी सदी की देन है। उसका जन्म अभिजात कुल मे हुआ। बचपन मे ही उसके सिर से माता-पिता का संरक्षण उठ गया। उसके जीवन का प्रथम लक्ष्य एक दयालु, उदार जमीदार बनना था। इसी भावना ने उसे जनहित के कार्य करने की प्रेरणा दी।

टाल्स्टाय का पहला साहित्यिक कार्य उसकी आत्म-कथात्मक त्रयी है। इनसे टाल्स्टाय की अभिरुचियो का पता चलता है। इन्ही से उसकी इस भावना का पता चलता है कि वह आडम्बरपूर्ण समाज से दूर रहकर सीधा-सादा जीवन बिताना चाहता था। 'सेवास्तोपोलीय कहानियाँ' मे टाल्स्टाय ने प्रथम विश्वयुद्ध के आधार पर युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया है। युद्ध की नग्नता चित्रित कर मनुष्य की पाशविक रक्त-पिपासु प्रवृत्ति पर वह प्रहार करता है। कजाकी कहानियो के माध्यम से वह स्पष्ट करना चाहता है कि कृत्रिम वातावरण मे विगडा जीवन सहज ढंग से इस कृत्रिमता से मुक्ति नही पा सकता। विश्व-साहित्य को उसकी अनूठी देन 'युद्ध और शांति' है। टाल्स्टाय ने इस उपन्यास में जनता को समाज और देश की निश्चयात्मक शक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया है। किसी भी जन-आन्दोलन को जनता का सहयोग ही चला सकता है। इस उपन्यास का नायक एक हँसमुख, विचारवान, विनम्र, राजनीतिज्ञ एवं तर्क-सम्पन्न अभिजात कुलोत्पन्न सेनापति है, जो जनता के बीच सदा मौजूद रहता है और उसके मनोबल और आत्मबल को टूटने न देकर उसे प्रज्वलित करता है। अभिजात वर्ग के चित्रण से पता चलता है कि उसके लिए उसका स्वार्थ-साधन ही सब कुछ था। टाल्स्टाय के स्त्री-पात्र घरेलू जिन्दगी मे बँधे दिखाई देते है, यद्यपि उनमें देशभक्ति और

मानव-प्रेम भी कूट-कूटकर भरा है। टाल्स्टाय स्त्रियो को घर की चारदीवारी की सीमा में देखना चाहता है, इसलिए वह उन्हे सामाजिक कार्य-कलापों से दूर रखता है।

टाल्स्टाय मे जातीय गरिमा कूट-कूटकर भरी है। उसने पनपने वाली पूंजीवादी व्यवस्था की गध पा ली और जान लिया कि अभिजात प्रभुता नष्ट होकर ही रहेगी और उसका स्थान पूंजीवादी व्यवस्था लेकर रहेगी। इस नई व्यवस्था के उत्थान मे उसने जनता का अहित देखा, इसलिए दोनो वर्गों की कटु आलोचना की। उसने चर्च पर भी प्रहार किया। हरखाई टाल्स्टाय की आलोचना का विषय बनी। 'अन्ना करेनिना' मे उसने तत्कालीन समाज के खोखलेपन की पोल खोली है। इसमें नारी-परवशता का बड़ा कारुणिक चित्रण है। जन-सामान्य के खाली पेट और उस पर होने वाले चौतरफा अत्याचारो का अकन टाल्स्टाय का प्रिय विषय था। उसने क्राति का समर्थन नही किया है। वह अन्याय और शोषण का निराकरण नैतिक आत्म-सुधार से करना चाहता था।

'पुनर्जन्म' आलोचनात्मक यथार्थ की श्रेष्ठतम रचना है। इसमें टाल्स्टाय ने बूर्जुआ समाज-व्यवस्था की आलोचना की है। इस दुःखान्त उपन्यास मे वह अभिजात एव उभरनेवाली पूंजीवादी व्यवस्था एव कुत्सित सामाजिक तथा शासकीय व्यवस्था की आलोचना करता है। यहाँ टाल्स्टाय अपनी पूर्व-रचनाओं से अधिक पैनी आलोचनात्मक दृष्टि अपनाता है और सत्ताधारी अवसरवादिता, ढोग, आडम्बर, प्रपच, न्याय के नाम पर चलने वाले अन्याय और न्यायालयो मे पलने वाले फरेब एव शासन के हाथ की कठपुतली 'चर्च' पर तीव्र प्रहार करता है।

टाल्स्टाय ने जीवन और धर्म दोनो क्षेत्रो मे क्रांतिकारी भावना को जन्म दिया जो आगे चलकर अन्य परवर्ती कलाकारो द्वारा विकसित हुई। वह स्वयं सुधारवादी दृष्टिकोण मे विश्वास करता था और प्रगतिशील था। उसने नारी को एक सीमित दायरे मे देखना चाहा, पर साथ ही उसके अधिकारो की रक्षा की मांग भी करता है। वह अहिंसा मे विश्वास करता था। विश्व के प्रगतिशील आलोचकों ने उसे प्रतिक्रियावादी माना है, लेकिन वह वस्तुतः मानवतावादी विचारक, चिन्तक एवं दर्शनशास्त्री था। उपन्यासो की दुनिया में चिन्तन की परम्परा उसी ने आरम्भ की। विश्व का चिन्तक वर्ग टाल्स्टाय से विशेष प्रभावित है। गोर्की के लौह-व्यक्तित्व के निर्माण मे टाल्स्टाय के विचारो का महत्वपूर्ण योगदान है। पर दोनो के साहित्यिक व्यक्तित्वो मे अन्तर यह है कि टाल्स्टाय ने सामाजिक बुराइयो का अकन करते हुए उनका निराकरण आत्म-सयम, अहिंसा और नैतिकता मे ढूंढा, पर गोर्की ने समाजवादी यथार्थ को जन्म दिया। आशा की लहर टाल्स्टाय मे सर्वत्र मिलती है। वह सम्पत्ति को व्यक्तिगत न बनाकर समाज को सौंपना चाहता था।

आरंभिक रचनाओ में क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद का प्राधान्य है । इस काल की रचनाओं के नायको मे मानवीय गुणों का बाहुल्य है । गोर्की अपने पाठको को स्वतन्त्रता के लिए बलिदान हो जाने की कहानी सुनाता है । उसने बूर्जुआ व्यक्तिवादी चेतना की कटु आलोचना करते हुए मानवतावादी भावना की स्थापना की । ऐसा प्रतीत होता है कि गोर्की लोगों के वैचारिक स्तर को उर्वर बनाकर उनमे काति के बीज बोना चाहता है । गोर्की की रोमाटिक रचनाओ में मजदूरो और किसानो के हृदय मे पलने वाली कातिकारी भावना मिलती है । रोमाटिक रचनाओ मे यथार्थ भी है । गोर्की की शोषित नारी के चित्र को देख कर पाठक कुछ कर गुजरने की स्थिति मे पहुँच जाता है । गोर्की ने समाज को दो वर्गों मे बाँटा है—शोषक और शोषित । गोर्की के नायक सघर्पशील है जो समझौता मे बिल्कुल विश्वास नही रखते । गोर्की शोषणमूलक समाज-व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन चाहता है ।

समाज के किसी अंग की उपेक्षा उसने नही की । उसका 'आवारा' स्पष्ट रूप से उस समय के बेकारी के शिकारों का चित्र है । इन आवारो में प्रतिवाद की शक्ति है और गोर्की ने उन्हे क्राति के लिए और उकसाया । उसने मजदूरो के हृदय मे प्रवेश कर उनके असतोप और प्रतिकार की भावना को समझा । यहाँ तक गोर्की पूर्णरूपेण क्रातिकारी बनकर सामने नही आता, पर उस पर जो रंग तुर्गनेव और टाल्स्टाय के चिन्तन का चढा था, वह तिरोहित हो जाता है । वह अब परम्परावादी मानवतावादी नैतिक सुधारवाद की शरण नही लेना चाहता ।

अपने लेखन के द्वितीय काल-खण्ड में गोर्की ने आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण से समाज का चित्रण किया है । उसने उन बुराइयो को अनावृत कर लोगो के सामने उपस्थित किया, जो पूँजीवादी व्यवस्था मे लोगो पर जुल्म ढाकर उन्हे कराहने को मजबूर करती थी । वह बूर्जुआ समाज को सम्पत्ति का दास मानता है, न कि स्वामी । इस काल मे उसके मजदूरो का चित्र क्रांति के लिए उतावले व्यक्तियो का चित्र है । यही से क्राति के लिए सन्नद्ध मजदूर दिखाई देने लगते हैं । यह समाजवाद शोषितो से कहता है कि या तो वे अपनी शक्ति को पहचान सगठित हो, अपने अधिकारों की रक्षा करे या पशुवत् जीवन जीने को तैयार हो जायें । गोर्की समाज की विसगतियो और विषमताओ को प्रकट कर पूँजीवादी-व्यवस्था के पैशाचिक स्वरूप की भर्त्सना करता है ।

लेखकीय जीवन के तीसरे काल-खण्ड मे गोर्की समाजवादी यथार्थवाद के धरातल पर उतरता है । उसने क्राति का आह्वान अपने दो गीतो 'तूफानी चिडिया का गीत' और 'मनुष्य' के माध्यम से किया । इसके बाद आता है गोर्की का 'माँ' उपन्यास, जिसमे उसने जन-शक्ति का चित्र उपस्थित किया । यहाँ पहुँचते-पहुँचते गोर्की पूर्णरूपेण

यशपाल ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे टाल्स्टाय के चिन्तन से प्रभातित हैं। लेकिन नारी के प्रश्न पर यशपाल और टाल्स्टाय के विचारो मे कोसों की दूरी दिखाई देती है। यशपाल नारी का शोषण इस पूंजीवादी अन्यायमूलक समाज-व्यवस्था मे चौतरफा देखते हैं। वे यह कदापि स्वीकार करना नही चाहते कि नारी की शोभा घर की चारदीवारी-मात्र है। यशपाल नारी को पुरुष के साथ हर मोड पर कधे से कधा मिलाकर सहयोगिनी के रूप मे देखना चाहते है। यशपाल मानते है कि विवाह संस्था अपने वर्तमान रूप मे एक रूढि बन गई है जिसके टूटने में ही समाज और व्यक्ति दोनो का हित है। उनके मतानुसार नारी को अपने मन-तन के अनुकूल साथी पाने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। नारी केवल भोग की वस्तु नही, वह बच्चा पैदा करने की मशीन नही, वह भी व्यक्ति है। धर्म के क्षेत्र मे यशपाल अधिक उदार विचारो की माँग करते है। धर्म यदि मनुष्य को शोषणमूलक व्यवस्था की ओर ले जाता है तो वह अधर्म है। यशपाल के उपन्यासो मे सर्वहारा-वर्ग—किसान-मजदूर—की बेबसी का ही नही, मध्यवर्गीय परिवारों का भी चित्रण है। टाल्स्टाय के उपन्यास 'युद्ध और शांति' का यशपाल पर विशेष प्रभाव है। युद्ध की विभीषिका में दग्ध लोगो की कहानी स्वतत्रता के पश्चात् धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद मे जले लोगो की कहानी-सी लगती है। युद्ध की स्थिति मे भी लोग हवा के झोको मे सूखे पत्तो-से मारे-मारे फिरते थे। टाल्स्टाय के नारी-चरित्र अधिक सम्वेदनशील और भावुक हैं, जबकि यशपाल के नारी-चरित्र बुद्धि-वादी है। भावुकता उन्हे दबा नही पाती, किसी को खोकर यशपाल की नारियाँ हताश होकर संघर्ष करना नही छोड़ती। राजनीतिक सता के लिए अपनाये गये हथकंडो का पर्दाफ़ाश यशपाल ने बडी खूबी से किया है। यशपाल ने मध्यवर्गीय लोगों में वैचारिक क्रांति की चिनगारी को सुलगते देखा है, जबकि टाल्स्टाय पूंजीवादी-सामन्ती व्यवस्थापको मे सुधार चाहता है। यशपाल अधिक प्रबुद्ध युग की देन हैं। अतः उनके विचारो में नैतिकता की वह दुहाई नही है, जो टाल्स्टाय मे है। टाल्स्टाय मानवतावादी था, इसलिए उसके मानवीय दृष्टिकोण मे आकृष्ट करने की क्षमता है। टाल्स्टाय ने आदर्शों की बात की है और अपने चरित्रो को भी आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि यशपाल यथार्थ की माँग के अनुकूल आचरण करने वाले पात्रों की सृष्टि करते हैं।

(३) मैक्सिम गोर्की और यशपाल—मैक्सिम गोर्की का नाम लेते ही रूस की क्रान्ति सामने आ जाती है। गोर्की कलाकार था, साथ ही सर्वहारा-साहित्य का प्रस्थापक। उसने समाजवादी यथार्थ को कलात्मक रूप देकर यथार्थ की नई व्याख्या प्रस्तुत की।

गोर्की के साहित्य को तीन खण्डो मे देखने से तत्कालीन साम्यवादी विचारधारा के विकास-क्रम और गोर्की के साहित्यिक विकास का स्पष्ट पता चलता है। गोर्की की

मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित हो, उसका लोगो मे प्रचार करता है। उसके नायक मार्क्स के दर्शन को किसानो और मजदूरो मे प्रचारित कर शासन-व्यवस्था को उलटने का प्रयास करते है। अब उसके उपन्यास के बुद्धिजीवी पात्र भी मजदूरो के साथ क्राति मे सम्मिलित होते हैं। इस उपन्यास ने रूसी जनता के टूटते मनोबल को फिर से ऊँचा किया।

१९०५ ई० की असफल रूसी क्रांति ने प्रतिक्रियावाद को बढ़ावा दिया और निराशा जीवन के हर क्षेत्र मे घुस पड़ी। दमन की आतकवादी पृष्ठभूमि पर लोग सिसकने लगे। इस स्थिति को समझ गोर्की ने नये नायको को उपन्यास में स्थान दिया, जो समाजवादी आदर्शों के प्रतीक हैं। सर्वहारा-वर्ग के साथ सहानुभूति, उसके अधिकारो के लिए सघर्ष की भावना ने गोर्की को समाजवादी यथार्थवाद का अग्रदूत बना दिया। गोर्की ने जय-पराजय दोनो परिस्थितियो मे सामाजिक यथार्थ को जीवित रखा। प्रतिक्रियावादियो की आलोचना ने उसे और शक्ति दी। मार्क्स मे उसने अपने साहित्य का दर्शन पाया और सर्वहारा को अपने साहित्य की आत्मा बनाया। गोर्की ने उभरती हुई क्रांति का समर्थन अपने लेखो मे किया। लेनिन के सामीप्य ने उसे नयी प्रेरणा दी। उसके नायक प्रगतिशील है और संघर्षों में कभी कुठित नही होते। गोर्की की साहित्यिक व्यजना में कही भी निराशा का स्वर नही है। उसने जीवन और मनुष्य को समग्रता में उपस्थित किया। गोर्की सही मानो मे नई चेतना का प्रवर्तक और नई दुनिया का प्रतिनिधि साहित्यकार है।

साहित्यिक जगत् मे प्रवेश करने से पूर्व यशपाल आतकवादी क्रांतिकारी थे। जेल मे ही उनके विचारो में परिवर्तन आया और उन्होंने आतंकवादी तोडफोड को तिलाजलि देकर जन-समूह के सगठन एवं सम्मिलित प्रयास से स्वतंत्रता की प्राप्ति चाही। यशपाल पर मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी उनमे रक्त-क्रांति के तत्व नही हैं। यशपाल जीवन को वैचारिक क्राति द्वारा बदलना चाहते हैं। 'झूठा सच' मे उपन्यासकार देश की स्थिति मे प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली से परिवर्तन ले आना चाहता है। यशपाल और गोर्की दोनो समाजवादी यथार्थ के कलाकार है। अतः उनके साहित्य मे साम्य है। जन-समुदाय तक पहुँचने के लिए दोनो ने साहित्य की आराधना की है। यशपाल ने समाज मे व्याप्त विसगतियो और विषमताओ के लिए लोगो को भी जिम्मेदार ठहराया है, क्योंकि वे परम्पराओ से चिपके रहने मे ही सन्तोष पाते हैं। यशपाल के पात्रो को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है—(१) प्रगतिशील, (२) प्रतिक्रियावादी और (३) सामान्य जन-जीवन के प्रतिनिधि पात्र। जो पात्र समय के अनुकूल आचरण करते हैं और प्रगतिशील बनने मे सकोच नही दिखाते, वे शीलो के समान आदर्श के नरक

से छुटकारा पा यथार्थ के स्वर्ग में पहुँच जाते है, और जो पात्र नही वदलते, उन्हें वन्ती की तरह सिर धुनकर मर जाना पड़ता है। यशपाल के उपन्यासों में आज का भारत झाँकता दिखाई देता है। गोर्की ने सामन्ती व्यवस्था और उसके दुष्परिणामों का अंकन कर दासता की वेडी को काटने के लिए नवचेतना का शंखनाद किया। पर यशपाल स्वतन्त्रता के पश्चात् भी व्याप्त वैचारिक दासता के चंगुल से लोगों को मुक्त करना चाहते हैं। प्रजातंत्र में किस तरह सत्ता के लिए भ्रष्टाचार का सहारा लिया जाता है, इसका पर्दाफाश कर यशपाल ने समाज को अपने वर्ग से ही अपना प्रतिनिधि चुनने की सलाह दी है। गोर्की की साहित्य-साधना का लक्ष्य पिशाच (जारशाही) को मार भगाना मात्र था, पर यशराल के समक्ष तो अनेक सिरवाले राक्षस है। नारी की सामाजिक स्थिति, उत्पादन के साधनो पर वर्ग-विशेप का आधिपत्य, उत्पादित सामग्री का अव्यवस्थित वितरण और श्रम का शोपण आदि सैकडों प्रश्न हैं जो देश के भविष्य के साथ जुडे हुए हैं। गोर्की एक महान् कलाकार और देशसेवी था; यशपाल भी अपने युग और परिवेश मे गोर्की से पीछे नही है। गोर्की-सी महानता या कीर्ति उन्हे इसलिए नही प्राप्त हो रही है क्योकि उन्हे न लेनिन-जेसे राजनेता का साथ प्राप्त है और न भारतीय जनता अपनी परम्परागत रूढियों का परित्याग करने को तैयार है।

२. हिन्दी का प्रगतिशील आन्दोलन और यशपाल

सामान्य परिस्थिति

अन्तर्राष्ट्रीय—यूरोप के सम्पर्क से भारतीय राजनीतिक जीवन में राष्ट्रवाद और साहित्य मे यथार्थवाद का प्रादुर्भाव हुआ। यूरोपीय देशो का यथार्थवाद सदैव एक नही रहा; उनकी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार उनका स्वरूप वदलता रहा और उनमें विभिन्न विचार-तत्व मिलते रहे। पश्चिम में जव औद्योगिक क्राति प्रारभ हुई तो आदर्शवाद की परम्परागत मान्यताएँ संदिग्ध होने लगीं, वुद्धिवाद का विकास हुआ और प्रत्येक मान्यता को वुद्धि की कसौटी पर कसा जाने लगा। नई पूंजीवादी शक्तियों को पुरानी सत्ताधारी सामन्ती शक्तियो से टक्कर लेनी पडी। फ्रांस मे रूसो, वाल्तेयर और डीडारो ने अपने वुद्धिवादी और भौतिकवादी चिन्तन द्वारा धार्मिक मान्यताओं पर प्रहार किया और क्रांति का वातावरण उत्पन्न किया। ईसा के प्रतिनिधि पोप के एकाधिकार के विरुद्ध लूथर, वेकन, ब्रूनो और मोन्ताएं आदि ने वौद्धिक क्राति का नेतृत्व किया। डिस्कोर्ट, स्पिनोजा, काण्ट और हीगेल आदि दार्शनिको ने तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनो के साथ आदर्शवादी सिद्धान्तो को समन्वित करने का प्रयत्न किया। परिणामतः यूरोपीय परम्परानुगामी साहित्य मे ह्रास के लक्षण स्पष्ट होने लगे। यूरोपीय साहित्य के ह्रास के कारणो की ओर संकेत करते हुए हसराज

'रहबर' ने लिखा है—"सन् १८७० के बाद पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप धारण किया। लूट-खसोट बढ़ी और उपनिवेशों के लिए अधी दौड शुरू हुई। इस अधी दौड ने न्याय, सत्य और नैतिकता को व्यर्थ की चीज बनाकर ताक पर रख दिया। झूठ, कपट और धाँधली का बोलबाला हुआ। मनुष्य का दानवीय और पाशविक रूप ही समाज और राजनीति का नेतृत्व करने लगा।"[1]

इन परिस्थितियों में दो भिन्न दृष्टिकोण विकसित हुए—प्रथम मजदूर वर्ग का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जिसे मार्क्सवाद की सज्ञा दी जाती है और दूसरा, फ्रास के प्रोधन और रूस के प्रिंस क्रोपाटिकन का अराजकतावाद। इन्ही दिनों जर्मनी के नीत्शे ने भी अपने ढग से नैतिकता और परम्परा पर कडा प्रहार किया। अन्य अनेक दार्शनिकों की विभिन्न चिन्तन-पद्धतियाँ सामाजिक मान्यताओ को प्रभावित करती रही, फलस्वरूप साहित्य मे भी अनेक मतवाद चल पडे।

मार्क्सवादी दृष्टि को सर्वप्रथम रूस मे राजनीतिक रूप दिया गया और समाजवादी शासन-व्यवस्था को प्रायोगिक स्तर पर स्वीकार किया गया। प्लाखानोव और फिर लेनिन ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किया। साहित्यिक दृष्टि से टाल्स्टाय, दास्तोवस्की, चेखव और गोर्की ने सामाजिक यथार्थवाद को क्रमशः सही रूप दिया। कालान्तर मे प्रगतिशील आन्दोलन की पड़ने वाली बुनियाद के लिए यही भूमिकाएँ रही।

राष्ट्रीय—उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे देश मे नई जागृति आई। पढे-लिखे नौजवानों का विदेशो से सम्पर्क हुआ। पराधीन भारत की दयनीय स्थिति को सही ढंग से समझने की उन लोगो ने कोशिश की। प्रारभ मे धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोडने के प्रयत्न हुए। रहन-सहन और सोचने के ढग को व्यापकता दी गई, फिर धीरे-धीरे लोगो मे राष्ट्रीय-चेतना भरने की कोशिशे की गईं। सन् १८८५ मे नेशनल काग्रेस की स्थापना के बाद से भारतीय जनता अपनी शक्ति और सामर्थ्य को पहचानने लग गई। सन् १९०५ के बंग-भग कानून से उनमे स्वाधीनता की भावना तीव्र हो गई। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) के दुष्प्रभाव से महँगाई और भुखमरी बडे जोरो से फैलने लगी। लोगो मे शासन और सत्ता के प्रति असतोष और आक्रोश बढ़ता जा रहा था। १९२० मे काग्रेस का नेतृत्व गांधी जी के हाथ मे आया। उन्होने विदेशी साम्राज्यशाही की समाप्ति के लिए असहयोग आन्दोलन का सहारा लिया।

पूंजीवाद के निर्मम चक्र से आर्थिक शोषण की प्रक्रिया तीव्रतर होती जा रही थी। उत्पादन के समस्त साधन विशेष सुविधा-भोगी वर्ग के हाथ मे हो गये थे।

१. हसराज 'रहबर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्याकन, पृ० ५०

असंख्य जनता दरिद्र बनती जा रही थी। ग्रामीण किसान सामंतशाही मे पिस रहे थे। पूंजी के असमान वितरण से समाज की संश्लिष्ट इकाई विच्छिन्न होती जा रही थी। आर्थिक आधार पर समाज मुख्यतः तीन वर्गों में बँट गया था—"प्रथम, उच्च वर्ग जो पूंजीपतियो तथा जमीदारो का वर्ग था; द्वितीय, मध्य वर्ग जिसमें समाज का अधिकांश शिक्षित जन-समुदाय सम्मिलित था; तृतीय, निम्न वर्ग जिसके अन्तर्गत किसान, मजदूर अथवा इसी स्तर के अन्य लोग थे। पूँजी की चोट से सबसे अधिक पीड़ित समाज के निम्न तथा मध्य वर्ग ही थे। वस्तुतः यह इन वर्गों के जीवन और मरण का प्रश्न था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा देशी पूँजीवाद और सामन्तवाद के दोहरे-तिहरे प्रहार इन पर हो रहे थे।"[1] मध्यवर्ग तो विशेष सक्रिय न हो सका, परन्तु किसान और मजदूरो ने शोषक-सत्ता को चुनौती देने का मार्ग अपनाया।

क्राति के १०-१२ वर्षों की अवधि मे रूस के सर्वहारा वर्ग की कायापलट से भारतीय किसान-मजदूरो मे नया उत्साह जोर मार रहा था। परिणामतः यहाँ भी किसान-मजदूर आन्दोलन का श्रीगणेश हो गया। १६२६ के प्रारम्भ होते-होते आर्थिक दासता से मुक्ति की कामना, जो श्रमिक-चेतना का अश थी, राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका की अंग बन गई। दो ही वर्षो बाद १६३१ के कराची मे होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन मे समाजवादी स्वर मुखरित हुआ और १६३४ तक आते-आते कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी की स्थापना हो गई।

उपर्युक्त अन्तर्राष्ट्रीत एवं राष्ट्रीय परिस्थितियो से प्रभावित होकर भारतीय साहित्यकार नयी भूमि की तलाश मे बेचैन हो उठा। फलस्वरूप १६३६ में प्रगतिशील आन्दोलन के अखिल भारतीय रूप की प्रतिष्ठा हो गयी।

प्रगतिशील आन्दोलन

सन् १६३५-३६ के पूर्व सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एव साहित्यिक क्षेत्रो मे होने वाली उथल-पुथल से भारतीय जन-मानस ही नही, समस्त यूरोपीय जन-मानस भी उद्वेलित हो चला था। इस सर्व-क्षेत्रीय विघटन से उद्भूत गतिरोध एवं ह्रास के फलस्वरूप समाज तथा साहित्य को नयी एव स्वस्थ दिशा प्रदान करने के लिए यूरोप के सजग बुद्धिजीवियों ने 'प्रगतिशील लेखक सघ' (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन) नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की। उसी वर्ष पेरिस मे उसका प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष अग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर थे। इस सम्मेलन का मूल उद्देश्य फासिज्म तथा नाजीवाद के फौलादी पजों से साहित्य और समाज की

---

१. डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी : प्रगतिवादी समीक्षा, पृ० ६०-६१

रक्षा करना था । इसके ठीक एक वर्ष पूर्व सोवियत लेखकों की प्रथम कांग्रेस मे गोर्की ने भी अध्यक्ष-पद से इन्हीं आदर्शों पर आधारित 'समाजवादी यथार्थवाद' को मान्यता दी थी । इनसे प्रेरित होकर डॉ० मुल्कराज आनन्द, डॉ० के० एस० भट्ट, डॉ० जे० सी० घोष, श्री एम० डी० तासारे, डॉ० सैयद सज्जाद जहीरऔर डॉ० एम० सिन्हा आदि भारतीयो ने लंदन मे 'भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ' की स्थापना की । भारत मे भेजे गये इस अधिवेशन के घोषणा-पत्र में कहा गया कि इस सभा का उद्देश्य है—"अपने साहित्य और दूसरी कलाओ को पुजारियों, पडितो और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकाल कर उन्हे जनता के निकटतम ससर्ग मे लाना है, उनमे जीवन और वास्तविकता की सृष्टि करना है जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सके ।"[१]

इन उद्देश्यों को सामने रखकर सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये—

(१) भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-प्रान्तो मे लेखको की सस्थाएँ बनाना, उन सस्थाओं मे सम्मेलनों, पैम्फ्लेटो आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना; प्रान्तीय, केन्द्रीय और लदन की सस्थाओ से निकट सम्बन्ध स्थारित करना ।

(२) उन साहित्यिक संस्थाओं से मेल-जोल उत्पन्न करना जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हो ।

(३) प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना जो कलात्मक दृष्टि से भी निर्दोष हो, जिससे हम सांस्कृतिक अवसाद को भी दूर कर सकें और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ सके ।

(४) हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा और इण्डो-रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना ।

(५) साहित्यकारो के हित की रक्षा करना; उन साहित्यकारो की सहायता करना जो अपनी पुस्तके प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हो ।

(६) विचार और राय को आजाद करने के लिए प्रयत्न करना ।"[२]

पहला अधिवेशन

भारत में 'प्रगतिशील लेखक सघ' का प्रथम अधिवेशन सन् १९३६ मे लखनऊ मे हुआ । इसके अध्यक्ष प्रेमचंद थे । उन्होने अपूर्व आस्था एव दृढ विश्वास के साथ इस अभिनव साहित्यिक जागरण का स्वागत किया और अध्यक्षीय भाषण में साहित्यिको का

---

१. हंस, जनवरी १९३६, अंक ४, पृ० ११८

२. हंसराज 'रहबर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्यांकन, पृ० २०

ध्यान उनके गुरुतर दायित्व की ओर आकृष्ट करते हुए कहा—"हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमे उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, सघर्ष और बेचैनी पैदा करे; सुलाए नही, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[1] कला या साहित्य को प्रेमचन्द जी सोद्देश्य मानते थे और उसकी सामाजिक उपयोगिता मे उनका दृढ़ विश्वास था। साहित्यकार के लक्ष्यो और कर्तव्यो पर विचार करते हुए उन्होंने कहा—"अब उनका उद्देश्य मनोरंजक, सयोग-वियोग, नायक-नायिका की कहानी मात्र का निर्माण करना नही है, अपितु उन प्रश्नो को भी उठाना है जिनसे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं।"[2]

इस अधिवेशन मे पंत, रशीद जहाँ, फैज अहमद, सैयद सज्जाद जहीर, रामकृष्ण राव, हीरेन्द्र मुखोपाध्याय, सुरेशचन्द्र गोस्वामी आदि ने भाग लिया। यद्यपि क्रांतिकारी यशपाल उन दिनो अत्याचारी ब्रिटिश हुकूमत द्वारा जेल के सीखचों में बन्द होकर विविध यातनाएँ सह रहे थे, फिर भी कतिपय माननीय शोधकर्ताओं ने उन्हें लखनऊ के इस प्रथम अधिवेशन में सशरीर उपस्थित कर दिया है।

प्रगतिशील लेखक संघ का घोषणा-पत्र

लखनऊ अधिवेशन, १९३६ ई०

भारतीय समाज मे बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासो की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय लेखकों का धर्म है कि वे भारतीय जीवन मे पैदा होने वाली क्रांति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने मे सहायक हों।

भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि वह जीवन की यथार्थताओ से भागता है और वास्तविकता से मुँह मोड़कर भक्ति और उपासना की शरण मे जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी, अर्थ मे भी; और आज हमारे साहित्य ने विचार और बुद्धि का एक प्रकार से बहिष्कार कर दिया है।

हमारे इस सघ का उद्देश्य है कि साहित्य और दूसरी कलाओं को अप्रगतिशील वर्गो के आधिपत्य से निकालकर उन्हे जनता के निकटतम सम्पर्क में लाया जाये, उनमें

१. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, पृ० ३६
२. वही, पृ० ५

जीवन और वास्तविकता लायी जाये और वे उस उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दिखाये जिसके लिए मानवता इस युग मे सघर्षशील है।

हम भारतीय संस्कृति की परम्पराओ की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियो की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेगे। हम इस सघ के द्वारा हर उस भावना को व्यक्त करेगे जो हमारे देश को एक नये और बेहतर जीवन का मार्ग दिखाये। इस काम मे हम अपनी और विदेशो की सभ्यता तथा सस्कृति से लाभ उठायेगे। हम चाहते हैं कि भारत का नया साहित्य जीवन की बुनियादी समस्याओ को अपना विषय बनाये। वे है हमारी रोटी की, हमारी दरिद्रता, हमारी सामाजिक अवनति की और हमारी राजनीतिक पराधीनता की समस्याएँ।

वह सब कुछ जो हमे निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है। हम उसका विरोध करते है।

वह सब कुछ जो हम मे समीक्षा की प्रवृत्ति लाता है, जो हमे प्रियतम रूढ़ियों को बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमे कर्मठ बनाता है और हम मे सगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

सघ के उद्देश्य ये होगे—

(१) भारत के तमाम प्रगतिशील लेखको की सस्थाएँ सगठित करना और साहित्य छापकर अपने उद्देश्यो का प्रचार करना।

(२) प्रगतिशील लेखको और अनुवादको को प्रोत्साहित करना और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो के विरुद्ध सघर्ष करके देशवासियो के स्वाधीनता-संग्राम को आगे बढ़ाना।

(३) प्रगतिशील लेखको की सहायता करना।

(४) स्वतत्रता और स्वतत्र विचार की रक्षा करना।[1]

दूसरा अधिवेशन

'प्रगतिशील लेखक सघ' का द्वितीय अधिवेशन कलकत्ता के आशुतोष मेमोरियल हाल मे आयोजित हुआ। अस्वस्थता के कारण कवीन्द्र रवीन्द्र इसकी अध्यक्षता न कर सके। अतएव उनका लिखित भाषण पढ़कर सुनाया गया। इस सम्मेलन का घोषणा-पत्र इस प्रकार है—

> "प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन मे होने वाले परिवर्तनो को अभिव्यक्ति दे और साहित्य मे वैज्ञानिक बुद्धिवाद का

---

१. हंसराज 'रहबर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्यांकन, पृ० २५५-५६

समावेश करके देश मे क्रांति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये । उन्हे साहित्य-समीक्षा के ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए जो परिवार, धन, काम, युद्ध और समाज के प्रश्नो पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा पुराणपथी प्रवृत्तियों का विरोध करे । उन्हे ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो साम्प्रदायिकता, जाति-द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करती हो ।

हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओ को, जो अब तक रूढि-पथी वर्गों के हाथ में पड़कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको मुक्त कराके उनका निकटतम सम्बन्ध जनता से कराना और उन्हे जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नये विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति बनाना है ।

जो कुछ भी इसमें उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करता है, उसे हम प्रतिक्रियाशील समझते हैं और उसका प्रतिवाद करते है, जो कुछ भी हममे एक आलोचक की वह स्वस्थ जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो सस्थाओ और प्रचलित रीति-रिवाजो को विवेक की रोशनी में देखती है और हमे अपने कार्य मे, अपने को संगठित करने मे, परिवर्तन लाने मे सहायता पहुँचाती है, उसे हम प्रगतिशील समझते हैं और स्वीकार करते हैं ।''[1]

तीसरा अधिवेशन

दूसरे महायुद्ध के बीच फासिज्म के बढ़ते हुए आतंक से त्रस्त मानवता के परित्राण के लिए विश्व के अन्य देशों की भाँति भारत में भी बुद्धिजीवी वर्ग ने दिल्ली मे मई सन् १९४२ मे अखिल भारतीय लेखकों का एक सम्मेलन बुलाया । इसे 'अखिल भारतीय फासिस्ट विरोधी लेखक सम्मेलन' की संज्ञा दी गई । इसमे जनवादी लक्ष्यो से प्रेरित तथा शाति की कामना करने वाले सभी लेखको ने भाग लिया । बाद में इसी समय डॉ० अलीम की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखकों ने अपना एक अलग से भी अधिवेशन किया । इसकी एक अपील यूरोप मे होने वाले फासिस्ट विरोधी सम्मेलन को भेज दी गयी । तीसरे अधिवेशन में घोषित किया गया कि—

"आज हमारा कर्तव्य है कि हम फासिस्ट आक्रमण के खिलाफ अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की राष्ट्रीय भावना अपने देश की जनता मे जगाये । आज हमारा कर्तव्य है कि हम फासिज्म की असली प्रकृति का

---

१. हंस, अक्तूबर १९४४

पर्दाफाश करे और फासिस्ट प्रचार के चंगुल में आने से अपनी जनता को बचाये। आज हमारा कर्तव्य है कि हम देश मे एकता पैदा करे और जातियों के बीच की खाई को पूरे जिसमें तत्काल राष्ट्रीय सरकार और देश के सौ फी सदी बचाव का रास्ता साफ हो सके। आज हमारा कर्तव्य है कि हम पस्त-हिम्मती के खिलाफ लडें और अपने देशवासियों मे सभी प्रकार के विदेशी आक्रमण और आधिपत्य के खिलाफ प्रतिरोध करने का सकल्प पैदा करे। हम हिंदुस्तान के महान् और बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी हैं।

फासिस्ट लुटेरों से इनकी रक्षा करना कर्तव्य है। अपनी रचनाओं द्वारा हमे फासिज्म के खिलाफ अपने को दिमागी तौर पर मजबूत बनाने में जनता की मदद करनी चाहिए। किताबों और पैम्फलेटो, रेडियो और सिनेमा, गानों और रंगमच के जरिए हमे विशाल जनता के पास पहुँचना चाहिए। अपनी मातृभूमि के आह्वान पर आगे आना और मुक्ति तथा संस्कृति की दीपशिखा को प्रज्वलित रखना हमारा कर्तव्य है।"[1]

चौथा अधिवेशन

मई, सन् १९४३ में अखिल भारतीय स्तर पर 'प्रगतिशील लेखक सघ' का चतुर्थ अधिवेशन बम्बई महानगर मे सम्पन्न हुआ। यह ऐसा समय था जब समस्त मानवता के अस्तित्व पर द्वितीय विश्वयुद्ध की काली घटाएँ छाई हुई थी। इस सम्मेलन के अध्यक्ष विख्यात समाजवादी नेता श्रीपाद अमृत डांगे थे। उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे लेखको से अपील करते हुए कहा कि—

"बाहर आइए और खुली नजरो से देखिए कि किस तरह करोडो आदमी शोषण और विपत्ति के गाल मे पडे रहने पर भी काम करते है, सोचते है, लडते है और आगे बढकर स्वतत्रता के संग्राम मे भाग लेते हैं। उनको देखिए और यदि आपका हृदय गवाही दे तो उनकी भावनाओ को वाणी दीजिए। यदि आप उनकी सच्ची स्थिति का चित्रण कर सके और उन्हे अपनी कला मे सजीव कर सके तो हम आपसे यह शिकवा करने कभी नही आयेंगे कि 'अरे साहब आपने किसी पात्र के मुँह से कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो तो कहलाया ही नही'। जनता की प्रवृत्तियो के अनुसार अपनी कल्पना परिवर्तित कीजिए; अपनी मानसिक प्रवृत्तियो के अनुरूप काल्पनिक

---

१. डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी : प्रगतिवादी समीक्षा, पृ० १०४-५

जनता मत खडी कीजिए। तभी यह साहित्यिक जड़ता दूर हो सकेगी। नही तो कृपया मेहनतकश जनता का पीछा छोड़िए क्योंकि शरत् बाबू के शब्दों मे उनके कलाकार का जन्म हो रहा है, जो शीघ्र ही सामने आकर उनकी वाणी प्रतिध्वनित करेगे।"[1]

श्री डागे के अध्यक्षीय भाषण 'जन-जीवन और साहित्य' के प्राक्कथन में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के तत्कालीन मन्त्री श्री सैयद सज्जाद जहीर ने लिखा है कि—

"वर्तमान साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओ के सिद्धहस्त लेखको का एकत्र होना इस बात का द्योतक था कि वे सभी सचेत और ईमानदार राष्ट्र-प्रेमी बुद्धिजीवियो का सांस्कृतिक मोर्चा संगठित करने के लिए परम उत्सुक है जिससे हम इस सकटग्रस्त परिस्थिति में जब हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिए अभूतपूर्व विपत्ति उठ खडी हुई है; जब कि फासिस्ट आततायियो के हाथ उसके जड-मूल से विनष्ट होने का भय है, वे जनता को सगठित करके पलायनवादी और निराशावादी मनोवृत्ति के विरुद्ध लडकर के सांस्कृतिक और आत्मिक धरातल को सुरक्षित बना अपने प्राथमिक कर्तव्य का पालन कर सकें और जनता-जनार्दन की सेवा मे हाथ बँटा सके।"

इस अधिवेशन में भाग लेने वाले प्रमुख लेखको में जोश मलीहाबादी, मामा वरेरकर (मराठी), बकुलेश (गुजराती), विष्णु दे (बंगला) और प० नरेन्द्र शर्मा आदि थे।

इस अधिवेशन का घोषणा-पत्र इस प्रकार है—

"इस गभीर सकट के काल मे हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखको का सबसे बडा कर्तव्य है कि वे राष्ट्र के मनोबल को सुदृढ़ बनाये। उनका फर्ज है कि वे जनता के साहस और संकल्प को मजबूत करे ताकि हमारी आजादी का दिन नजदीक आये। हमारी संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहे; उनकी उन्नति हो और हम इस कठिन संकट-काल से स्वतंत्र, शक्तिशाली और सगठित होकर निकल सके।

प्रगतिशील लेखक सदा से ही भारत की स्वतंत्रता और देश में एक न्यायोचित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के लिए लडते रहे हैं। यही नही,

---

१. जन-जीवन और साहित्य : श्री अमृतपाद डांगे का अध्यक्षीय भाषण, पृ० २५

उन्होंने हर प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रिया और प्रगतिविरोधी विचारधारा के खिलाफ भी सघर्ष किया है। हिन्दुस्तान की स्वतत्रता को उन्होने विश्व की स्वतत्रता के लिए एक अभिन्न अंग के रूप मे समझा और जहाँ उन्होने जनता के हर प्रकार के साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त होने और अविच्छिन्न अधिकार की घोषणा की है, वहाँ उन्होने फासिज्म का भी विरोध किया है जो साम्राज्यवादी सत्ता का ही खूँखार रूप है।

जिस समय हमारी पुरानी परिचित दुनिया नष्ट-भ्रष्ट हो रही है और इतने दिनो से अपनाई हुई मान्यताओ की पुनःस्थापना की आवश्यकता हो रही है, यदि लेखक अपने जीवन-कार्य के प्रति ईमानदार रहना चाहता है तो उसे जनता से नाता जोडना होगा। इसका अर्थ यह नही है कि हम इस बात से इन्कार करते है कि साहित्यरचना एक कठिन कला है, जिसकी अत्यन्त प्राचीन एवं अनोखी परपराएँ हैं, न इसका यही मतलब है कि हम इस प्रवचना में पड जाये कि दे देने से ही परिपक्व नयी संस्कृतियाँ तैयार हो जाती हैं। लेकिन जब समाज पीडा-ग्रस्त हो, जब वह अपने जीवन-मरण के सघर्ष से गुजर रहा हो तब लेखक को स्वय अपने ही हित की रक्षा के लिए अपने शीश-महल से बाहर निकल आना चाहिए। यदि हम केवल कुछ थोडे चुने हुए लोगों को ही सास्कृतिक विरासत का सरक्षक समझेंगे तो जैसा कि फासिज्म के अन्तर्गत उन देशों मे हुआ है जो उसके लौह-बूटो के नीचे कुचले जा चुके हैं, यहाँ भी अन्याय और जुल्म की शक्तियाँ उन्हे अवश्य ही पाशविक दमन के बल से जबर्दस्ती अपने अधीन कर लेगे। सोवियत का उदाहरण हमे बताता है कि क्राति किस प्रकार प्रतिष्ठा, गौरव और सभ्यता को आम-जनता की सपत्ति बनने का अवसर देती है।

हमारा देश अपने इतिहास के सबसे गभीर संकट मे फँसा हुआ है। एक ओर एक क्रूर और नालायक विदेशी साम्राज्यवादी नौकरशाही जनता के हाथ मे ताकत देने से इन्कार कर रही है, दूसरी ओर खूँखार लुटेरे जापान का फासिज्म हमारे पूर्वी सीमान्त के द्वार पर प्रहार कर रहा है। हजारों हिन्दुस्तानी देशभक्त जेलो मे बद पडे है। फासिस्ट असम और बगाल पर बम बरसा रहे हैं। अन्न और वस्त्र की दिन-ब-दिन कमी होती जा रही है। कागज, किताब और पत्र छापने के लिए सभी जरूरी-जरूरी चीजों की सख्त कमी है, जिसके कारण एक ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है जो

हमारे सांस्कृतिक जीवन के विकास के लिए बहुत खतरनाक है। उत्पादन अस्त-व्यस्त हो रहा है। हमारे समाज की पूरी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका है।

हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इकबाल की महान् मानववादी और स्वतंत्रता-प्रेमी परम्पराओ के उत्तराधिकारी हैं। आज वे अपनी जनता को स्वतंत्र देखना चाहते हैं। संसार के सभी राष्ट्रो को साम्राज्यवाद से मुक्त करना चाहते हैं। हम सोवियत और चीन के लेखको की ओर आदर और श्रद्धा से देखते हैं, जो अपनी बहादुर जनता के साथ-साथ इस कठोर फासिस्ट-विरोधी लड़ाई के कष्टों और तकलीफों को बर्दाश्त कर रहे हैं और इस कटु और कष्टकर युद्ध में भाग लेने के गौरव और उल्लास का भी अनुभव कर रहे हैं। इस अंधकार की घडी में भी वे कला और साहित्य की लौ को जाग्रत किये हुए हैं। हम भी पीछे नही रहेंगे। हम भी अपने देश की स्वतंत्रता और एकता के सन्देश को अपने देशवासियो के पास पहुँचायेंगे। और उनके अन्दर उनकी अपनी ही शक्ति में विश्वास जाग्रत करने का अनवरत प्रयत्न करेंगे। आज प्रगतिशीलता का और दूसरा कोई अर्थ नही है। जब मानव-समाज की नींव ही खतरे मे हो, जब उसके सम्पूर्ण भविष्य के अंधकारमय हो जाने की आशंका हो, जब फासिस्ट प्रतिक्रियावाद जीवन मे जो कुछ भी अच्छा, भला और सुन्दर है उसे नष्ट करने के लिए अपना अंतिम हमला कर रहा हो और जब प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी दल हमारे देशवासियो की स्वतंत्रता और एकता के पथ को रोके खड़ा हो, तब प्रगतिशीलता को हर आदमी तक आशा और आजादी का सन्देश ले जाना चाहिए और ऐलान कर देना चाहिए कि जो कौम आजादी पाने के लिए एक हो जायेगी, उसे दुनिया की कोई भी ताकत नही हरा सकती।

इन आम उद्देश्यो को ध्यान में रखते हुए प्रगतिशील लेखक संघ को नीचे लिखी विशेष बातें अवश्य करनी चाहिए—

१—छोटे-छोटे नाटको, कहानियो, कविताओ, गीतो और पवाडों की रचना, जिनमें साम्राज्यवादी गुलामी से छुटकारा पाने के लिए जापानी आक्रमणकारियो से अपने देश की रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पर जोर दिया गया हो।

२—विदेशी प्रगतिशील रचनाओं और विशेषकर सोवियत और चीनी साहित्य का अनुवाद और प्रचार करना।

३—समय-समय पर नियमित रूप से विभिन्न हिन्दुस्तानी भाषाओं की महत्वपूर्ण रचनाओ का अग्रेजी मे सकलन निकालना चाहिए ।

४—हिन्दुस्तान की विभिन्न भाषाओं मे प्रगतिशील साहित्य के सग्रहो और पत्र-पत्रिकाओ को प्रकाशित करना चाहिए ।

५—मजदूरो और किसानों के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक क्लबो या बैठको (मुशायरों, कवि-सम्मेलनो) का सगठन करना चाहिए और प्रगतिशील लेखक संघ का जन-साहित्य और कला से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए ।

६—भारतीय जन-नाट्य संघ के सहयोग मे ऐसे नाटकों आदि की रचना करनी चाहिए जिन्हे जन-नाट्य सघ खेल सके ।"

पाँचवाँ अधिवेशन

'प्रगतिशील लेखक संघ' का पांचवां अधिवेशन बम्बई मे होने वाला था किन्तु वहाँ इस पर प्रतिबध लगा दिया गया । अतएव मई १९४९ मे इसका यह अधिवेशन बम्बई के उपनगर भिवण्डी मे हुआ । इसके निर्देशक डॉ० रामविलास शर्मा थे । मजदूर कवि अन्ना भाऊ साठे इसके सभापति-मंडल के एक सदस्य थे । इसके घोषणा-पत्र में कहा गया है—

"आज भारतीय साहित्य मे निर्णयात्मक परिवर्तन हो रहे हैं । आज प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से एक-दूसरे का मुकाबला कर रही हैं ।......अगस्त १९४७ के बाद भारत के जन-संघर्ष ने एक नई दिशा ग्रहण की है । पूंजीपति वर्ग जो स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनो भी साम्राज्य के साथ समझौते के लिए प्रयत्न करता था, अब खुल्लम-खुल्ला उसका साझी और मित्र बन गया है । इस समझौते का सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि भारत सरकार ने ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहने का फैसला किया है,-यह फैसला भारतीय जनता की इच्छा के विरुद्ध है इसलिए जनता एक स्वतत्र और सार्वभौम शक्ति-सम्पन्न गणतंत्र की स्थापना करना चाहती है ।......

प्रगतिशील लेखक जानते हैं कि शोषक और शोषित मे समझौता संभव नही । इस सम्बन्ध मे सत्य-अहिंसा की बात करना ऐसा पर्दा है जिसके पीछे पूंजीवादी शोषण की बर्बरता को छिपाने की कोशिश की जाती है ।......

भारतीय साहित्य का भविष्य सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में लडती हुई उस जनता के भविष्य से अलग नही है जो आज स्वतन्त्र जीवन, लोकतंत्र तथा

समाजवाद के लिए सघर्षरत है और मानव द्वारा मानव के शोषण की तमाम सभावनाओ को समाप्त कर देना चाहती है। हमारे साहित्यकार इस आन्दोलन के जितना निकट आयेगे, उनके साहित्य मे रूप और अर्थ की दृष्टि से उतनी ही गहराई आयेगी।......

कोई साहित्य उस समय तक महान् नही हो सकता और जनता के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित नही कर सकता जब तक उसका एक महान् सामाजिक उद्देश्य न हो। प्रगतिशील साहित्य महान् मानव आदर्शों से प्रकाश ग्रहण करेगा जैसे शाति से प्रेम, राष्ट्रो में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा, मानवतावाद, जो युद्ध और शोषण के विरुद्ध है। साहित्य का यह महान् नैतिक उद्देश्य माँग करता है कि तमाम लेखक अपनी रचनाओ के बारे में गभीरता धारण करे, उनमें प्रभाव उत्पन्न करें, उन्हे लोकप्रिय तथा सुन्दर बनाये ताकि हमारी जनता उनसे प्रेम कर सके, उनसे प्रेरणा ले सके और उन पर गर्व कर सके। जन-साहित्य तथा संस्कृति का भविष्य प्रगतिशील लेखको के हाथ मे है। यह सिद्ध करना उनका कर्तव्य है कि यह भविष्य विश्वस्त हाथो मे है।"[1]

छठा अधिवेशन

'प्रगतिशील लेखक सघ' का यह अधिवेशन १९५३ मे दिल्ली मे सम्पन्न हुआ। इसमे श्री किशन चदर को सघ का मत्री निर्वाचित किया गया। अधिवेशन मे प्रगतिशील लेखक संघ को व्यापक बनाने के विषय पर विचार किया गया और घोषणा-पत्र में कहा गया कि—

"भारत के लोग चाहते हैं कि उनके साहित्य और कला का विकास उनकी राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार हो। तमाम देशभक्त लेखक और कलाकार उनकी इस उचित भावना को संतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उन्हे अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व है। उस विरासत मे जो कुछ सुन्दर और महान् है, उसे वे अपने सृजन-कार्य से आगे बढ़ाना चाहते हैं, उसमे जो कुछ निकृष्ट और मिथ्या है, उसे वे छोड देना चाहते है।

हमारी जनता अपने जीवन को स्वाधीन और समृद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील है। वह दुनिया के तमाम राष्ट्रों के साथ शांति और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छुक है। हमारा साहित्य मानवता की

---

१. हंसराज 'रहबर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्यांकन, पृ० २५७-६२ के कुछ अंश

भावना, जीवन मे आस्था और उज्ज्वल भविष्य की आशा से ओतप्रोत होना चाहिए।

मनुष्य की सृजन-शक्ति के प्रति घृणा, एक जाति या राष्ट्र का दूसरे पर शासन, जातिवाद और साम्प्रदायिकता हमारी जनता की स्वस्थ परम्पराओं के विपरीत है। जीवन-उद्देश्य का अभाव, निराशावाद, छायावाद और भाग्यवाद हमारे सास्कृतिक विकास मे बाधक है। हम जासूसी, हत्या, छायावाद और अश्लीलता के साहित्य का विरोध करते है।

हमारा साहित्य कलात्मक और सुन्दर हो, इसका रूप राष्ट्रीय तथा लोक-प्रिय हो। हम ऐसी सुविधाएँ चाहते है जिनसे हमारे देश की सभी भाषाओ का साहित्य फूले-फले।

हम चाहते हैं कि लेखक जनता की सेवा के लिए सगठित हो, अपनी रचनाओ द्वारा सुखी और समृद्ध जीवन की प्राप्ति मे सहायक बने।"[1]

इस अधिवेशन के पश्चात् प्रगतिशील लेखक संघ का कोई भी अधिवेशन नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि अखिल भारतीय लेखको का यह सगठन टूट गया। किन्तु १६३६ से १६५३ के बीच सम्पन्न होने वाले इन विभिन्न अधिवेशनो का प्रभाव प्रान्तीय और क्षेत्रीय सीमाओ पर पडा। परिणामतः इन स्तरो पर भी समय-समय पर अधिवेशन होते रहे। प्रगतिशील आन्दोलन को समझने के लिए प्रासगिक रूप मे उनका सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन

प्रगतिवादी साहित्य के प्रचार एव प्रसार के उद्देश्य से अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अतिरिक्त हिन्दी के प्रगतिशील लेखको के भी अखिल भारतीय स्तर पर कई सम्मेलन हुए। श्री राहुल साकृत्यायन के सभापतित्व मे सन् १६४७ मे इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। इसमे प्रगतिवाद के वास्तविक स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होने अध्यक्ष-पद से कहा—

"प्रगतिवाद कोई सकीर्ण सम्प्रदाय नही। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतत्रता का नही, परतंत्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम-रोम मे भीज गई है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति वन गयी है, वह स्वय सीमाओ का निर्धारण कर सकता है। उसकी सीमा अगर कोई है

---

१. हसराज 'रहवर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्याकन, पृ० २६३

> तो यही कि लेखक और कलाकार की कृतियाँ प्रतिगामी शक्तियो की सहायक न वने । प्रगतिवाद कला की अवहेलना नही करता । यह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में वाधक रूढ़ियो को हटाकर सुविधा प्रदान करता है । यह रूढ़िवाद और कूप-मंडूकता का विरोधी है ।"[1]

प्रान्तीय प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन

उत्तर प्रदेश मे प्रान्तीय स्तर पर प्रगतिशील लेखको के तीन अधिवेशन हुए । इसका प्रथम अधिवेशन सन् १९४१ में हुआ । इसके अध्यक्ष महापंडित राहुल सांकृत्यायन थे । सन् १९५०-५१ मे इसका दूसरा अधिवेशन श्री नरोत्तम नागर की अध्यक्षता मे किया गया । सन् १९५२ मे इसका तीसरा अधिवेशन प्रयाग में हुआ । इसमें हिन्दी, उर्दू दोनो भाषाओं के प्रगतिशील लेखको ने सम्मिलित रूप से साहित्यिक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया । उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बंगाल मे भी सन् १९३७ में वहाँ के प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हुई । इसी वर्ष सुरेन्द्रनाथ गोस्वामी एवं हीरेन्द्र मुखोपाध्याय ने 'प्रगति' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया । इस पत्रिका से प्रगतिशील आन्दोलन को काफी वल मिला ।

काशी प्रगतिशील लेखक संघ

क्षेत्रीय आधार पर संगठित 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ' का शीर्षस्थ स्थान है । इसका प्रथम अधिवेशन श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ । इसके घोषणा-पत्र मे स्पष्ट रूप मे केन्द्रीय राष्ट्रभाषा की आवश्यकता तथा उसी के आधार पर जनपदीय भाषाओं के विकास की संभावनाओ पर प्रकाश डाला गया ।

इस संघ का दूसरा अधिवेशन १२ फरवरी, १९४२ में हुआ । इसके अध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी थे । उन्होने अपने भाषण में कहा—

> "सघ के लेखकों का प्रमुख उद्देश्य ऐसे स्वस्थ, उदात्त जीवनानुभूति से सिक्त राष्ट्रीय हिन्दी की रचना है जो देश के जन-जन को मातृ-भूमि के हित, त्याग एव आत्मोत्सर्ग करने के लिए आन्दोलित तथा अनुप्रेरित कर सके ।.........राष्ट्रीयता के इस आदर्श को सामने रखकर जीवन के निकटतम परिचय से जो साहित्य उत्पन्न होता है, वही प्रगतिशील साहित्य है और सघ के सामने उसी साहित्य के निर्माण का लक्ष्य है ।......... साहित्य को स्वाधीनता-प्राप्ति का शस्त्र मानते हुए हमारे लिए यह सभव नही कि हम कला के रूप-सौष्ठव पर पूरा-पूरा ध्यान न दे । क्योंकि हम

---

१. उमेशचन्द्र मिश्र : प्रगतिवादी काव्य, पृ० २९

जानते है कि उसके विना हमारा शस्त्र कुठित ही रहेगा। कला-हीन, अनगढ साहित्य को हम निरर्थक समझते हैं। हमारा यह निश्चित मत है कि कला का अधिक-से-अधिक परिमार्जन एव परिष्कार सदैव करते रहना चाहिए।"[1]

प्रगतिशील आन्दोलन : एक दृष्टि

इस आन्दोलन के प्रारंभिक चरण (१९३६-४२) में देश मे समाजवादी विचारो का संस्थापन हुआ। प्रगतिशील लेखकों, किसानो और श्रमिकों की सभाओ का सोत्साह आयोजन हुआ। तत्कालीन हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों में सर्वश्री प्रेमचन्द, पंत, यशपाल, शिवदान सिंह चौहान और पं० नरेन्द्र शर्मा आदि मुख्य हैं। हस, रूपाय, जागरण, जनशक्ति, विप्लव आदि प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओ का जन्म इसी समय हुआ। सैद्धातिक दृष्टि से यह काल महत्वपूर्ण है।

दूसरा चरण (१९४२-४७) देश के लिए साम्राज्यवादी शासकों की घोर अनीति का काल है। इस काल में प्रगतिशील लेखको ने फासिज्म का घोर विरोध किया। देश की राजनीतिक समस्याओ को आधार बनाकर सृजनात्मक स्तर पर लेखन-कार्य किया। उनके इन प्रयत्नों से आन्दोलन मे व्यापकता आयी।

तीसरे चरण (१९४७-५३) मे प्रगतिशील लेखको पर अनेक प्रकार के आरोप लगाये गये। आपस मे भी उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना शुरू हो गयी। १९५० के वाद कुछ लोगों ने जनवादी लेखको का एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करने का प्रयत्न किया। सभी वर्गों के स्वस्थ विचारधारा के लेखको के सम्बन्ध-स्थापन पर जोर देते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा—

"साहित्य में सयुक्त मोर्चे का उद्देश्य स्वाधीनता और जनतंत्र है। इसलिए यह मोर्चा साम्राज्यवाद विरोधी लेखको का होना चाहिए। इसके संगठन-कर्ता आलोचना के सैद्धांतिक स्तर को जितना ही ऊंचा करेंगे, जनता से सम्पर्क कायम करेंगे, उसके वारे मे खुद लिखकर मिसाल पेश करेंगे, अपने व्यवहारों और विचारो में जितनी ही एकता पैदा करेंगे, उतना ही संयुक्त मोर्चे के निर्माण मे सफलता मिलेगी।"[2]

किन्तु इस प्रयास से भी अनुकूल सफलता न मिली और प्रगतिशील आन्दोलन

---

१. काशी प्रगतिशील लेखक सघ के द्वितीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिये गये अध्यक्षीय भाषण का अंश।

२. हंस : मई १९५१, अक ८, पृ० २५

मे कोई स्थायित्व न आ पाया। प्रतीत होता है कि १९५३ के दिल्ली अधिवेशन के पश्चात् उसका पूर्णतः विघटन हो गया।

प्रगतिशील आन्दोलन : उपलब्धियाँ

१. प्रगतिशील आन्दोलन के ही परिणामस्वरूप सर्वप्रथम साहित्य की विषय-वस्तु को ठोस सामाजिक आधार मिला। नये युग के प्रगतिवादी साहित्य ने छायावादी वैयक्तिकता के स्थान पर व्यापक जीवन की वास्तविकताओ, जनता के संघर्षों तथा उसकी प्रगति की सभावनाओ को रचयिता की समस्त सहानुभूति के साथ प्रस्तुत किया। इसने हमे स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठापित किया।

२. प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा साहित्य मे लोक-विश्रुत ऐतिहासिक व्यक्तियों के स्थान पर जन-सामान्य को नायकत्व प्रदान किया जाने लगा। साहित्य मे उनकी आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होने लगी।

३. "हिन्दी के साहित्यकारों को नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्पृक्त करना इस आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इससे साहित्यकारो को भावनामूलक काल्पनिकता के स्थान पर स्वस्थ बौद्धिक चेतना प्राप्त हुई। इसी आन्दोलन के परिणामस्वरूप उन्हे जीवन की वास्तविकताओ को उसकी समस्त वैयक्तिक तथा सामूहिक दुःख-दर्द, अच्छाइयो एव बुराइयो के साथ चित्रित करने का अवसर मिला, जिससे मानव-जीवन यथार्थ की धरती पर सम्पूर्ण सम्वेदनाओ के साथ निरूपित हुआ।"[1] इससे साहित्यकारों को एक ऐसी दृष्टि प्राप्त हुई जिससे यथार्थ जीवन की कुरूपताओ में पलने वाली जिन्दगी को महत्व देकर उन्होने मानव-व्यक्तित्व को अनास्था और कुठा के बदले आस्था एव विश्वास प्रदान किया।

४ प्रगतिवादी आन्दोलन के ही कारण कला और चिन्तन के क्षेत्र मे युगीन राष्ट्रीयता का स्वर तीव्र हो सका और उसमे अन्तर्राष्ट्रीयता तथा मानवतावादी चेतना का सचार हुआ।

५. लोक-जीवन तथा लोक-सस्कृति को नवीन आलोक प्रदान करना प्रगतिशील आन्दोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी कारण लोक-साहित्य तथा सस्कृति को व्यापकता मिल सकी और नवीन रस का संचार हो सका।

---

१. श्री राजनाथ शर्मा : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० ६३४

आन्दोलन की समाप्ति

युद्धोत्तर काल मे प्रगतिशील आन्दोलन का उत्कर्ष धीमा पडने लगा। इनमे विरोधियो द्वारा भ्रामक प्रचार, शासकीय दमन तथा वामपक्षी सकुचित भावना प्रमुख कारण रहे। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कुछ दिनो बाद अग्रेजी पत्र 'स्टेट्समैन' ने अपना मत व्यक्त किया कि—"यह कम्युनिस्ट पार्टी का ही छद्म रूप है।" अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सघ (१९४७) के अधिवेशन मे स्वागताध्यक्ष श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने स्टेट्समैन के आरोप की सफाई देते हुए कहा—"प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन पर इल्जाम लगाया जाता है कि वह राजनीतिक दल-विशेष सीधा क्यो न कहा जाय, कम्युनिस्टो का प्लेटफार्म है और मैं चाहता हूँ कि उसकी इस आरोप से रक्षा हो।"[1] परिणामतः उक्त सम्मेलन के लिए आवश्यक हो गया कि वह प्रत्येक दल के प्रतिक्रिया विरोधी प्रगतिशील लेखकों को अपने साथ ले चलने का प्रयत्न करे।

किन्तु इस स्पष्टीकरण से विरोधी और शासक-वर्ग प्रभावित न हो सके। उनकी अवरोधक शक्तियाँ तीव्र से तीव्रतर होती गयी। यद्यपि कुछ साहित्यकार इस आन्दोलन को नयी चेतना प्रदान करने का प्रयत्न करते रहे किन्तु इसका विघटन रुका नही। मूल कारणो की ओर इगित करते हुए डॉ० त्रिवेदी ने लिखा है, "·········इस अधिवेशन के पश्चात् प्रगतिशील आन्दोलन का सचालन-सूत्र वामपथी लेखको तथा साहित्यकारो के हाथ मे खिसक आया जो आगे चलकर उसके विघटन का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। शासकीय सूत्रो के नियत्रण और दमन के कारण स्थानीय शाखाएँ तो विच्छिन्न थी ही, वामपक्षी सकीर्णता के कारण अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सघ का अवशिष्ट रूप भी दिन-ब-दिन क्षीण पडने लगा।"[2]

तत्कालीन प्रगतिशील लेखको की द्विधाग्रस्त और विद्वेषपूर्ण स्थिति का चित्रण करते हुए श्री अमृतराय ने लिखा है—

> "लेखको मे आपस मे मैत्री और सद्भावना का लोप-सा होने लगा और उसकी जगह कटुता और आपसी सन्देह ने ले ली। वातावरण मे भयानक घुटन पैदा हो गई और आजादी से साँस लेना मुश्किल हो गया। लोग डरे-सहमे मुँह पर ताला जडे घूमते थे कि कही धोखे से ऐसी कोई बात न निकल जाय कि मै कायर या सुधारवादी या क्रान्ति का दुश्मन न करार दिया जाऊँ। इसलिए सबसे भला है चुप। यही चीज लिखने मे भी

---

१. डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी : प्रगतिवादी समीक्षा, पृ० १११
२. वही, पृ० ११२

हुई। मेरी कलम से कहीं कोई गलत सुधारवादी, कमजोर चीज न निकल जाये जिसे लेकर मेरी खिल्ली उडाई जाय या कहा जाय कि प्रगतिशील लेखक संघ को तुम जैसे कायरो की जरूरत नही है। इसलिए अच्छा है कि फिलहाल कलम को छुट्टी दे दो। बहुतों ने तो उस दौरान मे अपनी कलम तोड़कर फेक ही दी। लिखना बिल्कुल बन्द कर दिया। जिन्होंने ऐसा नही किया, उन्होंने सबसे चुरा-छिपाकर अपना लिखना जारी रखा, गोया कोई पाप-कर्म कर रहे हों।"[1]

वस्तुत: देखा जाय तो पता लगेगा कि प्रारम्भ से ही प्रगतिशील आन्दोलन का तालमेल समाजवादी यथार्थवाद की दार्शनिक भूमिका से नही हो पाया था। जो लेखक स्वाधीनता-प्रिय और साम्राज्य-विरोधी थे, उन सबको प्रगतिशील मान लिया गया। नये युग की क्रांतिकारी चेतना भी प्रगतिशीलता के नारो और रचनाओं मे अस्पष्ट अभिव्यक्ति पाती रही। पूंजीवाद से उत्पन्न व्यक्तिवादी चेतना के प्रति भी कुछ लोग आकृष्ट होते रहे। साथ ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में अवसरवादिता के लिए भी लोगो को खुला मैदान मिल गया। प्रगतिशील आन्दोलनकर्ताओं की सबसे बडी दुर्बलता यह रही कि वे देश के सांस्कृतिक आधार की उपेक्षा करते रहे, वे यह भूल गये कि नयी चेतना सिर्फ नौजवानों के दिमाग की उपज नही, बल्कि मनुष्य के सदियो के अनुभव और संघर्ष की देन है और कोई भी आन्दोलन देश की बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करके ही सफल हो सकता है। इस आन्दोलन के विघटन का कारण-निर्देश करते हुए हंसराज 'रहबर' ने लिखा है—

"आदर्शवाद को तो छोड़ा गया, लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को सिद्धांत के रूप में अपनाया नहीं गया। अतएव नये समाज का निर्माण करने वाली मेहनतकश जनता और मजदूर-वर्ग को नये साहित्य का नायक और मुख्य पात्र बनाने के बजाय चोर, बदमाश, गुण्डा, आवारा, रण्डी, रण्डी का दलाल आदि नकारात्मक तत्वों को नायक अथवा मुख्य पात्र बनाकर सामाजिक परम्पराओ, धार्मिक मान्यताओं और नैतिकता की अवहेलना की गयी। इससे साहित्य और राजनीति मे अराजकता और बोहमियनवाद का प्रादुर्भाव हुआ। प्रगतिशील आन्दोलन अंत तक मुख्य रूप से इसी नकारात्मकता, बोहमियनवाद और अराजकता का प्रतिनिधित्व करता रहा जिससे भीतरी असंगतियां बढी और यही असंगतियां उसके विघटन का कारण बनी।"[2]

---

१. डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी : प्रगतिवादी समीक्षा, पृ० ११३

२. हंसराज 'रहबर' : प्रगतिवाद—पुनर्मूल्यांकन, पृ० ११–१२

प्रगतिशील आन्दोलन और यशपाल

ऊपर हमने देखा कि १६३६ ई० मे विश्व की प्रगतिशील चेतना से प्रभावित होकर भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने लखनऊ में एक अधिवेशन आयोजित किया, जिसका सभापतित्व प्रेमचन्द ने किया। इस समय तक भारतीय जन-मानस सामान्य रूप से और बुद्धिजीवी वर्ग विशेष रूप से यह अनुभव करने लगा था कि प्रगतिशीलता को स्वीकारे विना स्वाधीनता की प्राप्ति संभव नही। यशपाल ने इस तथ्य को बहुत पहले पहचान लिया था। १६३२ से ३८ तक वह जेल के सीखचो मे बन्द थे। इस बीच उन्होने विश्व के प्रगतिशील साहित्य का गंभीर अध्ययन किया, जिससे उनकी प्रगतिशील चेतना में और निखार आया। इसी बीच देश मे 'प्रगतिशील लेखक सघ' की स्थापना और उसके दो अधिवेशन हो चुके थे। जेल से छूटने पर यशपाल का 'प्रगतिशील लेखक सघ' के सम्पर्क में आना स्वाभाविक था। अपने दो अधिवेशनों मे सघ ने जो घोषणा-पत्र प्रकाशित किये थे, उनके उद्देश्यानुसार प्रगतिशील साहित्यकार लेखन मे प्रवृत्त थे। ये घोषणा-पत्र यशपाल की चेतना के अत्यधिक अनुकूल थे। और तब तक सन् १६४२ मे सघ का तीसरा अधिवेशन हुआ। इस समय तक द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया था, जिसमे फासिस्ट जापान और नाजीवादी जर्मनी अपने क्रूर पजो मे विश्व को दबोच लेने के लिए आकुल दिखाई पड रहे थे। देश की प्रगतिशील मनीषा ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से कही अधिक खूंखार फासिज्म और नाजीवाद है, इसलिए पहले उनका मुकाबला करना चाहिए। इसी के अनुरूप सघ के तीसरे अधिवेशन का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। यशपाल के प्रारभिक उपन्यासो—'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'पार्टी कामरेड' आदि—मे इस घोषणा-पत्र की प्रतिध्वनि और बिम्ब स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। एक ओर परम्परावाद, प्रतिक्रियावाद, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता और सड़ी-गली रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और दूसरी ओर फासिज्म का विरोध। सन् १६४३ ई० के चौथे अधिवेशन के घोषणा-पत्र एव श्री डागे के अध्यक्षीय भाषण की अनुगूंज भी यशपाल की इन रचनाओ में स्पष्ट है। सन् ४७ में देश आजाद हुआ और उसके वाद प्रगतिशील लेखक सघ के दो और अधिवेशन हुए। स्वतत्रता की रोशनी मे संघ ने उक्त दो अधिवेशनों मे जो घोषणा-पत्र प्रकाशित किये, उनका प्रभाव यशपाल की १६४७ के वाद की रचनाओ पर साफ-साफ देखा जा सकता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के विरुद्ध आदोलन का आह्वान और दकियानूसीपन तथा परम्परा-मोह पर चोट, जो उनके १६४७ के वाद के साहित्य मे दिखाई पडता है, वह सघ के घोषणा-पत्र की आत्मा के ही अनुरूप है।

तात्पर्य यह कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रेरणा से हिन्दी मे जो प्रगतिशील

आन्दोलन चला, उसे बढाने और उसके लक्ष्य के अनुरूप साहित्य-सर्जना कर देश के जन-मानस को उस दिशा मे उन्मुख करने का कार्य यशपाल ने बडी ईमानदारी और निष्ठा के साथ किया है ।

३. हिन्दी उपन्यास साहित्य की यथार्थवादी धारा का विकास-क्रम और यशपाल

(क) प्रेमचन्द-पूर्व युग

ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व युग हिन्दी उपन्यास का प्रयोग काल था । इस काल मे हिन्दी उपन्यास विभिन्न प्रयोगो के माध्यम से अपने रूप को स्थिर करने मे ही लगा रहा और उपदेश तथा शिक्षा की पगडडियो से गुजरता हुआ चमत्कारप्रियता एव मनोरजन की मध्ययुगीन रगीनियों से परे न जा सका । इस युग के सभी उपन्यासकारो का दृष्टिकोण मुख्यतया धार्मिक एव नैतिक रहा जिससे उन्होने पाप एव पुण्य का निर्णय सत् पात्रों की विजय एव असत् पात्रो की पराजय द्वारा किया है । यहाँ तक कि शुद्ध मनोरजन की दृष्टि से प्रणीत देवकीनदन खत्री के—'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति'—उपन्यासों के पात्र भी धार्मिक तथा नैतिक मूल्यो का पालन करते हैं । इसी पूर्वाग्रही प्रवृत्ति के कारण हिन्दी उपन्यास द्रुत गति से परिवर्तित होती हुई सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के साथ तादात्म्य न स्थापित कर सका । किन्तु इन सीमाओ मे भी उसमे कही-कही भावी युग का सकेत देने वाला स्वर विद्यमान है ।

विषय-वस्तु की दृष्टि से इस युग में सामाजिक, उपदेशात्मक तथा कल्पना-प्रधान मनोरजनात्मक उपन्यासो की सृष्टि हुई जिन्हे सामाजिक, तिलस्मी तथा ऐयारी, जासूसी, ऐतिहासिक उपन्यास-कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है । शिल्प की दृष्टि से इन सभी प्रकार के उपन्यासों मे घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है । इनमे जीवन का यथार्थ चित्रण नही के बराबर है और "पात्रों की योजना चारित्रिक विशिष्टताओ, मानसिक सत्यों की निगूढताओ, सामाजिक परिवेश के साथ उनके विभिन्न सम्बन्धों के चित्रण के लिए नही होती, घटनाएँ भी गहन जीवन-संदर्भों और पात्रों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ से प्रभावित नही होती, वे जीवन के विभिन्न प्रश्नों, समस्याओ और आकांक्षाओ की जटिलताओ से उलझी नही होती ।......घटनाओ की सभाव्यता-असभाव्यता पर भी लेखक का बहुत कम ध्यान रहता है । प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों की घटनाएँ इसी तरह देश-काल, पात्र के जटिल यथार्थ को समझे बिना, उन्हे चित्रित किये बिना नियो-

जित होती चली है।"[1] अतः इन उपन्यासों के पात्र अपनी कोई स्वतत्र सत्ता नही रखते और हमारी गहरी सम्वेदना, भाव-बोध की जटिलता एव चिन्तन-शक्ति को प्रभावित करने मे अशक्त, निजी विशेषताओं से असम्पृक्त ये पात्र केवल विस्मय और कौतूहल पैदा करते हुए चलते रहते है।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के लेखको मे देश एव काल की चेतना स्पन्दित हो चली थी किन्तु राष्ट्रीय जागरण का स्वर धार्मिक और नैतिक स्वरो के आगे पूरी तरह नही उभर पाया था। इस युग की औपन्यासिक कृतियो मे प० श्रद्धाराम फिल्लौरी-कृत 'भाग्यवती' सन् १८७७ की रचना है किन्तु इसमे आदर्श एव उपदेश की अधिकता है और जीवन के यथार्थ चित्रण का अभाव है, साथ ही इसका आधार मध्ययुगीन वार्ता है। अतः इसे उपन्यास की कोटि मे नही रखा जा सका। इसी प्रकार भारतेदु हरिश्चन्द्र की 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को भी मराठी से अनूदित और 'कुछ आप-बीती, कुछ जग-बीती' को अधूरी होने के कारण प्रथम औपन्यासिक कृति होने का सौभाग्य न मिल सका।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' (१८८२) को ही अग्रेजी ढग पर लिखा गया प्रथम मौलिक उपन्यास माना है। वास्तव मे इस उपन्यास के पात्र किसी राजघराने या भारतीय कृषक वर्ग के न होकर, आधुनिक युग के भावी कर्णधार मध्यमवर्गीय पात्र है। इसमे चित्रित समाज लेखक का जाना-पहचाना समाज है। नायक सेठ मदनमोहन को सन्मार्ग पर लाने का श्रेय उदीयमान मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि वकील ब्रजकिशोर को है। लेखक के इस मध्यवर्गीय उपयोगितावादी एव नैतिकतावादी दृष्टिकोण से नये युग का स्पष्ट सकेत मिल जाता है। इसमे नवीन तथा प्राचीन विचारो का सघर्ष स्पष्ट परिलक्षित होता है। सामाजिक उपन्यास होने पर भी यह देश के 'घटती के दिनो' का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, जिसकी जिम्मेदारी पूर्णरूपेण 'देश मे एकता की कमी' पर है। 'परीक्षा' को 'गुरु' मानने वाले इस उपन्यास की मौलिकता जीवनहीन, एकरस, चमत्कार बहुला कथा-परपरा को त्यागकर यथार्थवादी वस्तु-चयन मे है।

सामाजिक एव नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'परीक्षा गुरु' की परम्परा पर प० बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, हरिऔध, लज्जाराम मेहता आदि ने कई उपन्यासो की सृष्टि की। किन्तु इनमे न श्रीनिवासदास जैसी कला-कुशलता है और न वैसी पैनी दृष्टि। इनमे कोरी नैतिकता तथा थोथे आदर्शवाद की भरमार है। भट्टजी के 'नूतन ब्रह्मचारी' मे एक नवयुवक के सदाचरण से प्रभावित एक डाकू के आमूल-चूल परिवर्तन तथा 'सौ अजान एक सुजान' मे एक मित्र के प्रयास से कुसगति के गर्त मे पडे दो धनी

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० २१-२२

व्यापारियों के उद्धार की कथा है। प्रथम उपन्यास का उद्देश्य यदि छात्रों के जीवन को उन्नतिशील बनाना है तो दूसरे का सामाजिक कुरीतियों का पर्दाफाश करना। कथावस्तु की दृष्टि से दूसरा उपन्यास श्रीनिवासदास के 'परीक्षा-गुरु' के निकट है। सुगठित कथानक, पात्रानुकूल भापा और यथार्थ चित्रण की दृष्टि से इसे प्रेमचन्द का पथ प्रशस्त करने वाला उपन्यास कहा जा सकता है क्योंकि समाज के धर्माधिकारी और पूंजीपति शोपको के प्रति प्रेमचद के व्यंग्य का तीखा दंश इसी परम्परा का विकसित रूप है।

राधाकृष्ण का 'निस्सहाय हिन्दू' इन उपन्यासों से भिन्न दिशा अपनाता है। इसका कथानक गोवध की परम्परा पर आधारित है। गोवध-निवारण मे सक्रिय प्रयास करते हुए अब्दुल अजीज और उसकी पत्नी के प्राणोत्सर्ग की घटना से परिचालित होता है कि लेखक का दृष्टिकोण जातीय धरातल से उठकर सास्कृतिक धरातल पर जा पहुँचा है। निम्नवर्गीय पात्रो का संघर्षमय यथार्थ जीवन-चित्र प्रस्तुत करने वाला यह प्रथम उपन्यास है।

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' मे 'हरिऔध' जी का उद्देश्य यदि हिन्दी का सफल प्रयोग है तो 'अधखिला फूल' मे ग्राम्य जीवन के उस पहलू का सफल चित्रण है जो परम्परागत अधविश्वासों एवं रूढ़ियों के शव को ढोते रहने मे ही अपनी सार्थकता समझता है।

श्री लज्जाराम मेहता के सभी उपन्यास (धूर्त रसिकलाल, स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी, आदर्श दम्पति, बिगडे का सुधार, आदर्श हिन्दू आदि) समाज-सुधार की भावना से ओतप्रोत हैं। किन्तु सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखे गये इन उपन्यासों में कथावस्तु की नवीनता का अभाव कुछ खटकता है।

प्रेमचंद-पूर्व अन्य हिन्दी उपन्यासों मे 'विधवा-विपत्ति, (राधारमण गोस्वामी तथा देवीप्रसाद शर्मा), 'जया' (कार्तिक प्रसाद खत्री), 'लवंगलता वा आदर्शबाला', 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'सास-पतोहू', 'बडा भाई', 'नये बाबू' (गोपालराम गहमरी) आदि प्रमुख हैं जिन्हे सामाजिक उपन्यासों की कोटि मे रखा जाता है।

निष्कर्ष:

इन सभी उपन्यासों का मूल स्वर समाज-सुधार था। ये सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियो, अंधविश्वासो और साम्प्रदायिक समस्याओ की सीमा लाँघ कर भारतीय जन-जागृति और राष्ट्रीय चेतना का चित्रण प्रस्तुत न कर सके। इनमें हिन्दू समाज की चिरलाछिता, चिरवंचिता, चिरवदिनी नारी अपनी समस्त समस्याओं बाल-विवाह, कलह-प्रियता, दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, विधवा-समस्या, पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह, वेश्या-प्रथा आदि के साथ निरूपित है। इन पर हिन्दू संस्कृति की भी छाप है किन्तु सामाजिक क्रांति

के स्वरूप या आदर्श की इनमें कोई झलक नही । इनकी कथावस्तु का विन्यास नैतिक शिक्षा से परे और कुछ नही । इनमें सामाजिक मानव के उत्पीडन एव उससे मुक्ति के प्रयास का सर्वथा अभाव है, जिससे युग-चित्र स्पष्ट सामने न आ सका ।

तत्कालीन हिन्दी उपन्यास अपने उद्‌भव तथा विकास के प्रथम सोपान में सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठापना की चहारदीवारी लाँघ कर सम-सामयिक उद्‌बुद्ध चेतना का सम्यक् प्रतिनिधित्व न कर सका । पाश्चात्य एव पौर्वात्य विचार-धाराओ के सघर्ष से उद्‌भूत नवचेतना एव नवजागरण से तात्कालिक जन-मानस सर्वथा पृथक् रहा । परिणामस्वरूप इतिहास के समानान्तर ये उपन्यास सामाजिक और राज-नीतिक प्रेरणा-स्रोतों से विमुख रहे । यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता-सस्कृति के चकाचौध के आगे भारतीय सभ्यता और संस्कृति निस्तेज प्रतीत होने लगी थी, फिर भी समाज मे व्याप्त जिन कुरीतियो और रूढियो के उन्मूलन मे आर्य-समाज कृत-सकल्प था, उन्ही सारी समस्याओ का प्रारंभिक हिन्दी उपन्यासों मे प्रकारान्तर से समावेश है । इनमे सामाजिक जीवन-सत्यो का सतही चित्रण तथा यथार्थ की सश्लिष्टता एवं चरित्रो की मनोवैज्ञानिक गहनता का सर्वथा अभाव है । यद्यपि प्रच्छन्न रूप मे राजनीतिक असतोष की भी झलक इनमें मिलती है; फिर भी व्यावसायिक मनोवृत्ति तथा मध्यवर्गीय समाज में व्याप्त अनैतिकता एव यथार्थ से कल्पना-लोक की ओर पलायन के परिणामस्वरूप इस युग मे तिलस्मी, जासूसी और ऐयारी तथा रोमानी प्रेम के उपन्यासो की सृष्टि हुई और साहित्य मे सामाजिक तथा नैतिक उपन्यासो की यथार्थपरक रचनाएँ नही हो पायी । यहाँ तक कि 'रक्त-मडल' (श्री दुर्गाप्रसाद खत्री) जैसा उपन्यास भी क्रांति तथा विद्रोह की चिनगारी फैलाने में असमर्थ रहा और प्रथम विश्वयुद्ध की उथल-पुथल भी 'अँगूठी का नगीना' (किशोरीलाल गोस्वामी) की श्रृंगारपरकता को न रोक सकी । किन्तु यह परम्परा अधिक दिनों तक न टिक सकी । हिन्दी उपन्यासो की इस परम्परा मे प्रेमचन्द के आगमन से क्रातिकारी परिवर्तन आया । उन्होने अपनी अनोखी सूझ-बूझ से हिन्दी उपन्यास को कथानक की अनियन्त्रितता, अप्रासगिक विवरणो, चरित्र-चित्रण की उदासी-नता, भाषा की आलकारिकता तथा कल्पना की रगीनियो से सदा के लिए मुक्त कर दिया जिससे हिन्दी उपन्यास 'जन-जीवन' का 'यथार्थ चित्र' प्रस्तुत करने मे समर्थ हो सका ।

(ख) प्रेमचन्द-युग

हिन्दी साहित्य मे प्रेमचन्द का आविर्भाव एक ऐसी सान्ध्य वेला मे हुआ जब सामन्तवाद का अस्त और पूंजीवाद का अभ्युदय हो रहा था । प्राचीन एवं नवीन—

नैतिकतावादी और भौतिकवादी—संस्कृतियो मे संघर्ष चल रहा था। इस समय साम्राज्य-वाद से राष्ट्रवाद की और सामन्ती-महाजनी के संयुक्त शोषण से किसान-मजदूर शक्तियो की सीधी टकराहट शुरू थी। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मूल्यो मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था। किन्तु विशृंखलित प्राचीन मान्यताओ की जगह नयी मान्यताएँ प्रतिष्ठित न हो सकी थी। अब समाज मे ऊँच-नीच, सत्-असत्, पाप-पुण्य का निर्णय धर्म के ठेकेदारो—पण्डे-पुजारियों—के हाथ से निकलकर आर्थिक व्यवस्था पर आधृत हो रहा था। पूंजीवाद के परिणामस्वरूप शहरो में कल-कारखानो की स्थापना हो रही थी जिससे ऊँच-नीच, छुआ-छूत की भावना पर आघात हो रहा था।

इस समय देश का समस्त राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन उद्वेलित होकर पश्चिमी सभ्यता एव सस्कृति की चपेट मे आ गया था। पूंजीपति और मजदूर इन दो नये वर्गो का जन्म होने लगा था। मजदूर वर्ग किसानो की ही तरह शोषण के चक्र में पिस रहा था। शहरो की गदी बस्तियो मे रहने वाले इस वर्ग की अपनी समस्याएँ थी, अपना अलग सगठन था। ये मजदूर किसानो की अपेक्षा अपने अधिकारो के प्रति अधिक जागरूक थे। इनके अतिरिक्त समाज मे मध्यवर्ग के भी लोग थे। यह भारत का शिक्षित वर्ग था जो नवीन कृत्रिम जीवन के व्यामोह मे फँसा, सचाइयो से कटा हुआ था। यह वर्ग परम्पराओ का विरोधी तथा आर्थिक अभावो मे घुट-घुट कर पलता हुआ भी बाहरी तड़क-भड़क का आग्रही था। इसीलिए यह अनिश्चितताओ मे जी रहा था। इसका व्यावहारिक एव सैद्धांतिक जीवन विसंगतियो से परिव्याप्त था।

भारतीय कृषक वर्ग की स्थिति इससे भी गयी-बीती थी। ग्राम-सभ्यता का जीता-जागता प्रतीक किसान अब भी आर्थिक दुरवस्थाओं, सामाजिक कुरीतियो एव धार्मिक अधविश्वासो की चक्की मे पिस रहा था। इन सारी परिस्थितियो से प्रेमचन्द का परिचय अति निकट का था। वे इन्ही विकट परिस्थितियों की अग्निपरीक्षा से स्वय गुजरे थे। इसीलिए कल्पना, रोमांस, ऐयारी, तिलस्मी आदि की परम्परा पर आधारित हिन्दी उपन्यास को मनोविज्ञान एवं यथार्थ की भूमियो पर उतारकर उसमे वे सामाजिकता का पुट दे सके; इससे हिन्दी उपन्यास मे स्वाभाविकता, विश्वसनीयता, कलात्मकता और व्यापकता का समावेश हुआ और उसमे सामाजिक-चेतना अनेक आयामो मे प्रस्तुत हो सकी। वास्तव में प्रेमचन्द ही पहले उपन्यासकार है जिन्होंने साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसा और उसे समाज-सापेक्ष बनाया।

इसके अतिरिक्त रूसो, वाल्तेयर, माण्टेस्क्यू, टाल्स्टाय, गोर्की, मार्क्स, एंजिल्स,

लेनिन, गांधी एव फ्रायड जैसे चिन्तकों से प्रभावित इस युग के अन्य[1] साहित्यकारों की कृतियो में भी सम-सामयिक भारतीय समाज अपनी समग्र कटुताओ और विसंगतियों के साथ चित्रित हुआ है। क्योकि सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र मे व्याप्त संघर्ष को नव्यतम अभिव्यक्ति देने मे, यथार्थ जीवन-सत्यों के उद्घाटन में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास की अतुल शक्ति एवं अपरिमित विस्तृति को झुठलाया नहीं जा सकता।

यद्यपि बीसवी शताब्दी के प्रथम दस-पन्द्रह वर्षों का हिन्दी उपन्यास-साहित्य मानव जीवन की वास्तविकताओ से कटा-कटा रहा, फिर भी प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों की पृष्ठभूमि सजाने में उसका महत्व अक्षुण्ण है। इस विकास-क्रम मे देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियो ने भी हाथ बँटाया। परिणामस्वरूप जीवन की वास्तविकताओ तथा अन्तर्निहित शक्तियों का आभास देने वाले ऐसे साहित्य की आवश्यकता हुई जो विचार में स्वतत्र हो, चिन्तन में सन्तुलित हो, जीवन की अवरोधक शक्तियों के प्रति उग्र हो, दीन-दरिद्र जनता की हीन दशा से विक्षिप्त हो और सर्वोपरि भारत की मूक जनता के जीवन को ही प्रदर्शित करके उसकी आशाओं एव अभिलाषाओं को वाणी देने वाला हो।[2] इन्ही सभावनाओं के साथ हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे प्रेमचन्द का अवतरण हुआ। उनकी कृतियों मे युग-जीवन अपने समस्त सदर्भों के साथ अभिव्यक्त हुआ है, जिससे उनमें 'महाकाव्योचित' विशेषताएँ अपने आप आ गई हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रेमचन्द-युगीन उपन्याओ मे तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक एव ग्रामीण समस्याएँ विविध आयामो मे निरूपित है। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यास वेश्या-वृत्ति, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, किसान-जमीदार संघर्ष, खेती एव उद्योग-धंधो की होड, शहरी तथा देहाती जीवन के असामजस्य और अन्य सुधार एव जागृति के ताने-बाने से निर्मित हैं। प्रेमचन्द ने सामान्य जनों को अपना नायक बनाया और सामान्य दैनिक जीवन की समस्याओ को उनके यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया।

---

१. प्रसाद, निराला, उग्र, कौशिक, जैनेन्द्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, वृन्दावनलाल वर्मा, सियारामशरण गुप्त, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, चंडीप्रसाद 'हृदयेश', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्रीनार्थासह, गोविन्द वल्लभ पंत, राधिकारमण प्रसाद सिह, रामेश्वरप्रसाद, धनीराम 'प्रेम', प्रफुल्लचद ओझा 'मुक्त', उषादेवी मित्रा, तेजरानी दीक्षित आदि।

२. डॉ० गणेशन : हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन, पृ० ६७

उन्होने हिन्दी साहित्य में उन व्यक्तियों का जीवन चित्रित किया है जो साहित्य की परिधि से बाहर समझे जाते थे। ......उन्होंने हमें दिखाया कि वे किसान जो आज सामन्तवादी शोषण के शिकार होने के कारण ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, अंधविश्वास आदि के फन्दे में बुरी तरह से फँसे हुए हैं, हमारी घृणा के नहीं, वरन् सहानुभूति के पात्र है। उनमे निष्ठा, उत्सर्ग की भावना, संयम, सन्तोष, उद्यम से प्रेम, सामूहिकता की प्रवृत्ति, धैर्य इत्यादि गुण भी हैं जो हमें उनके शोषकों मे नही मिलते।[1] वास्तव में प्रेमचन्द ने तथाकथित बड़े लोगों का ऊपरी चोगा उतार कर उन्हे नंगा किया है और छोटे-छोटे किसान-मजदूरो के हृदय में निहित प्रेम, सेवा, त्याग और सत्य की ज्योति—जो भौतिकवादी सभ्यता की चमक-दमक के बीच भी निस्तेज नहीं हुई—को प्रकाशित किया है। उनके विशाल हृदय में जहाँ दीन-हीन, युगों से उपेक्षित शोषित कृषक-मजदूर के प्रति असीम करुणा थी, वही अवास्तविकताओ की ओर आकर्षित करने वाली काल्पनिकता के प्रति अपार घृणा।

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन पूर्णतया मानवतावाद के व्यावहारिक रूप जनवाद पर आधारित है। उन्होने अपने सम-सामयिक जीवन को व्यावहारिक कसौटी पर कसा और तदनुसार निर्णय भी दिया। इस प्रकार उनमें जनवाद के उग्र रूपों की अपेक्षा सुधारात्मक जागरण का रूप अधिक मुखर रहा। यही वह विन्दु है जहाँ प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख हो गये हैं। उनकी सभी कृतियों में (गोदान को छोडकर) समस्या के किसी-न-किसी सुखद समाधान द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कुरीतियों, अव्यवस्थाओ, शोषणों एवं अत्याचारों से छटपटाती मानवता की मुक्ति हेतु उनके हृदय में उठने वाली सच्ची तडप की परिचायिका है।[1] प्रेमचन्द जी यद्यपि गांधीवाद के प्रभाव से अछूते नही रहे, किन्तु गांधीजी की आध्यात्मिकता वे नही स्वीकार कर सके। डॉ० ओमप्रकाश गौतम की दृष्टि मे जागृति और सुधार का सन्देश देते हुए वे क्रमशः क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष की ओर—गांधीवाद से मार्क्सवाद की ओर —उन्मुख हुए हैं; फिर भी गांधीवाद को एकदम त्याग नहीं सके और मार्क्सवाद को एकदम अपना भी नहीं पाये। आदर्श सुधार की भावना उनमे अन्त तक रही। किन्तु 'यथार्थ' की पगडंडियों से होता हुआ 'आदर्श' 'गोदान' की मजिल तक न चल सका। यहाँ तक आते-आते प्रेमचन्दजी एक साथ ही ईश्वर, धर्म, अध्यात्म, गांधीवाद और सभी प्रकार के ऐसे सिद्धान्तो पर से अपना विश्वास हटा लेते है।[2] यहाँ उनकी दृष्टि स्पष्ट रूप से यथार्थनिष्ठ, प्रगतिशील और क्रांतिपरक हो जाती है। यही उनके 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की अंतिम परिणति है।

---

१. सं० शची रानी गुर्टू : प्रेमचन्द—व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० १५६
२. वही, पृ० १२७

प्रेमचन्द-युगीन हिन्दी उपन्यास ने सामाजिक समस्याओं से प्राण-रस लिया जिसके केन्द्र मे युगों से पीड़ित नारी अपनी मुक्ति के लिए कातर आँखों से निहार रही थी। इस समस्या के प्रमुख अग थे—वेश्या-समस्या, दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, बहु-पत्नीत्व की समस्या, नारी के साम्पत्तिक अधिकार, संयुक्त परिवार तथा बच्चों के संरक्षण की ज्वलन्त समस्या। इनके साथ ही राष्ट्रीय समस्याओ का भी अन्त नही था। इनमें आर्थिक शोषण, साम्प्रदायिक संघर्ष, ब्रिटिश शासन में न्याय-व्यवस्था, नौकरशाही में पुलिस के अत्याचार आदि की समस्याएँ।

विधवा-समस्या इस युग की ज्वलन्त समस्या थी। इसी को दृष्टि में रखकर प्रेमचन्द ने 'प्रेमा' (१६०७) नामक उपन्यास की सृष्टि की। यह उनके उर्दू उपन्यास 'हम खुर्मा व हम सवाब' का हिन्दी रूपान्तर है। बाद में कुछ परिवर्तनों के साथ सन् १६२६ में यह 'प्रतिज्ञा' नाम से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में विधवा-समस्या पर सभी दृष्टिकोणो से प्रकाश डाला गया है।

'वरदान' (१६२१) मे, जो उनके उर्दू उपन्यास 'जल्वा-ए-इसार' (१६१२) का हिन्दी रूपान्तर है, तथा 'प्रेमाश्रम' (१६२२) में इसी विधवा-समस्या को अन्य सामाजिक समस्याओं के सदर्भ में रखकर निरूपित किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप 'प्रतिज्ञा' की 'पूर्णा', 'वरदान' की 'विरजन' और 'प्रेमाश्रम' की 'गायत्री' को वैधव्य-अग्नि में कूदना पडता है। यहाँ प्रेमचन्द का दृष्टिकोण उस यथार्थ का निरूपण है जिसमे विधवा पर दोहरा आक्रमण होता है—एक ओर वह समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित दीन-हीन निराश्रित प्राणी है तो दूसरी ओर समाज की छिद्रान्वेषिणी दृष्टि का शिकार।[1] प्रेमचन्दजी वर्तमान सामाजिक परिस्थितियो के सदर्भ में विधवा-विवाह की अनिवार्यता की ओर संकेत-मात्र करके रह जाते हैं; अपनी ओर से इस समस्या का कोई स्पष्ट समाधान नहीं देते। बाद के उपन्यासकारो ने किसी-न-किसी रूप में इसका निराकरण किया है। जैनेन्द्र के 'परख' (१६२६) की विधवा 'कट्टो' का 'बिहारी' के साथ विवाह होता है और वृन्दावनलाल वर्मा के 'संगम' (१६३४) मे 'गंगा' की शादी 'रामचरण' से होती है। निरालाजी ने इस समस्या को अपने 'अलका' (१६३३) उपन्यास में सहज रूप मे 'अजित' से विधवा 'वीणा' की शादी कराके प्रस्तुत किया है। किन्तु 'पतिता की साधना' (१६३६) की 'नन्दा' उसके देवर 'हरिराम' से गर्भ रह जाने के कारण प्रयाग मेले मे छोड दी जाती है। यहाँ विधवा-समस्या से उद्भूत अवैध प्रेम एवं गर्भ-पात की समस्याओ पर विचार करना ही 'भगवती-प्रसाद वाजपेयी' का उद्देश्य दिखता है और

---

१. डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास—समाजशास्त्रीय विवेचन, पृ० ११६

अप्रत्यक्ष रूप से विधवा-विवाह की ओर संकेत करना भी। इसके अतिरिक्त अवैध प्रेम का यथार्थ चित्रण प्रसाद के 'कंकाल' (१६२९), चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की प्यास' (१६३१) और जैनेन्द्र के 'तपोभूमि' (१६३२) आदि उपन्यासों में किया गया है।

मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्रण का आग्रह प्रेमचन्दकालीन प्रायः सभी उपन्यासकारों में है। विधवा-समस्या से उत्पन्न अवैध प्रेम एवं गर्भपात की समस्या से भी भीषण सत्य तब सामने उभरा, जब दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, बहु-पत्नीत्व तथा संयुक्त परिवार के विघटन से समाज में नारियों के सामने आर्थिक सुरक्षा का ज्वलन्त प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अन्त में समाज-बहिष्कृता नारी को सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होकर वेश्या-वृत्ति अपनानी पड़ी।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' (१६१८) की 'सुमन' के यथार्थ जीवन-चित्र के द्वारा हिन्दी उपन्यास में पहली बार यह घोषणा की कि स्त्रियों को वेश्या-वृत्ति अपनाने में सबसे अधिक दोषी वह समाज है जो उन्हें वैसा करने के लिए विवश करता है। समाज-सुधारक पद्मसिंह के रूप में वे स्वयं बोल उठते हैं—"हमें उनसे (वेश्याओं से) घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। ये हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी, हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सन्मार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें।"

इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द-युगीन कई उपन्यासकारों ने वेश्या-जीवन के यथार्थ को कई संदर्भों में प्रस्तुत किया जिनमें 'सेवासदन' की 'सुमन' ही मानो कई रूपों में प्रस्तुत की गई हो। प्रसाद ने 'कंकाल' (१६२६) में गुलेनार (तारा), कौशिक ने 'माँ' (१६३०) में बेगम की बेटियों, भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' (१६३०) में वकील सर प्रभाशंकर की पुत्री प्रभा तथा वेश्या सरोज, निराला ने 'अप्सरा' (१६३१) में वेश्या-पुत्री कनक, उग्र ने 'शराबी' (१६३२) में शराबी-पुत्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'पतिता की साधना' (१६३६) में नन्दा आदि नारी पात्रों की बहुविध योजना की, जो यथार्थ चित्रण की इसी शृंखला की एक कड़ी के रूप में है।

'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने समाज की रूढ़िवादिता, सामाजिक सम्मान का मिथ्यात्व, अनमेल विवाह, रिश्वतखोरी, स्त्री-शिक्षा की समस्या, दहेज-प्रथा, पारिवारिक कलह आदि अनेक ज्वलन्त प्रश्नों पर विचार किया है। अन्त में उन्होंने वेश्या-वृत्ति के कुचक्र में फँसी निरीह नारी सुमन को सम्मान सहित आश्रय प्रदान करने के लिए 'सेवा-सदन' आश्रम खुलवाया है। यही उनके यथार्थवादी उपन्यासों की आदर्शवादी परिणति है।

'सेवासदन' की परम्परा पर आधारित 'निर्मला' (१६२३) उपन्यास का विषय सीमित होते हुए भी साकेतिक रूप में व्यापकता लिये हुए है। इसकी कहानी समाज की वेदी पर नारी के निर्विरोध बलिदान की अत्यन्त करुण कहानी है। यह प्रेमचन्द की ऐसी प्रथम कृति है जिसमें कोई आदर्श स्वप्न नही देखा गया है।[1] इसमें प्रेमचन्द ने दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, नारी के साम्पत्तिक उत्तराधिकार का प्रश्न, बच्चो के संरक्षण की समस्या का सजीव चित्रण किया है।

मध्यमवर्गीय जीवन-यथार्थ को चित्रित करने वाला प्रेमचन्दजी का उपन्यास 'गबन' (१६३०) है। यह उनके उर्दू उपन्यास 'कृष्णा' (१६०४) का ही परिमार्जित संस्करण है। इसमे सम-सामयिक परिस्थितियों के परिवर्तन का गहरा रंग भी है। इसमे मध्यम-वर्गीय जीवन की असंगतियों और मनोवैज्ञानिक सत्यों का भी उद्‌घाटन किया गया है। वास्तव मे 'रमानाथ' मध्यमवर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है, जो झूठी मर्यादा का शव कन्धे पर लादे-लादे फिरता है। उसमे मध्यमवर्गीय जीवन का सारा सघर्ष केन्द्रित-सा हो गया है। इसमे नारी (जालपा) की आभूषण-प्रियता पर करारा व्यग्य है, फिर भी उसमे मध्यमवर्गीय नारी की समस्त पीड़ा, कसक, सत्य निष्ठा, सेवा, त्याग आदि विशेषताएँ भी दिखाई गयी हैं। इस उपन्यास मे नये-पुराने आदर्शों एवं मूल्यो के घात-प्रतिघातो के बीच सघर्षरत मध्यवर्गीय जीवन अपनी समस्त विशेषताओ के साथ चित्रित है। नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार, शिशुओं के संरक्षण की समस्या, सयुक्त परिवार जैसी सामाजिक समस्याओ के अतिरिक्त इसमे राजनीतिक समस्याओ का भी स्पष्ट चित्र अंकित है। परतंत्र भारत पर नौकरशाही के जोरोजुल्म, पुलिस के हथकण्डे, रिश्वत-खोरी, दूषित न्याय-व्यवस्था के साथ विधवा-विवाह, मिथ्या-प्रदर्शन और विषम आर्थिक समस्याओ का भी लेखा-जोखा मिलता है। इसमे उच्चवर्गीय—रतन तथा उसके पति वकील, मध्यवर्गीय—जालपा तथा रमानाथ, निम्नवर्गीय—खटकिन तथा उसका पति देवीदीन—तीनो वर्गों के जीवन-सत्यों को परस्पर गूंथ कर उनके सापेक्षिक मूल्य का उद्‌घाटन किया गया है। साथ ही वर्गीय जीवन-सत्यो के भीतर व्याप्त मानवीय दुख-दर्द एवं सौन्दर्य को भी उभारा गया है।

'ग़बन' का वास्तविक सौदर्य उसके मनोवैज्ञानिक चित्रण मे है। यही से प्रेमचन्द की उपन्यास-कला मे नवीन सोपान जुडता है। यही से उन्हे आदर्श के आग्रह से मुक्ति मिलती है। प्रेमचन्द तथा उनके सम-सामयिक सभी उपन्यासकारों की कृतियो में युगीन जीवन (सामाजिक तथा राष्ट्रीय) की समस्याओ का यथार्थ अंकन हुआ है। यदि किसी

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास, पृ० ६२

रचना का मूल स्वर सामाजिक है तो उसे गंभीर बनाने में राजनीतिक स्वर भी सहयोगी रहा है। सामाजिक धरातल पर यदि नारी की परतंत्रता, किसान और उसकी संस्कृति, धर्म के नाम पर निरीह जनता का शोषण, मध्यवर्गीय जीवन की अनिश्चितता अनमेल विवाह, वेश्या-समस्या, विधवा-विवाह आदि का निरूपण किया गया है, तो राष्ट्रीय धरातल पर राजनीतिक स्वतंत्रता का भी स्वर विद्यमान है।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति से उत्पन्न उथल-पुथल, रूस की महान् क्रांति की सफलता के उपरान्त किसानों तथा मजदूरों के जागरूक होने तथा गांधीजी के नेतृत्व में होने वाले स्वातंत्र्य संग्राम के असहयोग आन्दोलन का पूरा-पूरा प्रभाव प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' (१९२२) पर है। इसका मूल स्वर कृषक-जीवन में व्याप्त आर्थिक विषमता है। "जमींदारी प्रथा ने भूमि का ऐसा असन्तुलित विभाजन कर दिया कि किसी के पास हजारों बीघे पड़ा है और कोई खेत-हीन। इस विषमता का परिणाम था जमींदारों और किसानों के बीच आर्थिक असन्तुलन। एक ओर सुख-सुविधाओं का अम्बार, दूसरी ओर दुखों और असुविधाओं का भयंकर चीत्कार। विषमता तो तब भयंकर हो उठती है जब इस विषमता को धार्मिकता का, न्याय का, अधिकार का जामा पहनाया जाता है और गरीब किसान अपनी नादानी और धर्म-भीरुता के कारण इस अत्याचार को बर्दाश्त कर लेते हैं। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में आर्थिक विषमता के ऊपर आरोपित न्याय, अधिकार और धर्म के चोगे को उतार फेंका और सच्ची वस्तुस्थिति का विश्लेषण करते हुए मानवीय न्याय और अधिकार की मांग उठाई। प्रेमचन्द की यह मानवतावादी दृष्टि सामाजिक यथार्थ पर आधारित है और सामाजिक यथार्थ यह है कि जमीन सबकी है।...... और सच्चे अर्थों में तो उसका मालिक ईश्वर है जिसने इसे बनाया या किसान है जो उसकी सेवा करता है।"[1]

इसके साथ ही 'प्रेमाश्रम' में राजनीतिक समस्या, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की समस्या, सम्प्रदायों तथा अंधविश्वासों की समस्या का जीवन्त चित्रण है। लगान वसूली के लिए जमींदारों के कारिन्दों की लूट-खसोट के कारण वर्ग-संघर्ष अपनी पूर्णता के साथ उभरा है। वास्तव में इस उपन्यास को जमींदारों के अत्याचारों के साथ पुलिस के जुल्म, रक्षा के नाम पर नियुक्त अफसरों तथा उनके कर्मचारियों की अंधेरगर्दी, डाक्टरों की ठगी, वकीलों की स्वार्थ-परायणता, न्यायाधीशों के अन्यायों, अनेक सामाजिक रूढ़ियों तथा दुर्व्यसनों से जकड़े ग्राम भारत के कोटि-कोटि परिस्थितियों की जीवन-गाथा कहा जा सकता है। इसमें पुरानी सभ्यता एवं शोषण के प्रतीक 'प्रभाशंकर', नवागत अर्थ-प्रधान पूँजीवादी सभ्यता के प्रतीक स्वार्थलिप्त कृषक-शोषक ज्ञानशंकर

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ४६-४७

है तथा जनवादी चेतना-सम्पन्न (समाजवादी चेतना-सम्पन्न) एव गांधीवादी जीवन दर्शन के प्रतीक 'प्रेमाश्रम' के संस्थापक 'प्रेमशंकर' के माध्यम से तत्कालीन यथार्थ का एक और आयाम अनावृत हुआ है, जिसमें भविष्य की संभावनाएँ निहित है।

'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर जमीदार वर्ग के शोषण एवं दमन-चक्र का प्रतिनिधि है तो 'अलका' के जमीदार मुरलीधर तथा कृपानाथ उनके व्यभिचार के। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशकर तथा 'तितली' के इन्द्रदेव सच्चे अर्थों मे देश तथा किसानों के शुभचिन्तक हैं। 'प्रेमाश्रम' के किसान भी सचेत हैं, वे सगठित होकर ज्ञानशंकर के अत्याचार का डटकर सामना करते हैं। ये 'सेवासदन' के बूढ़े किसान चेतू के सच्चे प्रतिनिधि हैं। यही से किसान-आन्दोलन की सृष्टि होती है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुण्डली चक्र' (१६३२) का मास्टर अजित भी किसानों मे जागृति लाता है और क्रूर जमीदार भुजवल का विरोध करता है।

गांधीवादी मान्यताओं के ताने-बाने मे निर्मित भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने वाला प्रेमचन्द का उपन्यास 'रगभूमि' (१६२२) है। इसमे महात्मा गांधी के नेतृत्व मे होने वाले स्वातंत्र्य सग्राम का सच्चा चित्र खीचा गया है। धनी-गरीब, किसान-जमीदार, पूंजीपति-मजदूर के बीच सघर्ष पैदा करने वाली ब्रिटिश हुकूमत की इस नीति का भी चित्रण है, जिससे साम्प्रदायिक झगड़ों का जन्म होता है। सत्य-अहिंसा के बल पर चलने वाले सग्राम को बल देने के लिए लेखक ने हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई—सभी को एकता मे बाँधने का प्रयास किया है। प्रेमचन्दजी इस उपन्यास मे गांधीवादी आदर्शो की प्रतिष्ठापना अन्धे नायक सूरदास द्वारा करते हैं। सूरदास असत्य, लोभ, पाप, स्वार्थ से मुक्त आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति है। उसके लिए यह ससार 'रगभूमि' है। वास्तव मे गाधीजी की सारी विशेषताओ से युक्त सूरदास का अपना अलग व्यक्तित्व भी है। उसमे मानवता के प्रति अगाध विश्वास है, जिससे भारतीय जन-मानस उसकी मृत्यु के बाद भी सतत प्रेरणा ग्रहण करता रहा है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'रगभूमि' सत्याग्रह के माध्यम से लडी गयी स्वाधिकार की कहानी है। इसमे सम-सामयिक सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन को व्यक्त करने वाली कथाओ से मूलकथा को सशक्त किया गया है, स्वाधीनता-सग्राम को पूर्णता के साथ चित्रित करने का सफल प्रयत्न दिखाई देता है। "सूरदास के अतिरिक्त इसमे कई और पात्र है जो अपने वर्गों की चेतना लिये आते है। विदेशी सत्ता के प्रतिनिधि मि० क्लार्क हैं, देशी राजाओ के प्रतीक राजा महेन्द्रकुमार है, उनके गांधीवादी पुत्र विनयसिंह हैं जो विचारो से राष्ट्रवादी है परन्तु सस्कारो से कायर। आदर्शवादी विचारो एव संस्कारग्रस्त

कमजोरियों का संघर्ष इसमें सर्वत्र दीखता है।"[1] यह उपन्यास विषय की व्यापकता एवं विचारो की गंभीरता के कारण महाकाव्य के अधिक निकट है।

यद्यपि 'कायाकल्प' (१९२८) का कथानक-लौकिक तथा पारलौकिक—दोनों पृष्ठ-भूमियों पर आधारित है; अलौकिकता, रहस्यमयता एवं आध्यात्मिकता के गहरे रंग के कारण तिलस्मी उपन्यासों की कोटि में आ गया है, फिर भी इसमें हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य जैसी साम्प्रदायिक समस्या के निरूपण का उद्देश्य स्पष्ट है। और यह भी कि इस समस्या का समाधान त्याग, अहिंसा, पारस्परिक प्रेम द्वारा ही संभव है।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष में ब्रिटिश सरकार का गहरा हाथ था; इसे कई उपन्यास-कारों ने चित्रित किया है। 'उग्र' जी ने अपने 'सरकार तुम्हारी आँखों में' उपन्यास के चीफ सेक्रेटरी रंगीनखाँ के दोहरे षड्यंत्रों का पर्दाफाश करते हुए लिखा है कि वह एक ओर राजा मदनसिंह के नाम पर मुस्लिम जनता पर गजब ढाता था और दूसरी ओर राजा के अत्याचारो के विरुद्ध मजहबी तौर पर मुस्लिम प्रजा को विद्रोह के लिए उकसाता था। इसमें ब्रिटिश हुकूमत का भी हाथ था। 'चंद हसीनों के खतूत' उपन्यास मे भी उग्रजी के यही विचार हैं।[2]

'कर्मभूमि' (१९३२) गांधी-युग की जन-चेतना का, व्यापक जन-जागरण का सरस अभिलेख है और इस दृष्टि से उसकी महत्ता प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से कही अधिक है।[3] इसका मूल स्वर संघर्ष है, जिसे दो धरातलों पर निरूपित किया गया है। एक अमरकान्त के नेतृत्व मे गांधीवादी अहिंसात्मक संघर्ष, दूसरा स्वामी आत्मानन्द (सलीम) के नेतृत्व में क्रातिकारी हिंसात्मक सशस्त्र संघर्ष। प्रेमचन्द ने प्रथम प्रकार के संघर्ष को प्रश्रय दिया है। उन्होने गाधीजी द्वारा चलाये गये 'हरिजनोद्धार' एवं 'नारी जागरण' की समस्या का निरूपण किया है। हिन्दी कथा-साहित्य के रगमंच पर प्रथम बार हरिजनों एवं अन्त्यजों को ला खडा किया है।

'कर्मभूमि' का एक प्रमुख स्वर 'अछूतोद्धार' है। गाधीजी अछूतों को राष्ट्रीय झण्डे के नीचे सगठित करना चाहते थे। 'कर्मभूमि' के अमरकान्त तथा डॉ० शान्तिकुमार अछूतों की बस्तियो मे जाकर उनमें जागरण की चेतना पैदा करते हैं, उन्हे सगठित करते है। उनके साथ खाने-पीने में कोई भेदभाव नही रखते। 'उग्र' ने अपने 'मनुष्यानंद' मे उन ढकोसलेबाज पडितो का यथार्थ चित्र खीचा है जो अछूतों को छूना नही चाहते फिर भी गंगा-जल से धुले पैसे लेकर उन्हें मुहूर्त बताते है। अछूतो के मंदिर-

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ५०
२. डॉ० चण्डीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास—समाजशास्त्रीय विवेचना, पृ० २३६
३. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण, पृ० ७८

प्रवेश का चित्रण भी कर्मभूमि मे मिलता है। डॉ० शान्तिकुमार तथा सुखदा के नेतृत्व मे संगठित अछूत वर्ग, सवर्ण धनी वर्ग की सहायता मे नियुक्त पुलिस की गोलियो का शिकार होकर भी मंदिर मे प्रवेश करता है। यह अछूतो के आत्मबल, सगठन, जागरण एव बलिदान की सच्ची विजय है। 'उग्र' के 'मनुष्यानद' के अछूत (भंगी) भी इसी प्रकार के सघर्ष के पश्चात् विश्वनाथ का दर्शन कर पाते है। 'मनुष्यानद' में 'कर्मभूमि' से अधिक उग्रता है। इसमे म्युनिसिपैलिटी, अग्रेजी सत्ता तथा भद्र समाज के विकट विरोध के बावजूद भी अघोड़ी बाबा पेशेवर सस्थाओ का ट्रेड यूनियन बनाकर भगियो का दुगुना वेतन बढवा लेता है।

'कर्मभूमि' का दूसरा प्रमुख स्वर नारी-जागरण है। यहाँ भारतीय आदर्श गृहिणी पारिवारिक मर्यादा की दीवार लाँघकर सुखदा, मुन्नी, सलोनी, नैना, रेणुका, सकीना, बुढ़िया पठानिन आदि के रूप मे राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करती है।

इस युग के उपन्यासो में हिन्दू-मुस्लिम एकता का भी यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। 'कर्मभूमि' की सुखदा पठानिन के पैर छूती है और वह सुखदा के बेटे को भुखमरी की स्थिति मे भी रेशमी कुरता तथा टोपी देती है। 'उग्र' के 'सरकार तुम्हारी आँखों में' उपन्यास में राजा मदनसिंह द्वारा गुलामखाँ उस्ताद की बेटी के अपहरण पर उस्ताद के हिन्दू-मुस्लिम दोनों शिष्यों ने उस साम्प्रदायिक दगे का विरोध किया जो दीवान रगीनखाँ तथा अग्रेज रेज़ीडेन्ट ने खड़ा कर दिया था। 'प्रसाद' ने अपने 'कंकाल' मे मगल और गाला की शादी कराकर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को प्रतिष्ठित किया है। 'कर्मभूमि' के अमरकान्त और सकीना मे प्रेम है किन्तु दोनो चाहकर भी साम्प्रदायिक दगे के भय से अन्तर्जातीय विवाह न कर सके। वास्तव मे कर्मभूमि का लेखक सैद्धातिकता एव व्यावहारिकता में सामंजस्य-सन्तुलन बनाये रखना चाहता है। इसका कारण है कि प्रेमचन्द एक सच्चे युगद्रष्टा की भाँति जन-शक्ति तथा प्रतिक्रियावादी तत्वो के सघर्ष का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में युगीन सन्दर्भों से कभी अलग नही हो पाये।

इस युग की अन्तिम और सशक्त कृति गोदान (१६३६) है। यह भारतीय संस्कृति और लोक-परम्परा से संयुक्त भारतीय कृषक वर्ग के प्रतिनिधि 'होरी' के सघर्ष-रत जीवन का यथार्थ चित्र है। इसे महाजनी सभ्यता मे पले शोषक वर्ग के काले कारनामो का इतिहास भी कह सकते है। हमारे जीवन-संघर्ष की पूर्णता-अपूर्णता के साथ उनकी पूर्णता-अपूर्णता की कथा घुल-मिल-सी गई है। इस उपन्यास में जहाँ सम-सामयिक जीवन अपनी समस्त वास्तविकताओ को लिये हुए चित्रित है, वही भावी युग की संभावनाएँ भी निरूपित हैं। यथार्थ भारतीय जीवन का महाकाव्य यह उपन्यास प्रेमचन्द की ही नही, समस्त हिन्दी उपन्यास-साहित्य की अमूल्य निधि है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द गांधीवादी अहिंसा या हृदय-परिवर्तन के आग्रह से मुक्त हैं। वे युगीन परिवेश में 'देवत्व' से 'मनुजत्व' के धरातल पर आ उतरे हैं। उन्हें विश्वास हो गया है कि 'अधिकृत-अधिकारी का, किसान-जमींदार का, शोषित-शोषक का सम्बन्ध अगर बदलेगा तो वह प्रथम के जागरण से बदलेगा, दूसरे की कृपा से नहीं।'[1]

'गोदान' की मूल कथा में होरी नामक किसान का जीवन केन्द्रस्थ है। वह अपनी संगतियों-विसंगतियों से चिपका भारतीय कृषक-वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है। उसकी जिन्दगी व्यथा, संघर्ष, कर्ज और दुःखों की अन्तहीन कहानी है। कृति के माध्यम से कई युगीन सत्यों का उद्घाटन हो जाता है। देश और समाज की आर्थिक रीढ़ किसान अपनी निरक्षरता, मूर्खता एवं अंध-विश्वासी प्रवृत्ति के कारण पीड़ित, अभावग्रस्त, अपमानित एवं उपेक्षित है। वह जमीदारों, अफसरों, पटवारियों, पुलिसों, गाँव के सेठ-साहूकारों, पण्डों, पुरोहितों के कुचक्र में फँसा हुआ है। धर्म, मर्यादा, कानून, पाप-पुण्य, दया-करुणा, सहानुभूति के अमोघ अस्त्रों से शोषित होते हुए भी किसान इनके अंकुश का प्रतिरोध करने में अशक्त है। ये सारी परिस्थितियाँ आर्थिक विषमता की देन हैं। शोषक शक्तियों का जीवन-मूल्य 'पैसे' पर टिका हुआ है। पैसे के मामले में वे मानवता तथा नैतिकता आदि को ताख पर रख देते हैं किन्तु दीन-हीन गरीब होरी में मानवीय संवेदना साकार हो उठी है।

'गोदान' का किसान धीरे-धीरे मजदूर होता जा रहा है। स्वयं होरी किसानी छोड़कर मजदूर बन गया था। उसका बेटा गोबर भी मजदूर बनने के लिए शहर में जाता है। उन्हें यह भली-भाँति मालूम हो गया था कि आर्थिक सम्पन्नता से ही अब सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाएँ परिचालित होंगी। वे मजदूर होकर निश्चिन्त, निर्भीक, धर्म के खूनी पंजे से मुक्त तथा आर्थिक चपेट से सुरक्षित रह सकेंगे। संयुक्त परिवार के विशृङ्खलित होने में भी 'अर्थ' का हाथ था। पारिवारिक सम्बन्ध भी आर्थिक धरातल पर उतरने लगा था।

'गोदान' का गाँव अब धीरे-धीरे शहरों के निकट सम्पर्क में आने लगा था। परिणामतः ग्रामीण तथा शहरी जीवन अपनी समता तथा विषमता के साथ 'गोदान' में खूब उभरा है। शहरी सभ्यता में पले राय साहब, मिल-मालिक खन्ना, डॉ० मालती और प्रो० मेहता अपने वर्गीय जीवन-सत्यों के साथ इसमें चित्रित किये गये हैं। अभिजात वर्ग अपनी ऊपरी सभ्यता के नीचे कुरूप है, नंगा है, अपने पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति भी कुरूप है; जमींदारी की शक्ति पूंजीपति के हाथ में आ गयी है। वह अपने ताम-झाम

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण, पृ० ८०

के नीचे आर्थिक दृष्टि से खोखला हो गया है, अभिजात वर्ग कायर है, उसका राग-रग ऊपरी है।"[१] इन सभी सचाइयो का पता गोदान के उस अंश से भी चलता है जिसमें ब्राह्मण मातादीन और चमारिन सिलिया के प्रणय-सम्बन्ध के परिणामस्वरूप मातादीन के मुँह मे हड्डी डालकर उसे धर्म-भ्रष्ट किया जाता है। रूढ़ियो पर आधारित धर्म-समाज मानव-धर्म के आगे घुटने टेक देता है। मातादीन के मुंह से युगीन सत्य स्वयमेव निकल पडता है—"मैं बाम्हन नही, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले वही बाम्हन है; जो धरम से मुंह मोडे, वही चमार है।"[२]

'गोदान' के किसान-मजदूर अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण अपनी अदम्य शक्ति से परिचित नही हैं। उनमे एकता का अभाव है। उन्हे सुयोग्य नेता की आवश्यकता है किन्तु नेतृत्व करने वाला शिक्षित मध्यमवर्ग जीवन की क्षणिक सुख-सुविधाओ के प्रलोभन मे पड़कर शोषक वर्ग के सामने नत-मस्तक है। दूसरी ओर शोषण के महत्स्वार्थ की समानता के कारण गाँव तथा शहर का शोषक वर्ग—महाजन तथा सेठ-साहूकार—एकता के सूत्र में बँधा है। गोवर और रामसेवक अपने हक और न्याय के लिए न लड़ना पाप समझते है। उनमे क्राति की चिनगारी विद्यमान है किन्तु वह चिनगारी भयंकर अग्नि का रूप धारण करने के पहले ही परिस्थितियों की चपेट मे बुझ जाती है। यद्यपि इस उपन्यास का नायक होरी अपने मन मे एक छोटी-सी गाय की इच्छा सँजोए हुए मर गया; उसकी सारी मनोकामनाओं की अर्थी निकल गयी। धनिया ने 'गोदान' के रूप मे गाँठ के रहे-सहे पैसे मात्र सवा रुपये दे दिये, फिर भी इस उपन्यास मे आगत-युग की पद-चाप अवश्य ही सुनाई पड़ने लगी है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य—विशेषकर कथा-साहित्य में प्रेमचन्द का अवतरण एक नये युग-प्रवर्तन का सकेत करता है। उन्होने "होरी के दयनीय चित्र द्वारा भावी समाज को चुनौती दी है कि किसान अस्तित्व-अनस्तित्व के दुराहे पर खडा है। एक कगार पर खडा है जहाँ से आगे या तो आत्मसहार की अतल जलराशि है या स्वत्व छीनकर इन्सान की तरह जी पाने के सकल्प की कठोर विषम भूमि—विनाश है या क्राति। समझौते का अब प्रश्न नही रहा।"[३] इस युगीन सत्य को भावी पीढी ने सहर्ष स्वीकृति दी। हिन्दी कथा-साहित्य को युगीन संदर्भों से जोडने, युगगत स्पन्दनो का

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ५७
२. प्रेमचन्द : गोदान, पृ० ३५७
३. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण, पृ० ८०

वाहक बनाने एव सामाजिक चेतना को अनेक आयामो में प्रस्तुत करने मे प्रेमचन्द का महत्व अक्षुण्ण है। मानव समाज के—सामूहिक तथा व्यक्तिगत, वाहरी तथा भीतरी, परिस्थितिगत और मानसिक, अंधकारमय तथा प्रकाशमान—संश्लिष्ट सत्यों का उन्होंने यथार्थ चित्रण किया है। इसीलिए उनका यथार्थ अंकन, प्रकृतवादियो के नग्न चित्रण एवं मनोविश्लेपकों की तरह जन-जीवन से परे व्यक्ति मन के एकान्त सत्य का उद्घाटन नही करता, उसमे तो युगीन व्यक्ति तथा समाज दोनों अपनी वास्तविकताओ के साथ निरूपित हैं।

(ग) प्रेमचन्दोत्तर युग

हिन्दी उपन्यास को यथार्थ की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय प्रेमचन्द को है। उनकी कृतियो मे निरूपित यथार्थ का सश्लिष्ट चित्र इस वात का प्रमाण है कि जहाँ उन्होने जीवन के शाश्वत सत्यों—युगीन समस्याओ, विपमताओ एव अत्याचारो को चित्रित किया, वही समस्त संगतियो-विसगतियो के साथ परिस्थिति-सापेक्ष मनःसत्यो को भी। फिर भी 'गोदान' के पूर्व की उनकी कृतियों मे परिस्थिति-जन्य प्रभाव से पारस्परिक जीवन-पद्धतियो, पुरातन नैतिक आदर्शों तथा सामाजिक रूढ़िवादी मान्यताओ का तीव्र विरोध न हो सका। उनका यथार्थ आदर्शोन्मुख रहा, आध्यात्मिकता का मोह पूरी तरह से भग नही हो पाया।

'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्दजी का आदर्शवादी एवं अध्यात्मवादी स्वप्न टूट गया। वे जीवन की कृत्रिम वर्जनाओ मे पलने वाले कुण्ठाग्रस्त मानव-समाज को वास्तविकता का दृढ आधार दे सके, उसका यथार्थ चित्रण कर सके। उनका यही यथार्थ-वादी दृष्टिकोण 'गोदान' तथा 'कफन' (कहानी) मे भावी-युग की सभावनाओ के साथ उभरा है।

प्रेमचन्द में यथार्थ के जो दो आयाम (सामाजिक, मनोवैज्ञानिक) उद्घाटित हुए थे, वाद मे अलग-अलग धाराओ मे वँटकर विशिष्ट रूप मे विकसित होते गये। सामाजिक आयाम से दो स्रोत फूटे—एक मे वे समाजवादी उपन्यास हैं जिनमे मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है; दूसरे मे वे उपन्यास आते है जो सामाजिक जीवन के यथार्थ को तो लेते है परन्तु मार्क्सवादी दृष्टि नही रखते। प्रेमचन्द के उपन्यासो की सामाजिक परम्परा में आते हुए भी ये उपन्याम उनसे अलग है। इनमें आदर्शोन्मुखता नही, वास्त-विक यथार्थता है।

मनोविज्ञान की धारा भी वस्तुतः प्रेमचन्द के मनोविज्ञान से अलग है। इसका सम्बन्ध अन्तश्चेतना के लोक से है। "इस नयी धारा ने न केवल मनोविश्लेषण शास्त्रियो द्वारा उद्घाटित रहस्यो को अपनाया वल्कि प्रकृतवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद आदि द्वारा

गृहीत मानस-सत्यों को भी आत्मसात किया।......यह अन्तर-लोक की यात्रा है जिसमे बाहरी दुनिया से निरपेक्ष होकर या बाहरी दुनिया को अपनी ओर उन्मुख कर मानस-सत्यों का साक्षात्कार किया गया है।"[1]

प्रेमचन्द-युग मे ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिकेतर उपन्यासों में यथार्थवादी दृष्टि से स्पष्ट अलगाव नही हो सका था। आगे चलकर ऐतिहासिक उपन्यासों का एक विशिष्ट स्वरूप बनने लगा। "समाजवादी उपन्यासकारो ने मार्क्सवादी दृष्टि को प्रधानता दी, मानवतावादी उपन्यासकारो ने नव-मानवीय और सामाजिक दृष्टि अपना कर इतिहास को वर्तमान की ओर उन्मुख किया। इतिहास-रस लेने वाले उपन्यासकारो ने इतिहास की चमत्कारी घटनाओ और दृश्यों को उनकी मासलता के साथ प्रस्तुत करने को ही अपना उद्देश्य माना। बीच-बीच मे चिरन्तन कही जा सकने वाली मानवीय भावनाओं और मूल्यो की छौक दी।"[2]

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ उपन्यासकारो ने अंचल-विशेष की समूची जिन्दगी को पूरी आत्मीयता के साथ यथार्थ के धरातल पर उतारा। यद्यपि इनके उपन्यासो की जन-चेतना प्रेमचन्द से जुडी हुई है, फिर भी स्वरूप और दृष्टि मे इन आचलिक उपन्यासो को परम्परित नही कहा जा सकता। औपन्यासिक विधा का इनका एक विशिष्ट रूप है, स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर युग मे यथार्थ के धरातल पर लिखे गये उपन्यासो के मुख्य चार प्रकार हैं—मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी और सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास और आंचलिक उपन्यास। इस अवधि मे चिंतन की कई दृष्टियाँ समानान्तर चल रही है; अतः इनकी चर्चा कालखण्डो मे नही, एक साथ ही ऐतिहासिक क्रम मे की जा रही है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों से ही मनोवैज्ञानिक चित्रण आरम्भ हो गया था किन्तु उनमे सामाजिक यथार्थों की प्रधानता के कारण 'अवचेतन' की प्रतिष्ठा न हो पायी थी। वे पात्रो की सामाजिकता से जुडे मनःसत्यो को उद्घाटित करते थे, व्यक्ति के चेतन-स्वरूप को अधिक महत्व देते थे, बदलती हुई परिस्थितियो मे बदलते हुए चरित्रों की सही पहचान करते थे किन्तु मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारो की तरह भीतर की यात्रा को ही प्रधानता नही देते थे।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास मूलतः मनोविश्लेषण पर आधारित होते हैं। मनोविश्लेषणवाद मे मस्तिष्क के चेतन, उपचेतन और अवचेतन नामक तीन विभाग कर

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ६३

२. वही, पृ० ६५

अवचेतन को विशेष महत्व दिया जाता है। अवचेतन को चेतन का निर्धारक कहा जाता है। अवचेतन में मनुष्य की कुछ आदिम वासनाएँ रहती हैं। फ्रायड इन्हे यौन-वासना की संज्ञा देता है। उसका विचार है कि, "चेतना की सारी वस्तुएँ अवचेतन के परिशोधित तत्वो को अवश्य किसी-न-किसी मात्रा में धारण किये रहती हैं। यह सिद्धान्त केवल मनुष्य के भावात्मक और वासनात्मक तत्वों तक ही सीमित नही, वरन् यह उसके विश्वासों और विचारों पर भी लागू होता है।......फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क के वास्तविक कर्म तर्क से नहीं, प्रवृत्ति और आवेग से संचालित होते हैं।"[१]

एडलर आदिम वासनाओं को 'हीनता की भावनाएँ' कहता है। हीन भावना बच्चों के प्रयत्न की प्रेरक शक्ति है जिससे उसके वयस्क जीवन के लक्ष्य और व्यापारों का निर्देशन होता है और जीवन के समस्त व्यवहारों का सम्बन्ध-स्थापन होता है। यही आदिम वासना युग के लिए 'जीवनेच्छा' है। उसके विचार से जीवनेच्छा ही मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य अपने अस्तित्व को अमर रखना चाहता है, इसके ही लिए उसके सारे प्रयत्न होते है, उन सभी प्रयत्नों मे साहित्य-निर्माण प्रमुख है।

इन मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों से साहित्य भी प्रभावित हुआ। जीवन-सत्य और मूल्यों के नये मान बने। मानव-चरित्र के स्वीकृत प्रतिमान खंडित हुए। सर्जना और विवेचना दोनो दृष्टियों से साहित्य में परिवर्तन आया; नये क्षितिजों का उन्मेष हुआ, फिर भी एक बात तो है ही कि, "कलाकार मनोविश्लेषक या दार्शनिक नही होता—उसकी पहली निष्ठा अपनी कला के प्रति होनी चाहिए। शास्त्र की बारीकियो तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के निदर्शन मे यदि वह जुट पड़े तो निश्चय ही कला एक ओर पड़ी रह जायेगी।"[२] मनोविश्लेषण शास्त्र का उपन्यास पर सबसे अधिक प्रभाव यह पडा कि उपन्यास आत्मनिष्ठ हो गया। उसके कलेवर और अभिव्यञ्जना पद्धति मे अन्तर आ गया। उपन्यासकार कथावस्तु के प्रति उदासीन हो गया। पात्रों के मन की गहराई मे पैठने के लिए उनकी संख्या भी कम कर दी गयी। ऐसे वर्जना-मुक्त समाज-विधान की माँग की गयी जिसमें आदिम वासनाओ की तुष्टि की व्यवस्था हो।

इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरित्र-निर्माण से संबंधित पूर्व-धारणाएँ बदल गयी। व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता को उसकी समस्त विविधता और जटिलता में व्यक्त किया जाने लगा। परिणामत: जीवनी-प्रधान उपन्यासो की प्रचुरता बढी। ऐसे उपन्यासो मे परस्पर अनुस्यूत उपकथाओ की शृंखला नही होती, प्रत्युत किसी व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके जीवन में घटित होने वाली असम्बद्ध घटनाओं का, क्षण-क्षण का, एक-

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ६७

२. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्याम—एक सर्वेक्षण, पृ० १०६

एक मनःस्थिति का प्रामाणिक चित्रण होता है। अंतश्चेतना के यात्रा-पथ को पकड़ने के लिए विम्बों और प्रतीकों की योजना अनिवार्यतः करनी पड़ती है। फलस्वरूप ये आत्म-प्रधान उपन्यास सबके लिए बोधगम्य नही हो पाते, इन्हे समझने के लिए आवश्यक है कि पाठक को कविता पढ़ने का संस्कार हो।

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में सर्वश्री जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, सच्चिदानद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

सामाजिक उपन्यासो मे समाज के जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए भी लेखक विशिष्ट जीवन-दर्शन से बँधा नही रहता। यहाँ वह अपनी निजी दृष्टि से परे, किसी वाद-विशेष के आग्रह का शिकार नही होता; जबकि समाजवादी उपन्यासकारों का निजी दृष्टिकोण नही रहता। उनकी कृतियो मे वर्णित सामाजिक यथार्थ मार्क्सवादी सिद्धान्त की अनुकृति मात्र होता है। उनके उपन्यासो मे समाज को उसकी समस्त अच्छाइयों-बुराइयो के साथ प्रस्तुत तो किया जाता है किन्तु उसका उद्देश्य सिद्धान्त-विशेष की पुष्टि करने के सिवा और कुछ नही होता। समाजवाद के आग्रह से सम्पृक्त इसी सामाजिक साहित्य को प्रगतिवादी या प्रगतिशील साहित्य के नाम से अभिहित किया गया जिसमें पहली बार साहित्य को व्यष्टिगत चेतना की परिधि से परे समष्टिगत चेतना के धरातल पर प्रस्तुत किया गया।

प्रेमचन्दोत्तर सामाजिक उपन्यासो में वर्णित यथार्थवादी प्रवृत्ति के सम्यक् विवेचन के पूर्व सामाजिक या समाजवादी यथार्थ की सैद्धातिक पहचान अपेक्षित है। साहित्य मे लेखक के तटस्थ एवं पूर्वाग्रह-युक्त दृष्टिकोण पर आधारित जीवन के कटु एवं मृदु अनुभवों का यथातथ्य निरूपण ही सामाजिक यथार्थ है। इसमे लेखक सामाजिक जीवन में व्याप्त संगतियों-असगतियों, कुठाओ, विपन्नताओ, अन्यायो-अत्याचारो के अतिरिक्त स्नेह, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, स्वार्थ-त्याग जैसे जीवन्त तत्वो का भी यथार्थ चित्रण करता है। सामाजिक जीवन के छिछले धरातल पर परिलक्षित होने वाली विकृतियों को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देना यथार्थ के मूल स्वर को झुठला देना है, प्रत्युत इन्ही सतही जीवन-सत्यों के चित्रण की जगह सामाजिक जीवन मे सक्रिय शाश्वत-सत्यो की अभिव्यक्ति ही समाजवादी यथार्थ का मूल उद्देश्य है। साहित्य मे इस स्वर को तीव्र करने वाले साहित्यकार ने साहित्य को समाज के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त साधन माना। उसने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के कारण अपने साहित्य को कल्पना एवं आदर्श से नही, जीवन के ठोस व्यावहारिक सत्यों से संयुक्त किया। उसने भौतिक जीवन के स्वस्थ उपभोग की ओर लोगो को उन्मुख किया। इस दृष्टिकोण के अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु मे हमेशा से दो—मरणोन्मुखी ह्रासशील प्राचीन एवं प्राणवान सशक्त नवीन का संघर्ष चलता आया है। सामाजिक

परिवेश में ह्रासशील म्रियमाण तत्वो का प्रतिनिधि शोषक वर्ग है और विकासशील जीवन्त तत्वो का सच्चा प्रतिनिधि युगों से शोषित, अनादृत दलित दीन-हीन समाज का सर्वहारा वर्ग। इन्ही दो तत्वो के संघर्ष में नवीन शक्तियो—सर्वहारा वर्ग—की विजय-कामना से प्रेरित, उनके जीवन के शाश्वत सत्यों को उभारने वाला साहित्य ही सही माने मे यथार्थवादी साहित्य है और वही अपने युग का प्रतिनिधि साहित्य है; जिससे आगे आने वाली साहित्यिक पीढ़ी को उचित मार्ग-निर्देशन मिल सकता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकारने वाले साहित्यकारों ने आर्थिक असमानता की पृष्ठभूमि पर, उत्पन्न समाज के सर्वहारा वर्ग की विपन्नताओं को यथार्थ की तूलिका से चित्रित किया। उसने युगो से चली आती हुई शोषक-शोषित वर्गो के बीच संघर्ष की चेतना को और भी सशक्त रूप दिया। पूँजीवादी ह्रासशील शक्ति के स्थान पर विकासशील जीवन्त समाजवादी शक्ति का समर्थन किया। इससे प्रेमचन्द की परम्परा में चित्रित यथार्थ की शक्ति तथा सीमाओं में और विस्तार आया। वह सामाजिक जीवन का सच्चा और सही चित्र वन सका। इतना ही नही, जहाँ प्रगतिवादी साहित्यकार पूँजीवादी व्यवस्था की लाश ढोने से इन्कारता है, वही समाजवादी जीवन्त व्यवस्था को सहर्ष स्वीकृति भी देता है। यदि उसकी कृतियो में मरणशील पूँजीवादी-सामन्तवादी शोषणों, अत्याचारो एवं विसंगतियों पर मर्मान्तक आघात पहुँचाया गया है तो समाज के सर्वहारा वर्ग की शाश्वत शक्तियो को सघर्ष मे विजयिनी होने के लिए प्रवल समर्थन भी दिया गया है। उसने सघर्ष द्वारा जहाँ तोडने की वात कही, वही सामाजिक आवश्यकताओ, आकांक्षाओ की पूर्ति के लिए निर्माण का नव-सन्देश भी दिया। वह निर्माण के लिए ध्वंस को आवश्यक समझता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने साहित्य मे महान् क्रांति के प्रवल आग्रह का स्वर तीव्र करता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द के वाद के इन साहित्यकारो ने अपनी कृतियो मे सम-सामयिक जीवन को प्रभावित करने वाली किसी भी महत्वपूर्ण घटना, स्थिति या अनुभूति को छूटने नही दिया। उसे अपने हृदय तथा मस्तिष्क के पूरे विस्तार से असम्पृक्त नही होने दिया। उनकी पैनी दृष्टि से सम-सामयिक पूँजीवादी-सामन्तवादी व्यवस्था की चपेट से कराहती, सघर्ष करती एव जूझती हुई कोटि-कोटि भारतीय जनता का दुःख-दैन्य ओझल न हो सका। "अपनी पराधीनता के खिलाफ आवाज उठाती भारतीय जनता, पूँजीवाद-सामन्तवाद से टक्कर लेते किसान-मजदूर, युग तथा समाज की कटुताओ के दुर्वह वोझ में दवता-सिसकता मध्यवर्गीय जीवन, सामन्ती-पूँजीवादी मनोवृत्ति की शिकार भारतीय नारी, वर्णाश्रम धर्म की अतिशयताओं से कराहते और उसे विच्छिन्न कर देने के लिए आतुर अछूत—सव अपने संघर्ष तथा अपनी आशा-आकांक्षाओ को लिये हुए इनकी कृतियो द्वारा सामने आये है। वर्ग-विपमता की इतनी हृदयद्रावक, साफ तथा सच्ची तस्वीरे इनके उपन्यासो मे उतरीं

हैं, शहरो तथा ग्रामों की समाज-व्यवस्था मे घुटता जन-सामान्य का जीवन, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा सामन्तवाद के तिहरे शोषण के परिवेश में इतना मूर्त हुआ है कि ये उपन्यास अपने समय और समाज के सच्चे प्रतिनिधि बन गये है।"[1]

प्रगतिवादी साहित्य ने सारी प्राचीन मरणोन्मुख मान्यताओं पर स्वीकृति की मुहर लगा दी। उसने जन-जीवन के प्रवाह मे ही सौंदर्य की सचाई आँकी। उसके अनुसार सामाजिक जीवन से असम्पृक्त सौंदर्य का कोई अस्तित्व नही, उसे कल्पना-लोक की अलौकिक सुन्दरता वरेण्य नही। उसकी रचना सर्वथा सोद्देश्य एवं सर्वजन हिताय होती है। इसीलिए वह अपनी कृतियो मे कुरूप, शोषक, सडी-गली, रूढ़िग्रस्त, ह्रासोन्मुख पुरानी शक्तियों का खोखलापन चित्रित करने मे रचमात्र भी सकोच नही करता। मार्क्सवादी दर्शन अपनाने के कारण वह सामाजिक जीवन के यथार्थ को आर्थिक परिवेश मे रखकर चित्रित करता है। समाजवादी यथार्थ को सैद्धातिक आधार बनाकर लिखने वाले उपन्यासकारों का मूल स्वर आर्थिक शोषण का विरोध है। वे आर्थिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन लाकर वर्ग-विहीन नये समाज द्वारा सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य मे नव-जागरण लाना चाहते हैं। वे पुरानी रूढ़ियो से चिपके स्वार्थान्ध शोषको का नामो-निशान तक नही रहने देना चाहते, जिनके कारण आधुनिक जन-जीवन मे नये सामाजिक, नैतिक, धार्मिक मूल्यो के स्थापित होने मे बाधा उत्पन्न हो रही है। इनकी कृतियो मे चित्रित किसान-मजदूर निरे हाड-मांस के पुतले नही है, वे आधुनिक भारतीय जन-मानस के जीवन्त प्रतिनिधि है जो प्राचीन मान्यताओं, रूढियो, कुसंस्कारो के बन्धन को तोड़ फेकने तथा नवीन सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक जीवन-मूल्यों का स्वागत करने के लिए, आर्थिक विषमता को समूल विनष्ट करके वर्गहीन समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए सक्रिय हैं। इन लेखको ने यथार्थ को प्रेमचन्द की विरासत के रूप मे ही नही स्वीकारा, बल्कि उसे एक जीवन्त विचार-दर्शन के रूप मे सम्पन्नता तथा समृद्धि से मडित भी किया। अतः इन्हे प्रेमचन्द की परम्परा के पोषक एव नवीन परम्परा के सर्जक की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

इन उपन्यासकारो ने नवीन मनोविज्ञान के प्रभाव से जिन पात्रो का सृजन किया, वे आधुनिकता की जमीन से पैदा होने वाले द्वन्द्व-चेतना-युक्त पात्र है। पुरानी चेतनाओं तथा बद्ध सस्कारों से ग्रसे, नयी जिन्दगी के लिए सगठित होकर प्रयास करने वाले, छोटी-छोटी वासनाओ तथा हीन भावनाओ से अस्थिर हो जाने वाले किसान-मजदूर हैं।[3]

---

१. डॉ० शिवकुमार मिश्र : प्रगतिवाद, पृ० ७६
२. वही, पृ० ७४
३. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० ११६

साथ ही इन लोगों ने उन मध्यवर्गीय पात्रों को भी चित्रित किया है जो अपनी झूठी शान, काल्पनिक गरिमा और आर्थिक अभावों के बीच पराजित और कुंठित से रहते हैं। कुछेक लेखकों ने सामाजिक कुरीतियों का भंडाफोड़ इस उग्रता अथवा उत्साह के अतिरेक से किया है कि उनकी यह प्रवृत्ति अश्लीलता की कोटि तक पहुँच गयी है। 'उग्र' जी इसके उदाहरण हैं।

सामाजिक यथार्थ को वास्तविकता से उभारने वाले प्रमुख उपन्यासकार हैं—यशपाल, अश्क, अमृतराय, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त आदि; जिनमे अपेक्षाकृत यशपाल की समाजवादी यथार्थ की दार्शनिक पृष्ठभूमि का निर्वाह रचनात्मक स्तर पर अधिक ठोस हुआ है। आगे चलकर आंचलिक उपन्यासकारों ने इसी परम्परा को शिल्पगत समृद्धि से सम्पृक्त किया है।

अब हम सामाजिक-समाजवादी यथार्थ की धारा के कतिपय प्रमुख उपन्यासकारों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करते हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अश्क' जी का साहित्य की सभी विधाओं पर अधिकार है। वे जीवन की छोटी-से-छोटी अनुभूति के प्रति भी संवेदनशील रहे हैं। यही कारण है कि 'अश्क' जी निम्न-मध्यवर्गीय जीवन को उसकी समस्त वास्तविकताओं के साथ अपनी कृतियों में रूपायित कर सके। प्रेमचन्द की परम्परा का पूरा निर्वाह यदि किसी ने किया है तो 'अश्क' जी ने। पहले इनमें भी प्रेमचन्द की तरह आदर्श की भावना थी, जो बाद में जीवन के कटु अनुभवों के उपरान्त यथार्थ में समाहित हो गयी। उनके उपन्यासों में चित्रित मानव गुण-दोषों का समन्वित पुतला है; उसका जीवन पूर्णतया दुग्ध-धवल नहीं है। 'अश्क' जी आदर्श को व्यावहारिकता की ठोस आधार-भूमि पर आँकते हैं। उनके दृष्टिकोण से वही आदर्श शाश्वत है जो जीवन की वास्तविकताओं से प्राण-रस लेकर अंकुरित होता है।

स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम-सम्बन्ध का चित्रण करते हुए 'अश्क' ने हमेशा ध्यान रखा है कि उसमें ऐसी प्रेरणादायक शक्ति अवश्य हो जो आदमी को जीवन के प्रति आकर्षित करे। वे यौन-समस्या को प्रेमचन्द की भाँति न तो आदर्शात्मक चित्रित करना चाहते हैं और न प्रकृतवादियों की तरह विकृत ही। उन्होंने हमेशा दोनों के बीच का मार्ग अपनाया है। वे प्रेम की परिधि से अलग भी मानव-जीवन को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका दृष्टिकोण सभी प्रकार के—राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक—पूर्वाग्रहों से मुक्त है। उनके उपन्यास, 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख' और 'शहर में घूमता आईना' मध्यवर्ग के विराट फलक पर स्थित हैं। ये कथा-विन्यास की दृष्टि से बहुत

ही फैले हुए और यथार्थ की दृष्टि से सतही है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' (१९५५) उनका एक सुगठित छोटा उपन्यास है। इसमे आधुनिक आश्रमों अथवा सर्वोदयी संस्थाओं की विसगतियो का उद्घाटन किया गया है। "इस आधुनिक भाव-भूमि को लेकर 'अश्क' ने इस लघु उपन्यास की रचना की जिसमे आदर्श और यथार्थ के प्रत्यक्ष सघर्ष के साथ-साथ मानव-मन की अनेक छोटी भाव-लहरियाँ उठती हैं। यह उपन्यास 'अश्क' के अन्य उपन्यासों के विपरीत कथ्य को बडी चुस्ती और कौशल से बाँधता है। इसलिए यह उपन्यास अधिक पकड़ता है और अभिप्रेत प्रभाव की अन्विति से दीप्त है।"[1]

अश्क के अन्य उपन्यास हैं—'एक रात का नरक', 'सितारो के खेल' और 'पत्थर अल पत्थर'।

अमृतलाल नागर

प्रेमचन्दजी द्वारा निरूपित सामाजिक यथार्थ की परम्परा को आगे बढ़ाने वालों मे नागरजी अग्रणी हैं, किन्तु ये यथार्थ चित्रण के सदर्भ मे प्रेमचन्द से कई दृष्टियों से भिन्न भी हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे लोक-मंगल एव समाज-सत्य व्यक्ति सत्य की अपेक्षा जहाँ अधिक मुखर रहा, वहाँ नागरजी ने व्यक्ति तथा समाज दोनों को अपनी कृतियो में समान रूप से चित्रित किया है। उन्होंने व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को अपनी समन्वयात्मिका दृष्टि से पाटने का सफल प्रयास किया है। नागरजी का विश्वास है कि व्यक्ति और समाज मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसीलिए वे अपने उपन्यासो मे समाज तथा व्यक्ति के जीवन-गत यथार्थ-चित्रण मे काफी सफल हो सके हैं।

नागरजी के उपन्यासकार के रूप को यशस्वी बनाने वाली रचना 'बूंद और समुद्र' है। 'बूंद और समुद्र' (१९५६) व्यक्ति (बूंद) और समाज (समुद्र) के समन्वित सम्बन्धो को आधार मानकर लिखा गया वृहदाकार उपन्यास है। "रूढ़िग्रस्त समाज की दुर्बलताएँ, उसकी अव्यवस्थित मान्यताएँ एवं दुर्व्यवस्था ही वह अथाह समुद्र है जिसमें लघु बूंद की भाँति प्रच्छन्न मानव विशाल लहरो की विभीषिका मे अपना निजी अस्तित्व रखते हुए भी उससे पृथक् रहने को विवश है। फिर भी बूंद का अपना अस्तित्व है, वह स्वय की इकाई मे पूर्ण है, उसकी आत्मा प्रभावपूर्ण है और उससे भी आशा है कि वह दुर्व्यवस्थाओ मे अनमिल होकर समाज-रूपी सागर को एक सुव्यवस्था प्रदान कर सकता है। एक 'वन कन्या' और एक 'सज्जन' चाहे सारे-के-सारे समाज की दुर्बलताओ को भले ही न मिटा सकें, पर वे अपनी आत्मा का उत्सर्ग करके, विशेष वर्ग—एक निश्चित

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० १३५

दायरे के समाज—को अवश्य ही लाभ पहुँचा सकते है; यही उपन्यास का मुख्य विषय है।"[1]

'व्यष्टि' और 'समष्टि' के प्रतीक 'बूंद' और 'समुद्र' के पारस्परिक समन्वय की समस्या द्वारा लेखक यह कहना चाहता है कि व्यक्ति का कर्तव्य है, वह दूसरो के सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख माने और लाख वैचारिक मतभेद के वावजूद व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध न टूटे—बूंद से बूंद जुडी रहे और समुद्र की गरिमा भी अक्षुण्ण बनी रहे। इस उपन्यास मे व्यष्टि और समष्टि की समस्या का समाधान समन्वय के कई धरातलो पर किया गया है। 'महिपाल' के जीवन मे सगति का अभाव है। अंतरंग और वहिरग जीवन के परस्पर विरोध मे वह टूटता जाता है। उसकी सामाजिक चेतना को घोर वैयक्तिक रूप देने मे उसकी 'आर्थिक दुरवस्था' उतनी नही, जितनी उसकी 'अन्तर्बाह्य विसंगति' है। 'सज्जन' की उन्नति का रहस्य उसकी समन्वय प्रवृत्ति है। 'बाबारामजी' मे समन्वय की असीम क्षमता है। उनमे गांधीवादी दर्शन—अहिंसा एवं मानवतावाद—साकार हो उठा है। संक्षेप मे 'बूंद और समुद्र' यथार्थ की पृष्ठभूमि पर रची गयी ऐसी रचना है जिसमे समाज के बुनियादी सत्यो का यथा-तथ्य अकन हुआ है और "आज के मनुष्य के भीतर उठते हुए भावगत, विचारगत परिवर्तनो, संक्रांत मूल्यो और सम्बन्धो, राजनीतिक दलो की विभीपिकाओ से त्रस्त होती हुई मानवता को पहचाना गया है।"[2]

नागरजी के 'शतरज की मोहरे' उपन्यास में गदर (१८५७) के अर्ध-शताब्दी पूर्व की लखनऊ की नवाबी सस्कृति का साकार रूप प्रस्तुत किया गया है और 'सुहाग के नूपुर' मे तात्कालिक सामाजिक जीवन, कला तथा अन्तर्देशीय व्यापार के ताने-बाने मे एक प्रेम-त्रिकोण का निर्माण किया गया है। इसमें राजनीतिक सघर्षो, कुचक्रो तथा सांस्कृतिक जीवन की विकृतियो को भी चित्रित किया गया है। इनके अन्य उपन्यास है— 'महाकाल', 'सेठ बांकेमल' और 'अमृत और विष'।

भैरवप्रसाद गुप्त

'मशाल', 'गगा मैया', 'जंजीरे', 'नया आदमी', 'सती मैया का चौरा' आदि उपन्यासो के प्रणेता भैरवप्रसाद गुप्त की दृष्टि उग्र समाजवादी रही है। उनकी दृष्टि की उग्रता समाज-निर्माण की ऐतिहासिक सीमा को लाँघ कर भविष्य की भूमिका तक विस्तार पाती है। भैरवप्रसाद गुप्त अपने उपन्यासों मे जन-जीवन की जाग्रत चेतना के साथ-साथ भविष्यत् मे उसकी संभावनाओ की ओर भी प्रकाश डालते चलते हैं।

---

१. डॉ० त्रिभुवनसिह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० ४०७

२. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० १३२

इनके 'गंगा मैया' (१६५३) उपन्यास में समाजवादी चेतना और समाजवादी यूटोपिया का समन्वित चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन रूढियो, अत्याचारो, घातक रीति-रिवाजो की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति के साथ विकासशील नयी सामाजिक प्रवृत्तियो का सघर्ष यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया गया है। जमीदार और पुलिस के समवेत अत्याचारों का प्रवल प्रतिरोध करने वाले 'मटरू' तथा 'गोपी' इस उपन्यास के सजीव पात्र हैं। इनमे चेतना का सचार हो गया है और भविष्य मे गगा मैया और धरती मैया के इन पुत्रो को गंगा तथा धरती दोनों की शक्तियों का वरदान मिलकर रहेगा। गगा तथा धरती पर इन पुत्रों का एकाधिकार हो कर ही रहेगा।

'सती मैया का चौरा' इनका सशक्त यथार्थवादी उपन्यास है। इसमे साम्प्रदायिकता जैसी समस्या को मानवीय सवेदनाओ के धरातल पर उपस्थित किया गया है। मानवीय संवेदना—दो हिन्दू और मुस्लिम मित्रों के निःस्वार्थ प्रेम पर आधारित है जिनका नाम मुन्नी तथा मन्ने है। इन दोनो की मित्रता असामाजिकता और साम्प्रदायिकता की जहरीली आग में झुलस जाती है। इस उपन्यास मे कोई आदर्शात्मक समाधान नही दिया गया है। इसकी विशेषता समाज को यथातथ्य निरूपित करने, उसकी विसंगतियो एव अमानवीय नग्नताओं के उद्घाटन मे है।

प्रेमचन्दोत्तर यथार्थवादी परम्परा को लेकर चलने वाले कुछ सफल ऐतिहासिक उपन्यासो की सृष्टि हुई है। वास्तव मे ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना सरल नही है। इसके लिए लेखक को दोहरे उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है; उसे इतिहास के प्रति ईमानदारी और कला के प्रति सजगता रखनी पडती है। इतिहास की मृत सामग्री को वर्तमान जीवन के संदर्भों से आनुपातिक ढग से मिलाकर समयोचित बना लेना सर्जक की क्षमता पर निर्भर करता है। दायित्व-चेता कलाकार के लिए ऐतिहासिक उपन्यासों का लिखना एक प्रकार से सत्य की खोज है। "ऐतिहासिक उपन्यास हो या इतिहास की सामग्रियो पर आधारित कोई और साहित्यिक विधा, सभी को यह सत्य पाना ही होता है कि इतिहास वर्तमान के लिए ही है। साहित्यकार सर्जक है, जीवन का सर्जन करना ही उसका लक्ष्य होता है। वह इतिहासकार की भाँति तमाम वीती बातों को उनकी अनेक स्थूल तथा यथातथ्य रग-रेखाओ में पुनः प्रस्तुत नही करता। वह सर्जक के गहन दायित्व को समझ कर उन्हे एक गहरे मानवीय सत्य से जोडता है।"[1] सब कुछ निर्भर है सर्जक की सयोजना पर, अतीत की घटनाओ और उसके पात्रो को व्यापक सत्यो से दीप्त कर उन्हे कालजयी वनाने की क्षमता पर। वस्तुतः ऐसी कृतियाँ और ऐसे कृतिकार किसी भी भाषा के साहित्य में कम ही होते है, हिन्दी साहित्य भी इसका अप-

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० १५०

वाद नही है। फिर भी इस क्षेत्र मे उल्लेख्य हैं, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल, रागेय राघव, अमृतलाल नागर आदि।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल साकृत्यायन हिन्दी के ऐसे उपन्यासकार है जिनकी मूल पहुँच इतिहास की अतल गहराई तक है। ये प्रधानतया अपने ऐतिहासिक उपन्यासो के कारण प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचे। इनकी दृष्टि मार्क्सवादी दर्शन एवं बौद्ध-चिन्तन से सश्लिष्ट है। इनका मूल उद्देश्य समाजवादी सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार से ऐसे समाज की स्थापना करना है जो ऊँच-नीच के भेदो से परे आदर्श एव वर्गहीन हो। इनकी कृतियो मे वर्णित यथार्थ सर्वथा नवीनता का आग्रह लेकर चला है। इसीलिए प्राचीन इतिहास के अन्तराल से इन्होने ऐसी घटनाओ एव ऐसे पात्रों को ही चुना है जो आधुनिक जन-जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति में पूर्णरूपेण सहायक हों। ये कला को निष्प्रयोजन नही मानते। "मानव-स्वतंत्रता की सिद्धि के लिए, आदर्श समाजवादी समाज की स्थापना के लिए, वैषम्य और रूढ़ि-जर्जर जीवन पर भरपूर आघात करने के लिए ये उसे (साहित्य को) साधन रूप मे ग्रहण करते हैं।"[१]

राहुलजी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास—'सिह सेनापति' और 'जय यौधेय' है। 'सिह सेनापति' मे लिच्छिविगण के सामूहिक जीवन का संघर्ष चित्रित है। इसमें घटना से अधिक व्यक्ति-चित्रण पर जोर दिया गया है। कथाकार ने साग्रह प्राचीन मान्यताओं और धारणाओ का उन्मूलन करने का प्रयत्न किया है। "लेखक की दृष्टि मे प्राचीन ब्राह्मण-संस्कृति तथा पूंजीवादी सस्कृति परिस्थिति-भेद के अनुसार प्रायः परस्पर समकक्ष है—दोनो ने वैषम्य का पोषण किया है, मानवीय समता का निषेध किया है। उसके अनुसार मार्क्स अभिनव बुद्ध है—दोनों की चिन्ताधारा की तात्त्विक समानता को लेखक ने रेखांकित किया है।"[२]

'जय यौधेय' मे यौधेय कुमार जय के शौर्य और साहसिकता का चित्रण है। इसमें यौधेयगण के समष्टि जीवन का निरूपण किया गया है। व्यक्ति-चित्रण को प्रधानता यहाँ भी दी गयी है। 'जय' को पूरी तरह उभारा गया है। वह अनेक संघर्षों को झेलता हुआ सिहल पहुँच कर बौद्ध भिक्षु बनता है और गण-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त् करता है। यथावसर सामाजिक समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त करता है।

---

१. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण, पृ० १६८
२. वही, पृ० १६६

यद्यपि राहुलजी के इन उपन्यासों में घटना का संयोजन और चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना मनोवैज्ञानिक धरातल पर नही हो पाई है, फिर भी सांस्कृतिक ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति का जो रूप इनमें मिलता है, प्रशंसनीय है।

इनके अन्य उपन्यास हैं—'विस्मृत यात्री' और 'मधुर स्वप्न'।

रांगेय राघव

रांगेय राघव की प्रतिभा अनेकमुखी है। उन्होने बहुत लिखा है और अनेक विधाओं मे लिखा है। रांगेय राघव ने सर्वाधिक रचना औपन्यासिक-क्षेत्र में की है। सामाजिक, ऐतिहासिक एवं आंचलिक—सभी प्रकार के सफल उपन्यासों की सृष्टि की है।

उनके सामाजिक उपन्यासों मे आग्रह-मुक्त समाजवादी चेतना का प्रस्फुटन हुआ है। वे जन-जीवन में व्याप्त विषमताओं का उद्घाटन करते हैं, युग-धर्म को आत्मसात करने की जागरूकता उनमें सतत दिखाई देती है। किन्तु वे नही चाहते कि राजनीतिक प्रेरणाएँ उनके कलाकार को दबा दें। सामाजिक उपन्यासो मे 'घरौंदे' और 'विषाद मठ', ऐतिहासिक उपन्यासो मे 'मुर्दों का टीला' प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। 'कब तक पुकारूँ' उनका प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास है।

'घरौंदे' मे लेखक ने कालेज के वातावरण को पृष्ठभूमि बनाकर उसकी अनेक समस्याओ का निरूपण किया है। समाज मे व्याप्त विषमताओ का चित्रण किया है। उपन्यास के चरित्र विकासशील हैं, पात्रो की वैयक्तिकता का हनन नही हुआ है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी शक्ति है घटनाओं के साथ व्यंग्यात्मकता का सफल संयोजन। 'विषाद मठ' की पृष्ठभूमि है बगाल का भीषण दुर्भिक्ष। समाज मे व्याप्त उत्पीडन, विपन्न परवशता का अकन, पात्रों के माध्यम से विषाद की गाढ़ी छाया मे अत्यन्त संवेदनात्मक ढंग से किया गया है।

'मुर्दों का टीला' मे लेखक ने अतीत के पुनर्निर्माण की गाथा प्रस्तुत की है।

उपलब्ध प्रमाणो को आधार बनाकर अतीत का साक्षात्कार करते हुए नये प्रसगो की उद्भावना द्वारा कथा को विश्वसनीय बनाया है। मोहनजोदड़ो की सभ्यता की पृष्ठभूमि मे इतिहास के अज्ञात युग को आलोकित किया है। "लेखक ने अपनी कल्पना से तत्कालीन सभ्यता और सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर श्रेष्ठि मणिबंध, दासी (फिर स्वामिनी) नीलूफर, आमेन-रा, विश्वजित, कलाकार विलिभितूर, उसकी प्रेयसी वीणा, हेका और उसके प्रेमी अपाप, राजकुमारी चन्द्रा का अद्भुत रूप और मानस-सौंदर्य चित्रित किया है। उस काल के सभी सामाजिक सम्बन्ध मुखर हो उठे

हैं।"[1] इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण, देश-काल का अंकन तथा काव्योचित शैली—तीनों का उचित समाहार मिलता है।

'कब तक पुकारूँ' लेखक का आंचलिक उपन्यास है। यद्यपि इसकी रचना 'रेणु' के 'मैला आँचल' के पूर्व हो चुकी थी, परन्तु इसका प्रकाशन बाद में १६५८ में हुआ। रांगेय राघव ने बैर नामक गाँव के खानाबदोश करनटों के जीवन को इस उपन्यास का आधार बनाया है। "इसके कथानक की संरचना चार पीढियों के जीवन के आधार पर की गयी है ताकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से ऐतिहासिकता का बोध कराया जा सके। इसमें मध्यकालीन जीवन का जो सजीव चित्रण उपलब्ध है, वह लेखक के शोध का परिणाम है।"[2] इस उपन्यास के केन्द्रीय पात्र है—सुखराम, प्यारी और कजरी। इसमें करनटो की रस्मों, अंधविश्वासों, लोकगीतों और उनकी सस्कृति का सजीव चित्रण मिलता है। लेखक की प्रगतिशील विचारधारा कभी-कभी उपन्यास के भीतर से उभरती रहती है। आधुनिकता की चुनौती को वह समष्टि के धरातल पर स्वीकारता है। उसके पास सजीव भाषा है, परिवेश-चित्रण में उसकी यह शक्ति एक बड़ा साधन बनकर आती है। कही-कहीं उसका आग्रह इस बृहदाकार उपन्यास की सघनता और तटस्थता की रक्षा नही कर पाता, अनावश्यक चित्रण से उसे बोझिल बना देता है।

ऐतिहासिक आधार लेकर उपन्यास लिखने वाले अन्य मान्य लेखक है—सर्वश्री वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आनन्द प्रकाश जैन आदि।

आलोच्य काल के परवर्ती उपन्यासों में आंचलिक उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित करते और आगे बढाते है। इन उपन्यासों से यथार्थवादी परम्परा मे एक नये अध्याय की सृष्टि होती है। इनमें अंचल-विशेष की राशि-राशि धरती का सारा यथार्थ अपने भास्वर रूपों में साकार हो उठा है। इनको विस्तार की आवश्यकता नही, ये तो यथार्थ चित्रण की ठोस भूमि की अपेक्षा रखते हैं। इनके लिए किसी निश्चित भूभाग (अंचल—जनपद—क्षेत्र) के जीवन की समस्याएँ, दैनंदिन जीवन, प्रकृति, जनता के रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वोलचाल आदि के विभिन्न उपादानों की आवश्यकता है। इसी बिन्दु से ये उपन्यास प्रेमचन्द के उपन्यासो से भिन्न एक नवीन दिशा अपनाते है। प्रेमचन्द के उपन्यासो में चित्रित ग्रामीण जीवन भारतीयता का प्रतिनिधित्व करता है, उनमे विशिष्ट की अपेक्षा सामान्य पर अधिक वल दिया गया है जबकि आंचलिक उपन्यासों मे स्थान-विशेष के समग्र जीवन और उसकी कोटि-कोटि समस्याओं

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास—एक अन्तर्यात्रा, पृ० १८२

२. इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० ७७

को वही के परिवेश मे निरूपित किया गया है। अंचल का समग्र जीवन इनमे प्रतिध्वनित होता है।

आंचलिक उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तरह न तो समग्र जीवन के एक पहलू—आंतरिक पहलू—का चित्रण मिलेगा और न सामाजिक उपन्यासो में चित्रित जीवन के बाह्य (स्थूल) यथार्थ का निरूपण। इनमें समग्र जीवन—आन्तरिक एवं बाह्य—को परस्पर संश्लिष्ट रूप में देखा गया है। इनमें लेखक स्थान की सीमाओ मे आबद्ध गतिशील समय के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलते हुए समस्त आचलिक जीवन की जटिलता को चित्रित करता है जिससे समूचा अंचल और उसमे व्याप्त जीवन अपने अनेक पर्वों, उत्सवों, रीति-रिवाजो, रूढियो, अंधविश्वासो, व्यथाओ, सघर्षों, हासोल्लासो, प्राकृतिक उपादानों, टूटते-स्थापित होते पुराने-नये जीवन-मूल्यो, सामाजिक-धार्मिक व्यवस्थाओ से सम्पृक्त होकर साकार हो उठा है।

आंचलिक उपन्यासो मे प्रकृति-सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया जाता है। जीवन-सदर्भो से जुड़कर वह और भी सार्थक हो जाता है। स्थानीय बोलियो के उचित प्रयोग से लेखक विशिष्ट रेखाकन कर औपन्यासिक कथानक को वास्तविक और यथार्थपरक बना देता है। आंचलिक उपन्यासकारो का प्रतिपाद्य विषय है—देश के किसी अचल—शहरी अथवा ग्रामीण—विशेष को अपने उपन्यासो की पृष्ठभूमि बनाकर उनके बाहरी-भीतरी जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करना। विशेषतया ग्रामीण अविकसित अचल के उपेक्षित जीवन की समस्याओ, विषमताओ, आशा-आकांक्षाओ, गरीबी तथा अशिक्षा, दैन्य-विषाद से उभर कर सामने आने वाली वीभत्स कुरूपताओ के बीच दबी मानवीय संवेदना की छवि को अपनी कुरूपताओ मे रूपायित करने वाले उपन्यासकार हैं—नागार्जुन, फणीश्वरनाथ 'रेणु', उदयशकर भट्ट, रागेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवस्थी तथा रामदरश मिश्र आदि।

नागार्जुन

नागार्जुन का मूल स्वर समाजवादी है। वे अपने उपन्यासो की कथा अंचल-विशेष से लेते हैं; वे अंचल की नही प्रत्युत किसी पात्र की कहानी कहते हैं। उनका उद्देश्य प्रगतिशील परम्परा मे जन-सामान्य—किसान-मजदूर—तथा मध्यवर्गीय प्रगतिशील विचारो के लोगो की आर्थिक विषमता तथा उनके जीवन मे व्याप्त अभावो-संघर्षों का चित्रण करना है। वे इनके माध्यम से भविष्य को उसकी समस्त संभावनाओ के साथ वर्तमान की पृष्ठभूमि पर साकार करने मे सिद्धहस्त हैं।

नागार्जुन के सारे उपन्यासों की कथा मिथिला की भूमि पर आधारित है। 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) मे यदि ग्रामीण जीवन की विषमता सकीर्ण विश्वसनीयता,

स्वार्थ-परायणता की यंत्रणाओं से घिरी विधवा ब्राह्मणी गौरी के दुःखद अन्त का चित्रण है तो 'वलचनमा' (१६५२) मे निम्नवर्गीय उपेक्षित, पीड़ित किसान-पुत्र वलचनमा का। 'नयी पौध' (१६५३) नयी चेतना से परिचालित उपन्यास है; इसमे सडी-गली प्रथा, स्वार्थ-वृत्ति और पुरानी पीढी की शोषक वासना का नग्न चित्र खीचा गया है। 'वावा वटेसरनाथ' (१६५४) मे बूढे बरगद (वृक्ष) से गाँव की पीढ़ी-दर-पीढ़ी की यातना सुनकर जैकिसुन का विद्रोह उफनता है, उसमें नयी व्यवस्था कायम करने की इच्छा जागती है और वह अपने साम्यवादी साथियो के सहयोग से कांग्रेस शासन को समाप्त करता है। उनके अन्य उपन्यास है—'दुःखमोचन' (१६५७) और 'वरुण के वेटे' (१६५७)।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

हिन्दी में सर्वप्रथम किसी अंचल विशेष के उपेक्षित जीवन की समस्त छवि और कुरूपता, सीमा, विवशता और संभावना को मानवीय संवेदनाओं के साथ निरूपित करने वाला उपन्यास 'मैला आँचल' (१६५४) है। वैसे इसके पहले नागार्जुन के कुछ उपन्यास लिखे जा चुके थे किन्तु उनमें आंचलिक जीवन का समग्र और सश्लिष्ट रूप नही उभर पाया था। यही 'रेणु' नागार्जुन से भिन्न दशा अपनाते है। जहाँ नागार्जुन के उपन्यासों में अंचल-विशेष की कथा नही प्रत्युत व्यक्ति-विशेष के जीवन की कथा के रूप मे अंचल का परिवेश निरूपित है; वही रेणु के उपन्यासो मे आंचलिक जीवन अपनी समग्रताओं सहित साकार हो उठा है। 'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले के 'मेरीगंज' गाँव की मैली जिन्दगी की तस्वीर है। इसमें राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति को पूर्णिया के जन-जीवन से सम्पृक्त करके निरूपित किया गया है और उसकी सारी कुरूपताओ के वीच नवीन संभावनाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

लेखक ने 'मैला आँचल' में सांकेतिक व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग किया है और आवश्यकतानुसार प्रकृति और लोकगीतों के संयोग से उसे अत्यन्त प्रभावकारी वना दिया है किन्तु सर्जनात्मक स्तर पर भाषा-प्रयोग की दृष्टि से अभी वह विवादात्मक स्थिति को पार नही कर पाया है। लेखक के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं —'परती परिकथा', 'जुलूस' और 'दीर्घतपा'।

आंचलिक उपन्यासों की परम्परा में अन्य उल्लेख्य कृतियाँ हैं—'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट), 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'हवलदार' (शैलेश मटियानी), 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी) और 'पानी के प्राचीर' (रामदरश मिश्र)।

निष्कर्ष

प्रेमचन्दोत्तर युगीन हिन्दी उपन्यास यथार्थ के धरातल पर दो मूल धाराओं मे

विभाजित-से दिखाई देते हैं जिनमें एक धारा प्रेमचन्द से चलकर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों का सहयोग पा अन्तःसलिला हो जाती है और दूसरी यशपाल, 'अश्क', रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, 'रेणु' और नागार्जुन आदि समाजवादी सामाजिक उपन्यासकारो के योग से जन-गंगा के रूप में प्रवाहित होती है। आधुनिक युग में यथार्थ जीवन के वाहक उपन्यास हैं, अतः युगीन-बोध और जीवन-दृष्टि के अनुकूल दूसरी धारा ही ठहरती है। आज के विषम युग में मात्र व्यक्ति के अवचेतन का विश्लेषण करने के लिए घटनाओं और पात्रों को गड्ड-मड्ड कर देना ही औपन्यासिक कला नही है, प्रत्युत सामाजिक जीवन के विस्तार और उसकी गहराई को समझते हुए उसकी शक्ति को नया स्वर देना है, उसे शिव बनाना है।

उपन्यास की यह सामाजिक संदर्भों से युक्त यथार्थवादी धारा अपने कथ्य एवं शिल्प—दोनो स्तर पर बढ़ रही है, विकसित हो रही है, देश के जन-जीवन को सही रूपों में स्पर्श कर रही है।

—:o:—

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(हिन्दी)

अमृतलाल नागर ··· बूँद और समुद्र
शतरंज की मोहरे
महाकाल
सेठ बाँकेमल
अमृत और विष

अमृत श्रीपाद डांगे ··· जन-जीवन और साहित्य (अध्यक्षीय भाषण)

अर्जुन चौबे काश्यप ··· सामान्य मनोविज्ञान

आचार्य नरेन्द्र देव ··· राष्ट्रीयता और समाजवाद

डॉ० इन्द्रनाथ मदान ··· आज का हिन्दी उपन्यास

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ··· सितारो के खेल
गिरती दीवारे
गर्म राख
शहर मे घूमता आईना

उमेशचन्द्र मिश्र ··· प्रगतिवादी काव्य

डॉ० (श्रीमती) ओम् शुक्ल ··· हिन्दी उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास

डॉ० केसरीनारायण शुक्ल ··· रूसी साहित्य का इतिहास

डॉ० गणेशन् ··· हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

गुलाबराय ··· सिद्धान्त और अध्ययन

डॉ० चडीप्रसाद जोशी ··· हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन

जयशकर 'प्रसाद' ··· ककाल
तितली
काव्य, कला तथा अन्य निवन्ध

डॉ० त्रिभुवन सिह ··· हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

डॉ० देवराज ··· सस्कृति का दार्शनिक विवेचन

डॉ० देवशंकर अवस्थी ··· विवेक के रंग
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (प्र० संपा०)··· हिन्दी साहित्य कोश, भाग १-२
नागार्जुन ··· बलचनमा
बाबा बटेसरनाथ
दुःखमोचन
नेमिचन्द्र जैन ··· अधूरे साक्षात्कार
पैप्सू सरकार ··· श्री यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ (पंजाबी विभाग द्वारा प्रकाशित)
प्रकाशचन्द्र गुप्त ··· आज का हिन्दी साहित्य
प्रेमचन्द ··· सेवासदन
ग़बन
प्रेमाश्रम
कर्मभूमि
रंगभूमि
गोदान
कुछ विचार
फणीश्वरनाथ 'रेणु' ··· मैला आंचल
परती परिकथा
बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १-२
भैरवप्रसाद गुप्त ··· गंगा मैया
सती मैया का चौरा
मन्मथनाथ गुप्त ··· भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास
महेन्द्र चतुर्वेदी ··· हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण
महेन्द्रचन्द्र राय ··· मार्क्सवाद और साहित्य
यशपाल ··· दादा कामरेड
देशद्रोही
दिव्या
पार्टी कामरेड
मनुष्य के रूप

यशपाल ... अमिता
झूठा सच, भाग १-२
बारह घण्टे
अप्सरा का श्राप
पक्का कदम
जुलेखाँ
चलनी मे अमृत
मार्क्सवाद
गांधीवाद की शव-परीक्षा
चीनी कम्युनिस्ट पार्टी
चक्कर क्लब
बात-बात में बात
रामराज्य की कथा
देखा, सोचा, समझा
बीबो जी कहती हैं मेरा चेहरा रोबीला है
सिंहावलोकन, भाग १-२-३
लोहे की दीवार के दोनों ओर
राह बीती
पिंजरे की उड़ान
ज्ञानदान
तर्क का तूफान
भस्मावृत चिनगारी
धर्म युद्ध
सच बोलने की भूल
खच्चर और आदमी

डॉ० रणवीर रांग्रा ... हिन्दी उपन्यास मे चरित्र-चित्रण का विकास

रांगेय राघव ... घरौंदे
विषाद मठ
मुर्दों का टीला
कब तक पुकारूँ

रांगेय राघव ··· प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड
समीक्षा और आदर्श
राजनाथ शर्मा ··· हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
डॉ० रामदरश मिश्र ··· हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा
डॉ० रामप्रसाद त्रिवेदी ··· प्रगतिवादी समीक्षा
डॉ० रामविलास शर्मा ··· प्रगति और परम्परा
भाषा, साहित्य और संस्कृति
प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
भाषा और समाज
राहुल सांकृत्यायन ··· सिंह सेनापति
जय यौधेय
वैज्ञानिक भौतिकवाद
शची रानी गुर्टू (सं०) ··· प्रेमचन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व
डॉ० शशिभूषण सिंहल ··· उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा
डॉ० शिवकुमार मिश्र ··· आधुनिक कविता और युग-दृष्टि
प्रगतिवाद
नया हिन्दी काव्य
वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला
शिवदान सिंह चौहान ··· प्रगतिवाद
आलोचना के सिद्धान्त
डॉ० शुभकार कपूर ··· आचार्य चतुरसेन का कथा-साहित्य
श्यामसुन्दर दास ··· साहित्यालोचन
डॉ० श्रीनारायण अग्निहोत्री ··· हिन्दी उपन्यास साहित्य का शास्त्रीय विवेचन
डॉ० सावित्री सिन्हा ··· युग-चारण दिनकर
डॉ० सुरेश सिन्हा ··· उपन्यास : शिल्प और प्रवृत्तियाँ
हंसराज रहबर ··· प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन
अमृतराय ··· नई समीक्षा

(अंग्रेजी)

Annandale ... ... English Dictionary
Cazamian & Legouis ... A History of English Literature
Cazamian & Legouis ... A History of French Literature
C. E. M. Joad ... ... Guide to Modern Thought
Christopher Caudwell ... Illusion and Reality
Clemens Dutt ... ... Fundamentals of Marxism-Leninism
D. R. Gadgil ... ... Industrial Evolution of India
Engels ... ... Anti-Duhring
Engels ... ... Ludwig Feurbach
George Lukacs ... ... Study in European Realism
Howard Fast ... ... Literature and Reality
Jawaharlal Nehru ... ... Discovery of India
John Gunter ... ... Inside Asia
J. Stalin ... ... Dialectical & Historical Materialism
John Somervilles ... ... Soviet Philosophy
John Strachey ... .. The Coming Struggle for Power
K. Marx & Engels ... ... The Communist Manifesto
K. Marx ... ... A Critique of Political Economy
K. Marx ... ... Das Capital, Vol. I
K. Marx ... ... The Paris Commune
K. Marx ... ... The Poverty of Philosophy
Lajpatrai ... ... Unhappy India
Louis Haras ... ... Social Roots of Arts
Mao Tse-tung ... ... Problems of Arts & Literature
Maurice Cornforth ... Dialectical Materialism, 3 Vols.
Miokail Litshitz ... ... Literature & Marxism
N. Bukharin ... ... Historical Materialism

N. S. Khrushchev ... ... Summary of Speeches
P. A. Wadia &
K. T. Merchant ... ... Our Economic Problem
Prince D. S. Mirsky ... Contemporary Russian Literature (1881 to 1925)
Prince D. S. Mirsky ... A History of Russian Literature (upto 1881)
Rajani Palmedutt ... ... India Today
Ralph Fox ... ... The Novel and the People
Rass ... ... Educational Psychology
T. A. Jackson ... ... Dialectics
V. Afanasyev ... ... Marxist Philosophy
V. Afanasyev ... ... Scientific Communism
Vera Anstey ... ... The Economic Development of India
Walter L. Myers ... ... The Later Realism
Walter L. Myers ... ... Selected |Works of Mao Tse-tung, Vols. 1, 2, 3
G. V. Plekhanov ... ... Art & Social Life

पत्र-पत्रिकाएं

कल्पना	··· जनवरी, १९५८
आलोचना	··· उपन्यास विशेषांक
सारिका	··· सितम्बर, १९६२
रूपलेखा	··· अक्तूबर-नवम्बर, १९६२
माध्यम	··· नवम्बर, १९६८
हंस	··· प्रेमचन्द अंक
हंस	··· जनवरी, १९३६
हंस	··· अक्तूबर, १९४४
हंस	··· मई, १९५१
हंस	··· प्रगति अंक
नया पथ, विप्लव	··· अनेक अंक, जिनका यथास्थान उल्लेख है ।

—:०:—